वाचस्पति मिश्र

द्वारा

बौद्ध-दर्शन का विवेचन

संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्



डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र



वाचस्पति मिश्र

द्वारा

बौद्ध-दर्शन का विवेचन

[EXPOSITION OF BUDDHIST PHILOSOPHY BY VĀCASPATIMIŚRA]

डॉ० श्रीनिवास शास्त्री

एम०ए०, पी-एच०डी०

संस्कृत-विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र



कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

१९६८

प्रकाशक :
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)।

प्रथम संस्करण

मूल्य :

मुद्रक :
श्री टी० फिलिप, मैनेजर,
कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी प्रेस,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)।

तथ्य-निरूपण के धनी

वाचस्पति मिश्र

की

पुण्य-स्मृति में

सादर समर्पित

संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम् ।

वाचस्पति मिश्र, न्या० वा० ता०, पृ० ३६६ ।

"किसी तथ्य के निर्णय में भगवती प्रतीति ही हमारा आधार है।"

प्रस्तावना

डा० श्रीनिवास शास्त्री द्वारा लिखा गया ग्रन्थ—वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन—एक आलोचनात्मक निबन्ध है, जिसके द्वारा भारतीय दर्शन के साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इसके द्वारा बौद्ध दर्शन के स्वरूप को समझने में बहुत अमूल्य सहायता मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय दर्शन के व्याख्याकारों में वाचस्पति मिश्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, कदाचित् सर्वोपरि, स्थान है। भारतीय दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों के उद्‌भावक शङ्कर, कुमारिल, प्रभाकर, मण्डन मिश्र, ईश्वरकृष्ण, व्यास, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद आदि की श्रेणी में उनकी गणना न की जाय तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि अपनी टीकाओं के द्वारा दर्शन शास्त्र के दुरूह सिद्धान्तों के समझाने और उनका स्वरूप-स्थापन करने में उनका अद्वितीय स्थान है, और उस दृष्टि से भारतीय दर्शन शास्त्र के लिये उनकी देन कदाचित् मूल सिद्धान्तों के प्रवर्तकों से भी बढकर है। वैदिक दर्शनों में कोई भी ऐसा सम्प्रदाय नहीं है जिसके सिद्धान्तों का अपनी टीकाओं द्वारा विशदीकरण ही नहीं प्रत्युत स्वरूप-निर्धारण वाचस्पति मिश्र ने न किया हो*।

कट्टर वैदिक होने के कारण उन्होंने वैदिकेतर जैन बौद्ध आदि दर्शनों के ग्रन्थों पर कोई टीका नहीं लिखी। परन्तु जहाँ तक बौद्ध दर्शन का प्रश्न है, उन्होंने उसके खण्डन करने के प्रसङ्ग में जो बौद्ध-सिद्धान्तों का निरूपण किया है, वह इतना स्पष्ट है कि कदाचित् बौद्ध लेखकों के द्वारा भी उनके अपने सिद्धान्तों का उतना अच्छा विशदीकरण नहीं हुआ। वाचस्पति मिश्र के विषय में एक विशेष बात यह है कि जिस समय वे जिस दर्शन पर टीका लिखते हैं उसके सिद्धान्तों का वे इतना जोरदार समर्थन करते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानों वे उसी दर्शन के मानने वाले हों। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि वे जिस प्रतिपक्षी का खण्डन करते हैं उसके सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष के रूप में वे इतना अच्छा निरूपण करते हैं जो कदाचित् उस सिद्धान्त का मानने वाला भी न कर सके। विद्या और विज्ञान के क्षेत्र में वाचस्पति मिश्र की यह सत्यनिष्ठा प्रत्येक आलोचक के लिये दृष्टान्त के रूप में है।

बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त इतने दुरूह हैं कि पिछले १०० वर्षों से अधिक काल में अनेक महान् आलोचकों और विचारकों द्वारा उनका प्रकाश होने पर भी अभी तक उनका यथार्थ स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका है। श्चेरबात्स्की जैसे रूसी विद्वान ने बौद्ध सिद्धान्तों की साधना में अपना सम्पूर्ण जीवन ही अर्पण कर दिया। इधर पिछले २०, २५ वर्षों के भीतर अनेक भारतीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, परन्तु अभी भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ करना शेष है।

---

* इस प्रस्तावना के लेखक ने अपने ग्रन्थ Critique of Indian Realism का वाचस्पति मिश्र को समर्पण करते हुए उनके विषय में लिखा है—

श्री वाचस्पतिमिश्रेण सर्वशास्त्रार्थदर्शिना।
टीकादीपैः समस्ताऽपि द्योतिता तर्कभारती।

इस परिस्थिति में डा० श्रीनिवास शास्त्री का यह ग्रन्थ कितना महत्त्व रखता है यह स्पष्ट है। वाचस्पति मिश्र के सारे ग्रन्थों में विशेषकर भामती और न्यायवार्त्तिक तात्पर्य-टीका में जगह २ बौद्ध दर्शन का विवेचन बिखरा पड़ा है, उस सब को प्रत्येक सिद्धान्त के अनुसार एक जगह एकत्र कर देना लेखक की असाधारण योग्यता का परिचायक है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर लेखक की आलोचनात्मक और विवेचनात्मक शक्ति का परिचय मिलता है।

इस ग्रन्थ के द्वारा बौद्धदर्शन के अनेक सिद्धान्तों का स्वरूप अधिक विशद और स्पष्ट हो गया है; उदाहरणार्थ वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर यह विवेचना की गई है कि जहां दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्यक्ष-स्थल में 'स्वलक्षण' का साक्षात् ग्रहण 'निर्विकल्पक' के द्वारा होता है और उसके पश्चात् 'सामान्यलक्षण' का 'अध्यवसाय' के द्वारा ज्ञान होता है, वहां अनुमान-स्थल में ठीक इससे विपरीत प्रक्रिया होती है, अर्थात् 'सामान्यलक्षण' का तो ग्रहण होता है और 'स्वलक्षण' का उसके बाद अध्यवसाय होता है। यह बात इतने स्पष्ट रूप में वाचस्पति मिश्र के लेख द्वारा इस प्रस्तुत ग्रन्थ में ही स्पष्ट हो सकी है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों के विवेचन के विषय में वाचस्पति मिश्र के योग-दान का जो निरूपण लेखक के द्वारा उपसंहार के अध्याय में किया गया है, वह बहुत ही तथ्य-पूर्ण है। ग्रन्थ के अन्त में बौद्ध दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का संक्षिप्त विवेचन भी बहुत ही लाभदायक और ग्रन्थकार की बौद्धदर्शन की मर्मज्ञता का परिचायक है।

आशा है कि भारतीय दर्शन के साहित्य में यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण योगदान देगा।

कपिलवस्तु
मेरठ
२८।८।६८

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

प्राक्कथन

मातः सरस्वति पुनः पुनरेष नत्वा
बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि ।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना
वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते ॥[1]

भारतीय दार्शनिक तत्त्वों के विकास में वैदिक-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन के संघर्ष ने महान् योग दिया है। इस संघर्ष में भाग लेने वाले आचार्यों तथा विद्वानों में वाचस्पति मिश्र का स्थान एक प्रकार से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने समस्त वैदिक-दर्शनों के प्रतिनिधि आचार्य के रूप में उनके मन्तव्यों का समर्थन किया है। साथ ही खण्डन करने से पूर्व बौद्धों के दार्शनिक मन्तव्यों को अत्यन्त स्पष्ट एवं विशद रूप में प्रस्तुत किया है। प्रतिपक्षी के सिद्धान्त को निष्पक्षता से युक्तिसहित यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना वाचस्पति मिश्र की एक निजी विशेषता है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं बौद्धों ने भी अपने दार्शनिक मन्तव्यों को ऐसे मार्मिक ढंग से प्रस्तुत नहीं किया, जैसा वाचस्पति मिश्र ने। अतः वैदिक-दर्शन के समान ही बौद्ध-दर्शन के विकास एवं साहित्य को समझने के लिये भी वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ सर्वोपरि प्रामाणिक कहे जा सकते हैं। किन्तु उन ग्रन्थों में बौद्ध-दर्शन-विषयक सामग्री इतस्ततः विकीर्ण है। उस सामग्री को संकलित करके वाचस्पति मिश्र के बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी विवेचन का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अनुशीलन करना ही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।

यद्यपि सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने यत्र-तत्र उपलब्ध दिग्नाग के उद्धरणों की तिब्बती प्रमाण-समुच्चय के अंशों के साथ समानता दिखलाई है[2], रेन्डिल ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में इतस्ततः विकीर्ण दिग्नाग की कतिपय उक्तियों का विवेचन किया है[3], श्चेरबात्स्की ने वाचस्पति मिश्र के बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी अनेक अवतरणों का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया है[4]; तथापि उपर्युक्त प्रयत्नों में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर बौद्ध-दर्शन के व्यवस्थित विवेचन की चेष्टा नहीं की गई। इस प्रकार की व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रचना का कोई प्रारम्भिक प्रयास भी दृष्टिगोचर नहीं होता। भारतीय-दर्शन-विषयक प्रस्तुत ग्रन्थ इस दृष्टि से एक मौलिक प्रयास कहा जा सकता है।

यह ग्रन्थ जो इस समय 'वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन' नाम से प्रकाशित किया जा रहा है, आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये

---

१. हे मातः, सरस्वति, मैं बार-बार प्रणाम करके हाथ जोड़कर कुछ निवेदन करता हूँ। कृपया आप ध्यान दीजिये और मेरे मन तथा वाणी में ऐसी सावधान रहिये कि ये (मन और वाणी) वाचस्पति के वचनों में किसी प्रकार का स्खलन (slipping) न करें—उनके वचनों के तात्पर्य से दूर न चले जायें (तात्पर्यानुपदर्शके न भवतः, परिशुद्धि-प्रकाश)—उदयनाचार्य तात्पर्यपरिशुद्धि, मङ्गलश्लोक।

२. History of Indian Logic (H I L.).

३. Fragments from Dinnāga (F F D.).

४. Buddhist Logic, Vol. II. Appendix.

स्वीकृत "वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दार्शनिक सम्प्रदायों का निरूपण" नामक शोध-प्रबन्ध का यत्किञ्चित् परिवर्तित रूप है।

आज से १५ वर्ष पूर्व अपने अध्यापक डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री से मुझे इस कार्य की प्रेरणा मिली थी। एतदर्थ वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों का अध्ययन करना परम आवश्यक था, विशेषकर इनके बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी अंशों का। किन्तु इनके बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी स्थल अत्यन्त गहन एवं दुरूह हैं। यह कठिनाई इसलिये और भी अधिक बढ़ जाती है कि संस्कृत के दार्शनिक ग्रंथों के शुद्ध संस्करणों का प्रायः अभाव है। इन बाधाओं को दूर करने में अभिधर्मकोश, न्यायबिन्दु एवं न्यायबिन्दुटीका, प्रमाणवार्त्तिक, मोक्षाकरगुप्त की तर्कभाषा तथा सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स आदि ग्रन्थों के तत्सम्बन्धी अंशों के अनुशीलन से अत्यधिक सहायता मिली। न्यायमञ्जरी जैसे ग्रन्थों के प्रसादमय विशद विवेचन ने भी अनेक गुत्थियों को सुलझाया। आधुनिक बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी विवेचनों के अध्ययन से ये स्थल अधिक बोधगम्य हो गये। उदाहरणार्थ —श्चेरबात्स्की, सत्करी मुखर्जी, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, दास गुप्ता, एच० एन० रेण्डिल, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पं० गोपीनाथ कविराज, यदुनाथ सिन्हा, टी० आर० वी० मूर्त्ति आदि के विवेचनों से अभिमत स्थलों को समझने में पर्याप्त सहायता मिली। श्चेरबात्स्की के विस्तृत अनुवादों तथा धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के शोध-प्रबन्ध में स्थित अनुवादों एवं टिप्पणियों ने भी अनेक स्थानों पर भटकते-भटकते मार्ग दिखलाया। साथ ही आदरणीय निर्देशक महोदय के साथ किसी विषय की चर्चा करके उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया।[५]

इस कार्य में एक भाषा-सम्बन्धी कठिनाई भी रही। संस्कृत के दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों में एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है। उनके अवतरणों का हिन्दी में रूपान्तर करते समय कभी भाव की अस्पष्टता की आशंका रहती है, कभी दर्शन-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरण की आकांक्षा बनी रहती है। इन बाधाओं को दूर करने लिये कहीं मुक्त अनुवाद का सहारा लिया गया है, कहीं शब्दशः अनुवाद करके स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के अन्त (परिशिष्ट क) में पारिभाषिक शब्दों का विवरण भी जोड़ दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ वाचस्पति मिश्र के महान् कार्य की एक झलक दिखलाने वाला है। इसमें १२ परिच्छेद हैं, जिन्हें विषय-विवेचन की दृष्टि से इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है :—

परिच्छेद १	वाचस्पति मिश्र का व्यक्तित्व तथा कृतियाँ
परिच्छेद २,३,४	बौद्ध-दार्शनिक सम्प्रदायों का विवेचन
परिच्छेद ५,६,७	बौद्ध-दर्शन का प्रमाण-विवेचन
परिच्छेद ८,९,१०,११	बौद्ध-दर्शन के विशिष्ट मन्तव्य [क्षणिकवाद (प्रतीत्य-समुत्पाद), अपोहवाद, अनात्मवाद, निर्वाण]
परिच्छेद १२	बौद्ध-दर्शन के अध्ययन में वाचस्पति मिश्र के कार्य का मूल्याङ्कन (उपसंहार)।

इस प्रकार यहाँ वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में बिखरी हुई बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी सामग्री का संकलन तथा वर्गीकरण करके बौद्ध-दर्शन की एक व्यवस्थित एवं सुश्लिष्ट रूपरेखा

५. वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।

प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । यत्र-तत्र वाचस्पति मिश्र के बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी निरूपण का बौद्ध दर्शन के आकर ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है । आवश्यकतानुसार आधुनिक विवेचकों के दृष्टिकोण की समीक्षा भी की गई है । साथ ही कतिपय तथ्यों पर नवीन रूप से प्रकाश डाला गया है[६], जैसे :—

(१) वाचस्पति मिश्र के धार्मिक एवं दार्शनिक मन्तव्य, बौद्ध-दर्शन तथा बौद्ध आचार्यों के प्रति दृष्टिकोण ।

(२) वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों का सर्वास्तिवाद में समावेश तथा दिग्नाग सम्प्रदाय के सौत्रान्तिक होने के विषय में विवेचनात्मक समीक्षा ।

(३) प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों के विविध (बौद्धाचार्यों के) लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन; उनके ग्राह्य एवं अध्यवसेय दो प्रकार के विषय तथा ग्राह्य-विषय में ही प्रमाण-व्यवस्था का निरूपण ।

(४) अनुमान के ग्राह्य विषय की अनेक दृष्टिकोणों से मीमांसा ।

(५) क्षण तथा क्षणिकता का स्वरूप; उपसर्पण प्रत्यय तथा सहकारी प्रत्यय आदि का स्वरूप तथा एक दूसरे से अन्तर ।

(६) व्यक्तियों में जाति की स्थिति-सम्बन्धी दो मत क्रमशः वैशेषिक और न्याय सम्प्रदाय के हैं, इस विषय में वाचस्पति मिश्र की नवीन उद्भावना है ।

(७) अनात्मवाद में स्मृति, जन्म-मरण-व्यवस्था तथा निर्वाण ।

(८) बौद्ध-दर्शन के अनुसार सर्वज्ञ का स्वरूप आदि ।

इस अध्ययन में विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण रक्खा गया है । उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो तथ्य विदित हो सके हैं उनको किसी पूर्व धारणा के बिना प्रकट करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की प्रवृत्ति अपनाई गई है । फिर भी लेखनी-स्खलन हो जाना सम्भव ही है । तदर्थ सहृदय विद्वानों का प्रसाद वाञ्छनीय है । तभी यह ग्रन्थ भारतीय-दर्शन, विशेषकर बौद्ध-दर्शन, के अग्रिम अध्ययन में रुचि रखने वालों के लिये पूर्णतया उपयोगी सिद्ध हो सकेगा ।

अन्त में, उन सभी सुहृद् जनों, दार्शनिकों तथा आचार्यों का मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ जिनसे इस कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सहायता मिली है । अपने परमपूज्य गुरुवर डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तो मुझ अकिञ्चन की शक्ति से बाहर है जिनकी प्रेरणा एवं निर्देशन से ही यह कार्य पूर्ण किया जा सका है ।

साथ ही, विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग; आगरा विश्वविद्यालय; कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय के कुलपति महानुभावों, रजिस्ट्रार महोदयों एवं उनके सहयोगियों तथा संस्कृत-विभाग के अध्यक्षमहानुभावों के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ और हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय-प्रेस के अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता हूं । वस्तुतः इन सभी महानुभावों के अनुग्रह एवं सहयोग से यह ग्रन्थ प्रकाश में आ पाया है ।

—लेखक

———

६. आगे प्रस्तुत विषयों का सन्दर्भ अनुक्रमणिका में दिया गया है ।

विषय-सूची

कतिपय प्रयुक्त संकेत

अनु०	अनुच्छेद
अभि०, अभिधर्म०	अभिधर्मकोश
अभि० ना०	अभिधर्मकोश-नालन्दिका टीका
न्या० वा०	न्यायवार्त्तिक
न्या० वा० ता० (तात्पर्यटीका)	न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका
न्याय-भाष्य	न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य
न्या०-वैशे० (न्या० वै०)	न्याय-वैशेषिक (सम्मिलित सम्प्रदाय)
न्या० सू० नि०	न्यायसूचीनिबन्ध
परि०	परिच्छेद
प्र० वा०	प्रमाणवार्त्तिक
प्र० वा० (मनो०)	प्रमाणवार्त्तिक मनोरथनन्दिवृत्ति
प्र० वा० कर्णगोमि	प्रमाणवार्त्तिक कर्णगोमिटीका
ब्र० सू० शा० भाष्य	ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य (शांकरभाष्य)
(मो०) तर्कभाषा	मोक्षाकर गुप्त, तर्कभाषा
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
योगभाष्य (व्यासभाष्य)	योगसूत्र, व्यासभाष्य
वि० व्या० (विग्रह०) का०	विग्रहव्यावर्त्तनी कारिका
विग्रह० वृत्ति	विग्रहव्यावर्त्तनीवृत्ति
स्फुटार्था०	स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या
BL.	Buddhist Logic
CCB.	Central Conception of Buddhism.
FFD.	Fragments from Diṅnāga.
HIL.	History of Indian Logic.
HIP.	History of Indian philosophy.
JAOS.	Journal of American Oriental Society.
SSB.	Sarasvati Bhavan Studies.
V.S. Apte	The students Sanskrit-English Dictionary. By Vaman Shivram Apte.

———

परिच्छेद १

वाचस्पति मिश्र का व्यक्तित्व तथा कृतियाँ

१. वाचस्पति मिश्र की तिथि

वाचस्पति मिश्र का उदय भारतीय दर्शन के संघर्ष और विकास के युग में हुआ था। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का प्रारम्भिक युग सूत्रों और भाष्यों का युग था। दिग्नाग के प्रादुर्भाव (पंचम शताब्दी) तक यह युग चलता रहा। दिग्नाग के उदय के पश्चात् न्याय-वैशेषिक का बौद्धों के साथ महान् संघर्ष हुआ। यह न्याय-वैशेषिक के विकास का युग था। इसी युग में वाचस्पति मिश्र का आविर्भाव हुआ। यह युग (५वीं से ११वीं शताब्दी तक) भारतीय-दर्शन का स्वर्ण युग है और वाचस्पति मिश्र इसके जाज्वल्यमान रत्न हैं[1]।

जहाँ अनेक विद्वानों और आचार्यों के काल के विषय में अनुमान तथा अटकलों का ही सहारा लेना पड़ता है, वहाँ वाचस्पति मिश्र की लोक-विश्रुत कृतियों के समान उनकी तिथि भी स्पष्ट रूप से विदित ही है। सौभाग्य से वाचस्पति मिश्र ने अपने 'न्यायसूची-निबन्ध' नामक ग्रन्थ के अन्त में इसकी समाप्ति की तिथि इस प्रकार दे दी है—

> न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
> श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे[2]॥

"श्री वाचस्पति मिश्र ने वसु (८) अंक (९) वसु (८) अर्थात् ८९८ संवत् में बुद्धिमानों के मोद के लिए यह 'न्यायसूचीनिबन्ध' (न्याय सूत्रों की प्रकरणों में व्यवस्थित सूची) रचा।"

वाचस्पति मिश्र का समय ८९८ संवत् के लगभग है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु प्रश्न यह है कि जिस संवत् का यहाँ उल्लेख किया गया है, यह संवत् विक्रमीय संवत् है या शकसंवत्?

विद्वानों ने इस पर विस्तार से विचार करके यही निर्णय किया है कि वाचस्पति मिश्र द्वारा दिया हुआ यह संवत् अवश्य विक्रमीय वत्सर है। संक्षेप में उन युक्तियों का सार यह है—

यदि वाचस्पति मिश्र के इस संवत् को शक संवत् माना जाये तो ८९८ शक संवत् ईस्वी सन् की गणना के अनुसार ९७६ होगा जो कि उचित नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि उदयनाचार्य ने वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका पर 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि'

---

१. मि०, Shastri D. N.: Critique of Indian Realism. p. 95.

२. न्या० सू० नि०, समाप्तिश्लोक।

नामक टीका लिखी है और उदयनाचार्य का समय निश्चित रूप से ९०६ शक संवत् अर्थात् ९८४ ई० सन् है, जैसा कि उदयनाचार्य ने लक्षणावली नाम के ग्रन्थ के अन्त में स्वयं ही लिखा है[३]। उदयनाचार्य और वाचस्पति मिश्र के मध्य पर्याप्त समय होना आवश्यक है। अतः गंगाधर शास्त्री ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के उपोद्घात में ग्राह्य युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र द्वारा दिया हुआ यह संवत् (८९८) विक्रमीय संवत् है जो ८४१ ई० संवत् होगा[४]।

वाचस्पति मिश्र के समय आदि पर प्रकाश डालने वाला एक अन्य संकेत भी उनके ग्रन्थों में उपलब्ध है। उन्होंने भामती टीका के अन्त में लिखा है कि 'यह निबन्ध उस समय लिखा गया जब राजा नृग[५] राज्य करते थे। नृगनरेश के विषय में अनेक आख्यान संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होते हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व अध्याय ७० में नृगनरेश का उपाख्यान है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी नृगनरेश का आख्यान है। महाभारत तथा श्रीमद्भागवत के नृग नृप का वाचस्पति मिश्र से सम्बन्ध जोड़ना किसी प्रकार भी संभव नहीं प्रतीत होता। एक अर्वाचीन नृग का भी शाङ्गंधरपद्धति नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। सम्भवतः वाचस्पति मिश्र इन्हीं नृगराज के शासन काल में विद्यमान थे[६]। किन्तु आज तक इतिहासकार यह नहीं निश्चित कर पाये कि नृग नाम का राजा कब और कहाँ शासन करता था[७]। नृग भूपति की ऐतिहासिक गवेषणाओं से वाचस्पति मिश्र की जीवनी आदि पर भी कुछ प्रकाश अवश्य पड़ सकेगा यह आशा है।

इसके अतिरिक्त बाह्य प्रमाणों के आधार पर भी वाचस्पति मिश्र के समय पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र के विधि-विवेक पर 'न्यायकणिका' नाम की व्याख्या की है। साथ ही जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका पर उदयनाचार्य ने व्याख्या लिखी है। इससे यह परिणाम निकलता है कि वाचस्पति मिश्र के समय की पूर्व सीमा मण्डन मिश्र हैं और अपर सीमा उदयनाचार्य। डा० दास गुप्ता[८] ने मण्डन मिश्र का समय ८०० ई० के लगभग निर्धारित किया है और उदयनाचार्य का समय ९८४ ई० सन् है। यदि वाचस्पति मिश्र का समय ८४१ ई० संवत् माना जाता है तो एक शंका अवश्य होती है कि मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र के बीच लगभग ४० वर्ष का अन्तर रहता है, तब क्या इतने समय में मण्डन मिश्र की कृतियाँ इतनी प्रसिद्ध, प्राप्य तथा महत्त्वपूर्ण हो चुकी थीं कि वाचस्पति मिश्र उन पर अपनी व्याख्या कर सके ? ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डन मिश्र जैसे शास्त्रार्थ में निपुण लोक-विख्यात

---

३. तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥
'बाईं ओर को अंक गिने जाते हैं' (अङ्कानां वामतो गतिः) इस न्याय से अंक (९) अम्बर (०) और तर्क (६) ९०६ शक संवत् यहाँ दिया गया है।

४. मि०, Randle H.N. : Indian logic in the Early Schools. p. 39 fn. 1.

५. तस्मिन् महीपे महनीयकीर्त्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः। भामती, समाप्ति श्लोक ६।

६. मि०, म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद, न्या० वा० (भूमिका), पृ० ८८।

७. मि०, Das Gupta, S.N. : HIP. Vol. II, p. 107.

८. Das Gupta, S.N. : HIP. Vol. II, p. 87.

विद्वान् के लिये अल्पकाल में ही ऐसी ख्याति प्राप्त कर लेना कठिन नहीं था । बौद्धों से संघर्ष के युग में ऐसे आचार्य को अपने जीवनकाल में अवश्य ही ऐसी ख्याति प्राप्त हो चुकी होगी । अतः उनकी रचनाओं पर टीका लिखना संभव और आवश्यक भी हो गया होगा । यह भी संभव है कि गवेषणा के आधार पर मण्डन मिश्र का समय और भी पहले निर्धारित किया जा सके ।

२. वाचस्पति मिश्र का जीवनवृत्त तथा स्थान

जीवन सम्बन्धी किंवदन्तियाँ—वाचस्पति मिश्र का जीवन-वृत्त विशेष प्रकाश में नहीं आया केवल कुछ किंवदन्तियाँ ही इस विषय में प्रचलित हैं । उनके जन्म के विषय में माधवाचार्य ने शंकरविजय[९] (शङ्करदिग्विजय) नामक ग्रन्थ में एक अलौकिक घटना का वर्णन किया है जिस पर विचार करना यहाँ अनावश्यक ही है ।

वाचस्पति मिश्र का विद्या-व्यसन विशेषरूप से विश्रुत है। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे एक बड़े विरक्त और सच्चे दार्शनिक विद्वान् थे। विवाहित होते हुए भी वे सदा गृहस्थ धर्म से पराङ्मुख रहे और अनवरतरूप से गम्भीर मनन और दार्शनिक साहित्य की सृष्टि में प्रयत्नशील रहे। वृद्धावस्था के आने तक उनके कोई सन्तान नहीं हुई तो एक दिन उनकी पत्नी ने दुःखी होकर वंश की रक्षा और नाम चलाने की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान दिलाया। इस पर उन्होंने कहा—पुत्र के होने पर भी तुम्हारा नाम और वंश चलता रहे इसका क्या ठिकाना ।...... तुम्हारे नाम को अमर करने के लिए मैं अपनी सर्वोत्तम कृति वेदान्त-भाष्य की टीका का नाम तुम्हारे नाम पर रखे देता हूँ। तुम्हारा पुत्र संभव है एक या दो पीढ़ी तुम्हारा नाम चलाता परन्तु अब तुम्हारा नाम सदा के लिए अमर हो जायगा ।[१०]

कहा जाता है कि वेदान्त-दर्शन के शांकर भाष्य की व्याख्या का नाम 'भामती' इसी आधार पर रक्खा गया है। कुछ विवेचकों का विचार है कि वाचस्पति मिश्र की कन्या का नाम भामती था उसके नाम पर ही इस टीका का नाम रक्खा गया है । अन्यों का मत है कि नैपाल प्रदेश के भाभा नामक ग्राम में वास करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भामती नामक ग्रन्थ लिखा था इसी हेतु इसका यह नामकरण किया गया था ।[११]

निवास-स्थान—वाचस्पति मिश्र ने किस प्रान्त या प्रदेश को अलंकृत किया था इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध होते, किन्तु उनके मिश्रशब्दान्त नाम से यह अनुमान किया जाता है कि वे अवश्य ही मिथिलावासी रहे होंगे । मण्डन मिश्र मुरारि मिश्र तथा पार्थसारथि मिश्र इत्यादि अनेक मिथिलावासी विद्वान् मिश्र शब्दान्त नामों से लोक-प्रसिद्ध ही हैं ।

---

९. माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के लिए 'शंकरविजय' तथा शंकरदिग्विजय' दोनों नामों का प्रयोग किया जाता है ।

१०. मि०, आ० विश्वेश्वर, तर्कभाषाभूमिका, पृ० ३२ ।

११. न्या० वा० (भूमिका), पृ० १४३, पादटिप्पणी २ ।

जिस प्रकार नृग नरेश के समय का निर्णय वाचस्पति मिश्र के समय-निर्धारण में सहायक हो सकता है, इसी प्रकार नृग नरेश किस प्रदेश में राज्य करते थे ? इस गवेषणा द्वारा वाचस्पति मिश्र के निवास स्थान पर प्रकाश पड़ सकता है। भामती टीका के अन्तिम श्लोकों में वाचस्पति मिश्र ने नृग नृपति का प्रशंसात्मक परिचय दिया है— "नृग नृपति ने भ्रू-निक्षेप मात्र से ही ऐसी कीर्त्ति का प्रसार किया था, जिसे अन्य नरेश मन से भी कल्पित नहीं कर सकते। उन्होंने निरन्तर स्वर्ण-वितरण से जन समूह की आकांक्षाओं को पूर्ण किया था और वे शास्त्रों में पारङ्गत थे। अन्य नृपतिगण भी उनके चरित्र का अनुसरण करना चाहते थे किन्तु न कर पाते थे। ऐसे महनीय कीर्त्ति वाले राजा नृग के समय में भामती नामक व्याख्या लिखी गई थी।"[१२] इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र को जिस नृग नरेश का आश्रय प्राप्त हुआ था वह नृग नरेश अवश्य ही विक्रमादित्य या भोजराज के समान कोई लोकविश्रुत राजा हुआ होगा, जिसने ऐसे महान् दार्शनिक को आश्रय दिया होगा। किन्तु इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं उपलब्ध होता।

श्चेरबात्स्की का कथन है कि वाचस्पति मिश्र उत्तरी भारत (दरभंगा) के निवासी थे और वे नैपाल के राजा की राज-सभा में रहते थे।[१३]

३. वाचस्पति मिश्र के गुरु

वाचस्पति मिश्र ने किस विद्यापारङ्गत गुरु से दीक्षा प्राप्त की थी, इस प्रसंग में कई नाम प्रस्तुत किये जाते हैं। कुछ विद्वानों की कल्पना है कि मार्तण्डतिलकस्वामी उनके गुरु रहे होंगे।[१४] उनकी इस धारणा का आधार भामतीटीका का चतुर्थ मंगल श्लोक है। जो इस प्रकार है—

मार्तण्डतिलकस्वामिमहागणपतीन् वयम्।
विश्ववन्द्यान् नमस्यामः सर्वसिद्धिविधायिनः॥

वस्तुतः यहाँ 'मार्तण्डतिलकस्वामी' किसी गुरु का नाम नहीं अपि तु देवविशेष के लिए यह शब्द आया है। इस श्लोक में मार्तण्ड (आदित्य), तिलकस्वामी (तिलकप्रिय :— स्वामी तिलकस्वामी, वेदान्तकल्पतरु) तथा महागणपति की स्तुति की गई है। भामती की व्याख्या वेदान्तकल्पतरु में यह भी बतलाया गया है कि याज्ञवल्क्य स्मृति[१५] के आधार पर ये तीनों देव सिद्धिदायक माने गये हैं। अतः यह स्पष्ट ही है कि इस शब्द द्वारा वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु का उल्लेख नहीं किया।

---

१२. नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम्।
कार्त्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च॥
नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्त्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः॥

१३. BL. Vol. II. p. 257, fn. 1.

१४. मि०, Das Gupta, HIP. Vol. II. p. 107.

१५. मार्तण्डस्य सदा पूजां तिलकस्वामिनस्तथा।
महागणपतेश्चैव कुर्वन् सिद्धिमवाप्नुयात्॥ याज्ञ०, अ० १-२९४।

आन्तरिक तथा वाह्‌य साक्ष्य से यह विदित होता है कि वाचस्पति मिश्र के विद्यागुरु त्रिलोचन थे। न्यायसूत्र में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दो प्रकार के प्रत्यक्ष का शब्दों द्वारा ही उल्लेख किया गया है—यह बतलाते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि त्रिलोचन गुरु द्वारा उद्‌घाटित मार्ग का अनुसरण करके हमने ऐसी व्याख्या की है, यद्यपि भाष्य तथा वार्त्तिक में ऐसी व्याख्या नहीं की गई[१६]। यहाँ पर वर्धमानाचार्य ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि 'त्रिलोचन' टीकाकार (वाचस्पति मिश्र) के विद्यागुरु थे[१७]।

रेन्डिल का कथन है कि त्रिलोचन न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के उच्चकोटि के व्याख्याता रहे होंगे। उनका समय ८०० ई० के लगभग होगा[१८]। त्रिलोचन का उल्लेख कई दार्शनिक ग्रन्थों में मिलता है किन्तु उनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। 'तार्किकरक्षा' में दो स्थलों पर त्रिलोचन का उल्लेख किया गया हैं[१९]। रत्नकीर्त्ति ने अपोहसिद्धि तथा क्षणभङ्गसिद्धि में त्रिलोचन की आलोचना की है[२०]। बौद्धाचार्य मोक्षाकर गुप्त ने त्रिलोचन का दो स्थानों पर उल्लेख किया है[२१]। डा० गोपीनाथ कविराज ने ठीक ही कहा है कि उदयन हमें बतलाते हैं कि उद्योतकर के ग्रन्थ के पुनरुद्धार कार्य में वाचस्पति (अपने विद्यागुरु) त्रिलोचन के आभारी हैं[२२]। 'उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्'—वाचस्पति मिश्र की इस उक्ति की व्याख्या करते हुए उदयनाचार्य लिखते हैं—

त्रिलोचनगुरोः सकाशाद् उपदेशरसायनम् आसादितम् अमूषां पुनर्नवीभावाय दीयते। (परिशुद्धि, प० ६)

"त्रिलोचन गुरु से साक्षात् उपदेशरूपी रसायन (वाचस्पति मिश्र ने) प्राप्त किया। वह रसायन इन (उद्योतकर) की बूढ़ी गायों को फिर से तारुण्य प्राप्त कराने के लिये दिया जा रहा है।"

रेन्डिल का कथन है कि त्रिलोचन कोई भी हुए हों किन्तु यह स्पष्ट है कि उदयन और वाचस्पति मिश्र दोनों ही यह मानते हैं कि त्रिलोचन ने न्याय सम्प्रदाय में एक युगान्तरकारी प्रभाव डाला था। मुझे (रैन्डिल) तो यह प्रतीत होता है कि उस (त्रिलोचन) ने प्रशस्तपाद की शिक्षाओं का न्याय में प्रवेश कराया[२३]।

इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि त्रिलोचन वाचस्पति मिश्र के गुरु थे। वाचस्पति मिश्र की अद्‌भुत प्रतिभा के विकास में उनका पर्याप्त योगदान रहा होगा।

---

१६. त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम्॥ न्या० वा० ता०, पृ० १३३।

१७. त्रिलोचनष्टीकाकृतो विद्यागुरुः। परिशुद्धिप्रकाश, पृ० ६।

१८. Randle H.N.: Indian Logic in the Early Schools, p. 40 and 106, fn. 1.।

१९. तार्किकरक्षा, पृ० ३३७, ३५६।

२०. सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स : अपोहसिद्धि, पृ० १३ तथा क्षणभङ्गसिद्धि, पृ० ५८।

२१. (मो०) तर्कभाषा, पृ० १० पंक्ति २१ तथा पृ० २३ पंक्ति ५।

२२. Introduction to Jha's Translation of Nyāya, p. XVI.

२३. Indian Logic in the Early Schools, p. 106, fn. 1.

कुछ लेखकों ने त्रिलोचन के स्थान पर 'त्रिविक्रम' लिखा है[२४]। उन्होंने न्यायतात्पर्यटीका के उद्धरण में 'त्रिविक्रम' ही दिखलाया है। किन्तु यह नाम शुद्ध नहीं प्रतीत होता; क्योंकि दार्शनिक ग्रन्थों में त्रिलोचन का ही उल्लेख किया गया है।

वाचस्पति मिश्र ने न्यायकरिणका के मंगलश्लोकों में न्यायमञ्जरी ग्रन्थ के कर्त्ता को अपने गुरु के रूप में प्रणाम किया है[२५]। इस से यह समझा जाता है कि न्यायमञ्जरी के कर्त्ता जयन्त वाचस्पति मिश्र के गुरु रहे होंगे। इस पर यह भी कल्पना की जाती है कि जयन्त और त्रिलोचन सम्भवतः एक ही व्यक्ति रहे हों। किन्तु यह कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती। कारण यह है कि जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में जो 'अव्यपदेश्य' एवं 'व्यवसायात्मक' पदों की व्याख्या की है उसमें यह नहीं बतलाया कि इन दोनों पदों द्वारा प्रत्यक्ष के दो भेद—निर्विकल्पक और सविकल्पक को प्रकट किया गया है। न्यायमञ्जरी की व्याख्या तात्पर्यटीका की व्याख्या से नितान्त भिन्न है उसमें वाचस्पति मिश्र की व्याख्या का कोई संकेत नहीं मिलता[२६]। बाह्य साक्ष्य के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि मञ्जरी या न्यायमञ्जरी त्रिलोचन का ग्रन्थ था। बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्रीमित्र ने त्रिलोचन की मञ्जरी का उल्लेख किया है[२७]। उसने उस न्यायमञ्जरी के कुछ उद्धरण भी दिये हैं जो जयन्त की न्यायमञ्जरी में उपलब्ध नहीं होते। अतः यही मानना युक्तियुक्त है कि वाचस्पति मिश्र द्वारा न्यायकरिणका के मंगलश्लोक में जिस न्यायमञ्जरी का उल्लेख किया गया है वह जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी से भिन्न कोई अन्य ग्रन्थ है जो आज उपलब्ध नहीं। यह भी निश्चित है कि उस न्यायमञ्जरी के प्रणेता त्रिलोचन थे। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का सुझाव है कि यह न्यायमञ्जरी पूर्वमीमांसा शास्त्र का ग्रन्थ रहा होगा[२८]। इस से जयन्त भट्ट को वाचस्पति मिश्र का गुरु मानना संगत नहीं प्रतीत होता; अपितु त्रिलोचन ही वाचस्पति मिश्र के गुरु थे, यही स्वीकार करना युक्तियुक्त जान पड़ता है।

४. वाचस्पति मिश्र का दार्शनिक एवं धार्मिक मन्तव्य

दार्शनिक मन्तव्य—वाचस्पति मिश्र 'सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र' विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे षड्दर्शन टीकाकार हैं। केवल छः वैदिक दर्शनों में ही नहीं अपि तु बौद्ध तथा जैन दर्शनों में भी उनकी अप्रतिहत गति है। भामती टीका के अनुशीलन से यह भी विदित होता है कि पाशुपत और पञ्चरात्र इत्यादि की दार्शनिक विचारधारा से भी वे भली भांति परिचित थे। समस्त दर्शनों पर की गई व्याख्याओं से उनके गम्भीर पाण्डित्य तथा व्यापक ज्ञान का परिचय मिलता है। वे एक निष्पक्ष विचारक तथा व्याख्याता थे। उनकी यह व्यक्तिगत विशेषता है कि जिस दर्शन की व्याख्या करते हैं उसमें ही तन्मय

---

२४. देखिये, तत्त्वबिन्दु (Edited by V.A. Ramaswami Shastri, Annamalai University) Introduction, p. 53.

२५. अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥ न्यायकणिका, पृ० १।

२६. देखिये, न्यायमञ्जरी, पृ० ७३ तथा ८४।

२७. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलीः, पृ० २३६.

२८. Critique of Indian Realism. p. 115.

हो जाते हैं और उसके पक्ष का पूर्णतया हृदय से समर्थन करते हैं। इसी हेतु वे न्याय-तात्पर्यटीका में एक दृढ़ नैयायिक से प्रतीत होते हैं, किन्तु भामती व्याख्या के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वे नैयायिक नहीं अपितु विशुद्ध अद्वैतवादी वेदान्ती हैं। वहाँ वे अत्यन्त उत्साह के साथ न्याय-वैशेषिक आदि का खण्डन करते दृष्टिगोचर होते हैं।

वाचस्पति मिश्र की एक और भी विशेषता है, वह यह कि जिस दर्शन पर वे व्याख्या करना आरम्भ करते हैं उसके मन्तव्यों के नितान्त अनुकूल ही मंगलपाठ होता है, जैसे न्यायतात्पर्यटीका के आरम्भ में उनका उपास्य विश्वकृत्, विश्वेशानो तथा विश्वसंहार-कारी है[२९]। सांख्यतत्त्वकौमुदी के मंगल में वे सत्वरजस्तमस्-समन्विता प्रकृति तथा भोक्ता एवं मुक्त पुरुषों को नमस्कार करते दृष्टिगोचर होते हैं[३०]। किन्तु सेश्वर सांख्य अर्थात् योग की व्याख्या करते हुए क्लेशकर्मविपाकाशय से रहित जगत् के निर्माता की स्तुति करते हैं[३१]। शांकरभाष्य की व्याख्या के आरम्भ में तो वे एक नैष्ठिक अद्वैतवादी वेदान्ती के समान उस ब्रह्म को नमस्कार करते हैं, यह समस्त विश्व ही जिसका विवर्त है[३२]।

इस प्रकार यह निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है कि वाचस्पति मिश्र किस दार्शनिक सम्प्रदाय को स्वीकार करते थे। उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि वे एक निष्पक्ष विद्वान् एवं व्याख्याता थे, किसी दर्शन-विशेष के प्रति उनके मन में आसक्ति न थी। किन्तु उनके ग्रन्थों के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः अद्वैतवाद के प्रति उनकी अधिक आस्था थी। बात यह है कि न्यायतात्पर्यटीका आदि में उन्होंने वेदान्त मत के खण्डन में वह उत्साह नहीं प्रकट किया जो भामती इत्यादि में अन्य नैयायिक आदि सम्प्रदायों के मत-खण्डन में प्रदर्शित किया है। मानव की यह मनोवैज्ञानिक विशेषता होती है कि वह जिस मन्तव्य में हार्दिक आस्था रखता है चाहते हुए भी उसका वैसा प्रतिवाद नहीं कर पाता, जैसा कि अन्य मतों का। यहाँ यह भी सम्भावना हो सकती है कि वाचस्पति मिश्र अपनी प्रौढ़ावस्था में ही अद्वैतवादी हुए हों और उसी समय भामती की रचना की गई हो। जो भी हो यह अवश्य प्रतीत होता है कि अद्वैतवाद की ओर उनका अधिक झुकाव रहा होगा।

धार्मिक मन्तव्य—यह तो रही दार्शनिक विचारधारा की बात। अब देखना यह है कि वाचस्पति मिश्र किस **धार्मिक सम्प्रदाय** से विशेष सम्बन्ध रखते थे। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थों में किसी विशेष सम्प्रदाय के प्रति कोई पक्षपात प्रकट नहीं किया तथापि उनके मंगलश्लोकों से ही इस विषय में कुछ निर्णय किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, उन्होंने 'न्यायतात्पर्यटीका' के आरम्भ में विविध विशेषणों से युक्त 'पिनाकी' की स्तुति की है। तात्पर्यटीका के अन्त-मंगल श्लोक में वृषकेतु ईश की प्रसन्नता की कामना

---

२९. विश्वव्यापी विश्वशक्तिः पिनाकी, विश्वेशानो विश्वकृद् विश्वमूर्तिः।
विश्वज्ञाता विश्वसंहारकारी, विश्वाराध्यो राधयत्वीहितं नः॥

३०. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥

३१. नमामि जगदुत्पत्तिहेतवे वृषकेतवे। क्लेशकर्मविपाकादिरहिताय हिताय च॥

३२. अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽबवनयः।
यतश्चाभूद् विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम्॥

की गई है[३३]। 'न्यायसूचीनिबन्ध' के अन्त-मंगल में भी यही वृषकेतु का प्रीति-विषयक श्लोक दिया गया है। 'योगतत्त्ववैशारदी' के मंगलश्लोक में भी 'वृषकेतु' की स्तुति की गई है— 'नमामि जगदुत्पत्तिहेतवे वृषकेतवे'। तत्त्वबिन्दु नामक ग्रन्थ के आरम्भ में सर्वप्रथम 'अहये बुध्न्याय नमः' इस प्रकार शिव की स्तुति करके तब सूर्य (ब्रध्न), गणपति, सरस्वती (भारती) तथा विष्णु (विष्टरश्रवस्) की स्तुति की गई है[३४]। इसी प्रकार 'भामती' व्याख्या के आरम्भ में ब्रह्म की स्तुति के अनन्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में पुराणोक्त[३५] षड् अंगों से युक्त शिव (भव) की स्तुति की गई है[३६]।

इन समस्त मंगल श्लोकों के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वाचस्पति मिश्र महेश्वर शिव के उपासक रहे होंगे। उन्होंने शिव के विविध नामों तथा विशेषणों का प्रयोग किया है। साथ ही प्रायः सभी ग्रन्थों के आदि में किसी न किसी अंश में शिव की स्तुति की है। यद्यपि न्यायकणिका के प्रथम श्लोक में विष्णु को नमस्कार किया है तथापि वहाँ भी द्वितीय श्लोक में शिव को नमस्कार किया है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि वाचस्पति मिश्र शिव के उपासक थे, वे शैव थे तो उन्होंने विष्णु तथा सूर्य आदि की स्तुति क्यों की है? ऐसा प्रतीत होता है कि शैव और वैष्णवों का पारस्परिक विवाद नवम शताब्दी में बहुत कटु न रहा होगा। अथवा वाचस्पति मिश्र जैसे गम्भीर विचारक ने इस विषय में उदार दृष्टिकोण को स्वीकार किया होगा। एक बात और भी हो सकती है वह यह कि वाचस्पति मिश्र शैव मत के अनुयायी तो रहे हों, किन्तु स्मृतियों का अनुसरण करते हुए उन्होंने विभिन्न देवताओं को नमस्कार किया हो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उनका 'भामती' के आरम्भ में मार्तण्ड, तिलक स्वामी तथा गणपति को नमस्कार करना याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ही है। इसी प्रकार तत्त्वबिन्दु के आरम्भ में जो पांच देवों को नमस्कार किया गया है वह भी स्मृति के अनुसार ही है[३७]।

ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र को किसी विशेष सम्प्रदाय के प्रति कोई लगाव न रहा होगा, किन्तु पारिवारिक या अन्य परिस्थितियों के कारण शिव के नामों के प्रति उनका सहज स्नेह रहा होगा और बिना किसी साम्प्रदायिक भावना के ही पिनाकी तथा वृषकेतु जैसे शब्दों का प्रयोग कर दिया होगा। इस विषय में किसी एक मत का निर्धारण तभी किया जा सकता है जब कि उनकी जीवनी से कोई विशेष प्रकाश पड़े। मंगलश्लोकों के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि वाचस्पति मिश्र शिव के प्रति विशेष आस्था रखते थे, किन्तु साथ ही आदित्य और विष्णु आदि के भी उपासक थे। यह माना जा सकता है कि वे विशुद्ध दार्शनिक थे। केवल परम्परागत उपास्य देवों के प्रति आस्था रखते हुए उन्होंने इन देवों को नमस्कार किया होगा।

---

३३. संसारजलनिधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ।
तस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः॥

३४. अहये बुध्न्याय नमो ब्रध्नाय नमो नमोऽस्तु गणपतये।
आर्यायै भारत्यै नमो नमश्चास्तु विष्टरश्रवसे॥

३५. सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥ वेदान्तकल्पतरु, पृ० ४।

३६. षडभिरङ्गैरुपेताय विविधैरव्ययैरपि। शाश्वताय नमस्कुर्मो वेदाय च भवाय च॥

३७. मि०, तत्त्वबिन्दु, पृ० १ टिप्पणी १।

५. वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ

वाचस्पति मिश्र में दर्शन सम्बन्धी बहुमुखी प्रतिभा थी, अतः भारतीय दर्शन के सभी क्षेत्रों में उनकी सर्वतोमुखी देन है। सभी वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों पर उन्होंने विस्तृत व्याख्याएँ लिखी हैं। उनकी व्याख्याओं और टीकाओं का किसी भी मौलिक ग्रन्थ से कम महत्त्व नहीं। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में उनकी व्याख्याएँ प्रमाण मानी जाती हैं। उनकी नवीन उद्भावनाओं के कारण तो उनका महत्त्व और भी बढ़ गया है। जैसा कि कहा जा चुका है, वाचस्पति मिश्र की यह विशेषता है कि वे जिस दार्शनिक सम्प्रदाय का विवेचन करते हैं हृदय से उसका समर्थन करते दिखलाई देते हैं। उदाहरणार्थ न्यायतात्पर्य-टीका में वे पूर्ण नैयायिक प्रतीत होते हैं वहाँ बड़ी स्पष्टता तथा दृढ़ता से न्याय की सूक्ष्मताओं को दिखलाते हुए सांख्य और वेदान्त का खण्डन करते हैं। किन्तु वेदान्त की व्याख्या करते समय वे पूर्णतः वेदान्ती हैं, मानो शांकर वेदान्त उनकी नस नस में रमा है। उनके एक एक शब्द से वेदान्त के सिद्धान्तों की ध्वनि निकलती है। वे रत्तीभर भी इधर से उधर नहीं दिखलाई देते। इससे उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, विवेक बुद्धि तथा गम्भीर पाण्डित्य का बोध होता है। जितनी बारीकी से दर्शन के विविध सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का विवेचन उन्होंने किया है, इतना अन्य किसी आचार्य ने नहीं। इसी से उनके ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ हुई हैं। दर्शन के अनेक विद्वानों ने उनके प्रति बड़ा आदर और सम्मान भाव प्रकट किया है। उदयनाचार्य जैसा उद्भट विद्वान् उनकी टीका की व्याख्या करने से पूर्व सरस्वती माता से प्रार्थना करता है कि "माता सरस्वति, ऐसी सावधान हो कि जिससे ये (मेरे मन और वाणी) वाचस्पति के वचनों में स्खलित न हों[३८]। अन्य विद्वान् भी इसी प्रकार समादर प्रकट करते दिखलाई देते हैं।

वैदिक दर्शनों के विवेचन के साथ २ वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का भी विशद विवेचन किया है। यद्यपि उन्होंने बौद्ध दर्शन पर पृथक् कोई ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की ऐसी स्पष्ट व्याख्या की है, जैसी स्वयं बौद्ध दर्शन के आचार्य भी नहीं कर सके। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका और भामती आदि में बौद्धों का विस्तृत विवेचन वाचस्पति मिश्र ने किया है। वस्तुतः ये भारतीय दर्शन के सूर्य हैं जिनका व्यापक प्रकाश दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ा है। भिन्न २ दार्शनिक सम्प्रदायों को उनकी मौलिक देन हैं।

शांकर भाष्य की भामती टीका की समाप्ति पर वाचस्पति मिश्र ने स्वयं ही अपनी रचनाओं की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः।
यन्न्यायसांख्ययोगानां, वेदान्तानां निबन्धनैः॥
भामती, समाप्तिश्लोक।

---

३८. मातः सरस्वति पुनः पुनरेष नत्वा।
बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना।
वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते॥
न्या० वा० ता०, परिशुद्धि, मङ्गलश्लोक।

इससे उनकी सात रचनाओं का पता चलता है–(१) न्यायकणिका (२) तत्त्वसमीक्षा (३) तत्त्वबिन्दु (४) न्याय पर लिखी गई व्याख्या (निबन्ध अर्थात् न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका) (५) सांख्य पर निबन्ध अर्थात् सांख्यतत्त्व कौमुदी (६) योग पर निबन्ध (योग भाष्य पर) तत्त्ववैशारदी तथा (७) वेदान्त पर निबन्ध (भामती)। यद्यपि इस श्लोक में पिछले चार ग्रन्थों के नाम का उल्लेख नहीं किया गया तथापि व्याख्याकारों का मत है कि ये न्याय आदि पर लिखित निबन्ध क्रमशः न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, सांख्यतत्त्वकौमुदी, तत्त्ववैशारदी और स्वयं भामती टीका ही हैं[३९]। इन ग्रन्थों में वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूचीनिबन्ध का उल्लेख नहीं किया। रेन्डिल का कथन है कि सम्भवतः उसका उल्लेख इसलिए नहीं किया कि यह (न्याय-सूची-निबन्ध) उनकी न्याय पर लिखी हुई व्याख्या (न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका) की 'विषयानुक्रमणी' (Index) मात्र है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वाचस्पति मिश्र ने भामती के अन्त में जिस क्रम से अपनी कृतियों का उल्लेख किया है, क्या यही उनका रचनाक्रम है? रेन्डिल ने इस बात पर विचार करके यह निर्णय किया है कि जिस क्रम से यहाँ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है, यही इनका रचना क्रम भी है[४०]। इसको पुष्ट करने के लिये ये युक्तियाँ दी गई हैं— न्यायकणिका[४१] और तत्त्वसमीक्षा[४२] का उल्लेख न्यायतात्पर्यटीका में किया गया है इस से विदित होता है कि ये दोनों कृतियाँ न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका से पूर्व की हैं। इसी प्रकार सांख्यतत्त्वकौमुदी में न्यायतात्पर्यटीका[४३] का उल्लेख होने से यह विदित होता है कि न्यायतात्पर्यटीका सांख्यतत्त्वकौमुदी से पूर्व की है। यह स्पष्ट ही है कि 'तत्त्ववैशारदी' नामक टीका न्यायकणिका तथा ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा के पश्चात् लिखी गई; क्योंकि तत्त्ववैशारदी में इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है[४४]। रेन्डिल का यह भी कथन है कि तत्त्ववैशारदी टीका सांख्यतत्त्वकौमुदी के अनन्तर लिखी गई होगी, यह मानना अयुक्त न होगा। भामती टीका तो सबके पश्चात् की है ही; क्योंकि इसके अन्त में पहिली ६ पुस्तकों के लिखे जाने का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त क्रम पर विचार करते हुए रेन्डिल ने 'तत्त्वबिन्दु' को छोड़ दिया है सम्भवतः उसके क्रम–निर्धारण के लिये कोई साक्षात् प्रमाण उन्हें न उपलब्ध हुआ हो। अनुशीलन से ज्ञात होता है कि 'तत्त्वबिन्दु' की रचना भी न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका से पहले ही हुई

---

३९. न्यायस्य निबन्धो न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका। तत्त्वकौमुदी-सांख्यनिबन्धः। योगनिबन्धनं पातञ्जलभाष्यटीका तत्त्वशारदी। वेदान्तानां सर्वोपनिषदां निबन्धनमियमेव भामती। वेदान्तकल्पतरु, भामती-समाप्तिश्लोक ३ की व्याख्या। तथा Randle H.N : Indian Logic in the Early Schools, p. 39।

४०. Indian Logic in the Early Schools, p. 40, L. 4।

४१. विपञ्चितं चैतदस्माभिर्न्यायकणिकायाम्। न्या० वा० ता०, पृ० ५६२ पंक्ति १६।

४२. दिङ्मात्रमत्र दर्शितं प्रपञ्चस्तत्त्वसमीक्षायामस्माभिः कृतः इत्युपरम्यते, वही, पृ० ६१।

४३. सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नोक्तं विस्तरभयात्-सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ५।

४४. अक्षणिकस्य चार्थक्रिया न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षाभ्यामुपपादितेति।
तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १, ३२।

होगी; क्योंकि न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में तत्त्वबिन्दु का उल्लेख किया गया है[४५]। ऊपर कहे हुए न्यायकणिका के उल्लेख के अतिरिक्त तात्पर्यटीका में अन्यत्र भी न्यायकणिका का उल्लेख मिलता है[४६]। भामती टीका में न्यायकणिका और ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा का तो अनेकशः उल्लेख किया गया है[४७]; किन्तु अन्य ग्रन्थों का उल्लेख प्रतीत नहीं होता। फिर भी भामती के समाप्तिश्लोकों में समस्त कृतियों का उल्लेख ही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि भामती टीका सबसे पीछे की है।

इन ग्रन्थों के कालक्रम पर विचार करने के उपरान्त यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इनके विषय में कुछ अधिक विवेचन किया जाये और यह भी देखा जाये कि बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों को समझने के लिए इन में से किस ग्रन्थ का कितना अधिक महत्त्व है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार इन समस्त ग्रन्थों को चार श्रेणियों में रक्खा जा सकता है[४८]।

(१) न्याय– (क) न्यायसूचीनिबन्ध
(ख) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका

(२) सांख्ययोग– (क) सांख्यतत्त्वकौमुदी
(ख) तत्त्व वैशारदी

(३) मीमांसा– (क) न्यायकणिका
(ख) तत्त्वबिन्दु

(४) वेदान्त– (क) तत्त्वसमीक्षा या ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा
(ख) भामती

दार्शनिकों के सौभाग्य से इन ८ कृतियों में सात विद्यमान हैं। तत्त्वसमीक्षा या ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा अभी तक प्राप्त नहीं हुई। उनके अन्य भी अनेक अप्राप्त ग्रन्थ हैं, जिनका उल्लेख पाया जाता है[४९]।

कहा जाता है कि वाचस्पति मिश्र का 'युक्तिदीपिका' नामक ग्रन्थ था जो सांख्यविषयक था और ब्रह्मतत्त्वसंहितोद्दीपनी तथा वेदान्ततत्त्वकौमुदी ग्रन्थ वेदान्त सम्बन्धी थे[५०]। ये सभी ग्रन्थ अप्राप्त हैं। जहाँ तक वाचस्पति मिश्र के उपलब्ध ग्रन्थों को देखने से विदित होता है, वाचस्पति मिश्र ने इन नामों का कहीं उल्लेख नहीं किया। भामती व्याख्या के अन्त में 'यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः' इत्यादि में 'वेदान्त' शब्द के बहुवचन

४५. (क) तस्मात् पदानां सामान्यमर्थैस्तत्प्रतिपादनावान्तरव्यापाराणां च यथा वाक्यार्थप्रतिपादकत्वं तथाऽस्माभिस्तत्त्वबिन्दौ निपुणतरमुपपादितम्।
न्या० वा० ता०, पृ० ४७४ पंक्ति १४-१६।
(ख) उपपादितं च तत्त्वबिन्दौ। वही, पृ० २०७।

४६. कृतप्रपञ्चश्चायमर्थो न्यायकणिकायाम्–न्या० वा० ता०, पृ० ६६२ पंक्ति १८।

४७. भामती, पृ० ३०, ५४१।

४८. Critique of Indian Realism, p. 113, fn. 136.

४९. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय दर्शनशास्त्र, पृ० १२० तथा Critique of Indian Realism, p. 114, fn. 136.

५०. म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ (SBS.) Vol. III, पृ० ९८।

(वेदान्तानाम्) से यह झलकता अवश्य है कि वेदान्त पर भी उनके कई ग्रन्थ रहे होंगे किन्तु 'वेदान्तानाम्' यह बहुवचन तो अन्य प्रकार से भी संभव है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायरत्न' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ पर भी टीका लिखी थी[५१]।

वाचस्पति मिश्र के उपलब्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **न्यायसूचीनिबन्ध**—इस पुस्तक के नाम का उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने इसके अन्तिम श्लोक में किया है। न्यायसूत्रकार गौतम मुनि के सूत्रों की प्रकरणानुसार सूची इस पुस्तक में दी गई है। वाचस्पति मिश्र ने कोई व्याख्या सूत्रों पर नहीं की। हाँ, कितने (द्वाभ्याम्=दो से, षड्भिः=६ से) सूत्रों का किंविषयक प्रकरण है[५२], यह दिखलाया है। पुस्तक के आदि में—धर्म, विज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यशाली वाक्शुद्धि के निधान, प्रमाण-सिद्ध अर्थ को प्रकट करने वाले (तायिने) अक्षपाद को नमस्कार किया गया है[५३]। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र ने अक्षपाद गौतम के लिए 'तायिन्' विशेषण का प्रयोग बौद्ध-आचार्यों के 'गौतम बुद्ध' के लिए प्रयुक्त 'तायिन्'[५४] शब्द की प्रति-द्वन्द्विता के कारण किया है। नमस्कार के पश्चात् इस ग्रन्थ का प्रयोजन इस प्रकार बतलाया है—

"अक्षपाद निर्मित सूत्रों के सार का बोध कराने वाली सूची मुझ वाचस्पति मिश्र के द्वारा की जायेगी[५५]।"

इस श्लोक के अनुसार इस पुस्तक का प्रयोजन है—गौतम के सूत्रों का सारांश समझाना। कदाचित् उस दार्शनिक संघर्ष और वाद-विवाद के युग में सूत्रों के अर्थ में खींचातानी होने लगी होगी। वादी-प्रतिवादी अपने अपने मत की पुष्टि के लिए प्रकरण के प्रतिकूल भी सूत्रों का उद्धरण या प्रमाण प्रस्तुत करने लगे होंगे। वाचस्पति मिश्र जैसे सरस्वती के पुजारी को निर्दोष ज्ञान के भण्डार गौतम की वाणी की यह खींचातानी अच्छी न लगी। इसी हेतु उन्होंने सूत्रों की प्रकरणानुसार सूची बना दी। जैसा कि इस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोकों से विदित होता है, वाचस्पति मिश्र ने "दुस्तर कुनिबन्धों की कीचड़ में फंसी हुई गौतम की श्रेष्ठ किन्तु वृद्ध गायों (वाणी) का (इस सूची द्वारा) उद्धार करके कुछ पुण्य संचित किया था[५६]। इस श्लोक में जिस दार्शनिक संघर्ष की ओर संकेत है उस पर आगे विचार किया जायेगा[५७]।

---

५१. वही, पृ० १०३। 'न्यायरत्न' भी इस समय अनुपलब्ध है।

५२. इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामभिधेयप्रयोजनसम्बन्धप्रकरणम् ॥१॥ न्या० सू० नि०, प्रकरण १।

५३. नमामि धर्मविज्ञानवैराग्यैश्वर्यशालिने।
निधये वाग्विशुद्धीनामक्षपादाय तायिने॥१॥ वही, मंगलश्लोक १।

५४. मि०, दिग्नाग; प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। प्रमाणसमुच्चय १-१। प्रमाणवार्त्तिक (१-१४७) में, 'ताय' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई हैं:— 'तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः'।

५५. अक्षपादप्रणीतानां सूत्राणां सारबोधिका।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण मया सूची विधास्यते॥

५६. यद् अलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
श्रीगौतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥

५७. परि० १, अनु० ७।

कुछ विद्वानों का विचार है कि न्यायसूचीनिबन्ध वाचस्पति मिश्र की रचना नहीं[५८]। कारण यह है कि (१) किसी प्रामाणिक आचार्य ने इस प्रकार की कोई अन्य रचना किसी दर्शन पर नहीं की (२) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका से इसमें कहीं २ मत-भेद भी दृष्टिगोचर होता है। (३) भामती टीका में जो 'न्यायस्य निबन्धः' शब्द का ग्रहण किया गया है व्याख्याकारों ने उसका अभिप्राय 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' ही लिया है, न्यायसूचीनिबन्ध का कहीं उल्लेख भी नहीं किया गया। (४) सम्भवतः वाचस्पति मिश्र की कृतियों में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इन विरोधी युक्तियों के होते हुए भी अन्य विद्वान् परम्परा के आधार पर इसको वाचस्पति मिश्र की रचना मानते ही हैं। न्यायसूचीनिबन्ध नामक ग्रन्थ का विषय-विवेचन की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के अध्ययन में भी यह ग्रन्थ सहायक नहीं। हाँ, इस पुस्तक का एक दृष्टि से वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में विशेष महत्त्व है, वह यह कि (जैसा पहले लिखा जा चुका है) इसके अन्त में वाचस्पति मिश्र ने ग्रन्थलेखन का समय दिया है (वस्वङ्कवसुवत्सरे ८९८); जो अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं दिया गया।

(२) **न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका**—वाचस्पति मिश्र की कृतियों में प्रसिद्धि और महत्त्व की दृष्टि से इस ग्रन्थ का सर्वोपरि स्थान है। डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री के शब्दों में—(यह) "न्याय शास्त्र का कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है[५९]।" प्राचीन न्याय के सिद्धान्तों का अन्तिम रूप देने का कार्य वाचस्पति मिश्र का था और इस कार्य का सम्पादन उन्होंने इसी ग्रन्थ द्वारा किया। यह ग्रन्थ केवल उद्योतकर के न्यायवार्तिक की व्याख्या ही नहीं, न्यायसूत्र और वात्स्यायन भाष्य को भी नवीन जीवन प्रदान करने वाला है। उदयनाचार्य की इस उक्ति में कि "त्रिलोचन गुरु से रसायन प्राप्त करके वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर की बूढ़ी गायों को नव जीवन प्रदान करने के लिये उसका प्रयोग किया", यह परिवर्तन अच्छा लगता है कि "वाचस्पति मिश्र ने गौतम मुनि तथा वत्यायन मुनि की अत्यन्त जीर्णावस्था वाली गायों (वाणी) को भी इस तात्पर्य रसायन से पुनर्जीवित कर दिया।"

न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के आदि में विश्वव्यापी पिनाकी की स्तुति करके[६०] तथा धर्मविज्ञानादियुक्त अक्षपाद को प्रणाम करके इस ग्रन्थ का प्रयोजन इस प्रकार दिखाया गया है—

ग्रन्थव्याख्याच्छलेनैव निरस्ताखिलदूषणा।
न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकाऽस्माभिर्विधास्यते॥
इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्[६१]॥

"ग्रन्थ (न्यायवार्त्तिक) की व्याख्या के व्याज से अखिल दूषणों का निराकरण करने वाली न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका हमारे द्वारा रची जाएगी।"

---

५८. देखिये, म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद, न्या० वा० (भूमिका), पृ० ३८, पादटिप्पणी २।
५९. भारतीय दर्शनशास्त्र, पृ० १२०, पंक्ति ८।
६०. न्या० वा० ता०, मंगलश्लोक १।
६१. वही, मंगलश्लोक, ३, ४।

"दुस्तर कुनिबन्धों की कीचड़ में फंसी हुई उद्योतकर की प्राचीन उक्ति रूपी अति बूढ़ी गायों का उद्धार करके (मैं) कुछ पुण्य (संचित करना) चाहता हूँ।"

उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक की जो प्रतिपक्षियों द्वारा छीछालेदर की गई थी विशेषत: उसी के उद्धार के लिये तात्पर्यटीका नामक ग्रन्थ लिखा गया। न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन के संघर्ष में इस ग्रन्थ का महत्त्व सबसे बढ़कर है। इस ग्रन्थ का नाम, जैसा कि प्रसिद्ध है तथा यत्र तत्र वाचस्पति मिश्र के अन्य ग्रन्थों में भी उल्लेख किया गया है, 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' है जो ऊपर के श्लोक में दिखलाया गया है। इस तात्पर्यटीका में उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक की व्याख्या तो है ही, किन्तु प्रतिपक्षियों द्वारा न्याय सम्प्रदाय के खण्डन के लिये दिखलाये हुए समस्त दूषणों का निराकरण भी किया गया है। ये प्रतिपक्षी सामान्यत: सांख्य, वेदान्त आदि सभी हैं परन्तु विशेषकर बौद्ध हैं। अत: बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का निराकरण विशेषरूप से इस ग्रन्थ में किया गया है। वाचस्पति मिश्र की यह शैली रही है कि वे किसी दार्शनिक मत का खण्डन करने से पूर्व उसका विशद रूप प्रस्तुत करते हैं इसलिए तात्पर्यटीका में बौद्धों के विविध सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया गया है तथा बौद्ध दर्शन के अध्ययन में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्भवत: वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में ही सबसे बढ़कर नहीं अपितु वैदिक दार्शनिक साहित्य में सर्वोपरि। इस ग्रन्थ के लिखने के कारण ही वे तात्पर्याचार्य ख्याति के अधिकारी हैं[६२]। इसके अद्वितीय महत्त्व के कारण ही इसके ऊपर टीकाओं का एक तांता सा लग गया और यह टीका-परम्परा शताब्दियों तक चलती रही—

(१) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका
(२) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका परिशुद्धि—उदयनाचार्य
(३) न्यायनिबन्धप्रकाश —वर्धमान
(४) वर्धमानेन्दु — पद्मनाभ मिश्र
(५) न्यायतात्पर्यमण्डन —शंकरमिश्र

(३) **सांख्यतत्त्वकौमुदी**—यह ईश्वरकृष्ण की सांख्य कारिकाओं की व्याख्या है। सांख्य सम्प्रदाय में इसका सर्वोपरि महत्त्व है। जैसा कि दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध है, आज के उपलब्ध सांख्य सूत्रों की अपेक्षा सांख्यकारिका ही प्राचीन तथा प्रामाणिक मानी जाती है। इन कारिकाओं पर चार प्रसिद्ध व्याख्यायें हैं—(१) माठरवृति (२) गौडपादाचार्यकृत भाष्य (३) सांख्यतत्त्वकौमुदी (४) सांख्यचन्द्रिका। इनमें से माठरवृत्ति और गौडपादकृत भाष्य दोनों ही सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन माने जाते हैं तथापि प्रौढ़ता की दृष्टि से तथा सांख्य के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की दृष्टि से जो महत्त्व सांख्यतत्त्वकौमुदी का है वह अन्य किसी व्याख्या का नहीं। यथार्थ में आज के सांख्यसिद्धान्त वाचस्पति मिश्र द्वारा परिष्कृत तथा अनुमोदित सिद्धान्त हैं।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में उपनिषदों की भाषा में प्रकृति तथा मुक्त पुरुषों को नमस्कार किया गया है। फिर कपिल मुनि, आसुरि तथा पञ्चशिखाचार्य और ईश्वरकृष्ण को

---

६२. मि०, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय दर्शन शास्त्र, पृ० १२१ तथा Critique of Indian Realism, p. 113.

नमस्कार करके[६३] समास शैली में बड़ी प्रौढ़ता के साथ सांख्य के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। यद्यपि दो एक प्रसंगों में इस ग्रन्थ में बौद्धदर्शन का उल्लेख किया गया है तथापि बौद्ध दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी नहीं। वाचस्पति मिश्र के सम्बन्ध में भी इससे कुछ विशेष ज्ञान नहीं होता। केवल समाप्ति श्लोक में भी यही कहा गया है—

"श्री वाचस्पति मिश्र की कृति (यह) तत्त्वकौमुदी (पक्षपातशून्य) सज्जनों के कुमुद जैसे हृदयों को हर्ष से प्रफुल्लित करे[६४]।"

इस श्लोक से एक बात अवश्य विदित होती है कि इस ग्रन्थ का नाम वस्तुतः "तत्त्वकौमुदी" है सांख्य विषयक होने से सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रसिद्ध हो गया है।

(४) **तत्त्ववैशारदी या तत्त्वशारदी**—यह योगसूत्रों के व्यास-भाष्य पर लिखी गई व्याख्या है। इसका नाम "तत्त्ववैशारदी" है यह बात परम्परा से ही जानी जाती है। वाचस्पति मिश्र ने इसके आदि या अन्त में कहीं भी नाम नहीं दिया। भामती टीका के अन्त में भी जहाँ वाचस्पति मिश्र ने अपनी कृतियों का उल्लेख किया है, केवल योग-निबन्ध के रूप में ही इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि योग पर भी उनकी कोई कृति है। 'योग-निबन्ध' शब्द की व्याख्या करते हुए 'वेदान्त-कल्पतरु' नामक टीका में लिखा गया है— 'योगनिबन्धनं पातञ्जलभाष्यटीका तत्त्वशारदी।' वेदान्तकल्पतरु के इस उद्धरण से यह विदित होता है कि इस टीका का नाम 'तत्त्वशारदी' है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र ने इसके नाम का अन्यत्र भी कहीं निर्देश नहीं किया। फिर तो व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित व्याख्या तत्त्ववैशारदी है यह स्वीकार करने के लिये परम्परा ही साधन है।

इस व्याख्या के आरम्भ में क्रमशः जगदुत्पत्ति के कारणरूप शिव (वृषकेतु) तथा पतञ्जलि मुनि को नमस्कार किया गया है। फिर वेदव्यासकृत भाष्य पर व्याख्या लिखने की बात कही गई है। किन्तु इस ग्रन्थ के आदि या अन्त में वाचस्पति मिश्र ने अपना नाम भी कहीं नहीं दिया है। हाँ, यह अवश्य कहा है कि "यह व्याख्या संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से बहुत से अर्थों को कहने वाली है[६५]।" इस टीका में विशेषकर योग के विविध मन्तव्यों की व्याख्या की गई है, साथ ही बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों को भी यत्र तत्र खण्डन के लिए प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध दर्शन के नैरात्म्यवाद तथा विज्ञानवाद के अध्ययन के लिए तत्त्ववैशारदी अवश्य ही उपयोगी है।

(५) **न्यायकणिका या न्यायकलिका**—यह मीमांसा सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसके न्यायकणिका नाम से कभी २ यह भ्रान्ति होने की संभावना रही है कि यह न्याय का ग्रन्थ

६३. कपिलाय महामुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः॥
सांख्यतत्त्वकौमुदी, मंगल श्लोक २।

६४. मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदा।
श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिः स्तात् तत्त्वकौमुदी॥ सांख्य तत्त्वकौमुदी, समाप्तिश्लोक।

६५. संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्था। तत्त्ववैशारदी; मंगलश्लोक।

होगा[६६]। यथार्थ में प्राचीन काल में न्याय शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा के लिए होता था, जैसा कि डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने लिखा है–"न्याय शब्द का प्राचीन प्रयोग पूर्वमीमांसा के लिये पाया जाता है।" बुहलर ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि आपस्तम्ब (११, ४, ८, १३) और (११, ६, १४, १३) में न्याय शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा के अर्थ में ही है। पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ जैसे 'न्यायकणिका', 'न्यायरत्नमाला' आदि में न्याय शब्द पूर्वमीमांसा के अर्थ में ही आया है[६७]।"

न्यायकणिका नाम का ग्रन्थ आचार्य मण्डन मिश्र के 'विधिविवेक' की व्याख्या है। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, इसके मंगल के तृतीयश्लोक में न्यायमञ्जरी के कर्त्ता अपने गुरु को नमस्कार किया गया है। न्यायकणिका पूर्वमीमांसा शास्त्र के विवेचन की दृष्टि से चाहे अधिक महत्त्व न रखती हो किन्तु भारतीय दर्शन सम्बन्धी विविध आलोचनाओं की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रसंगानुसार सभी दार्शननिक सम्प्रदायों की आलोचना है किन्तु बौद्ध दर्शन की तो बहुत ही विशद आलोचना है। यहाँ बौद्ध दर्शन के गम्भीर मन्तव्यों को बड़े विस्तार से समझाया गया है, जैसा कि वाचस्पति मिश्र के अन्य ग्रन्थों में भी उतने विस्तार से नहीं। तभी तो तात्पर्यटीका और भामती में कई स्थलों पर विस्तृत विवेचन के लिये न्यायकणिका का उल्लेख किया गया है[६८]। बौद्ध दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से न्यायकणिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसमें सन्देह नहीं।

न्यायकणिका के अन्त में वाचस्पति मिश्र ने अन्य ग्रन्थों के समान समाप्तिश्लोक नहीं दिये। कौन जाने, काल परिणाम से या लेखक–प्रमाद से वे समाप्ति श्लोक विलुप्त हो गये हों किन्तु आज के उपलब्ध संस्करण में समाप्ति श्लोक नहीं हैं। साथ ही एक बात और है वह यह कि इस ग्रन्थ के आदिम श्लोकों में भी न तो पुस्तक का नाम ही दिया गया है न आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपना ही नाम दिया है। यह बात इस कारण से विशेष अखरती है कि वाचस्पति मिश्र ने प्रायः अपने समस्त ग्रन्थों में अपना नाम भी दिया है और 'कृति' का नाम भी, परन्तु ऐसी महत्त्वपूर्ण रचना के साथ नहीं। इससे परम्परा का अनुसरण करके ही इस कृति को 'न्यायकणिका' या वाचस्पति मिश्र की न्यायकणिका कहना पड़ता है।

न्यायकणिका को देखने से एक प्रश्न और उठता है वह यह कि यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ़ है, इसमें विविध दार्शनिक मन्तव्यों का सूक्ष्म, गम्भीर एवं विशद विवेचन है फिर, जैसा कि ऊपर[६९] सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, यह वाचस्पति मिश्र की सर्वप्रथम रचना कैसे हो सकती है? कोई भी प्रौढ़ रचना प्रायः प्रौढ़ावस्था में ही हुआ करती है। यह सब बातें वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों की ऐतिहासिक गवेषणा से सम्बन्ध रखती हैं।

---

६६. "Vacaspati miśrás Nyāya Kaṇika, a work on logic, is not now available." Vidyābhūṣaṇa, S.C: History of Indian Logic. p. 314.

६७. भारतीय दर्शनशास्त्र, पृ० ६६। Critique of Indian Realism, p. 69.

६८. न्या० वा० ता०, पृ० ५६२ पंक्ति १६।

६९. परि० १, अनु० ५।

(६) **तत्त्वबिन्दु**—यह एक लघुकाय ग्रन्थ है। इसमें कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद की स्पष्ट व्याख्या की गई है। यहाँ विस्तार से इस सिद्धान्त का विवेचन किया गया है तथा इस विषय में व्याकरण, न्याय, उपवर्ष प्रभृति मीमांसक और प्रभाकर के मतों का उल्लेख करके उनका निराकरण किया गया है। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के अध्ययन से इस ग्रन्थ का कोई सम्बन्ध नहीं। इसके समाप्ति श्लोकों में पुस्तक के नाम का तो निर्देश किया गया है, किन्तु आदि या अन्त के किसी भी श्लोक में (वाचस्पति मिश्र) का नामोल्लेख नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त कुमारिल भट्ट आदि का भी कहीं निर्देश नहीं।

(७) **भामती**—भामती टीका का शंकर के अद्वैतवाद के ग्रन्थों में ही नहीं, समस्त भारतीय दर्शन में उच्च स्थान है। विद्वानों का विचार है कि शंकर को ख्याति प्राप्त कराने का बहुत बड़ा श्रेय वाचस्पति मिश्र को ही है। भामती टीका ब्रह्मसूत्र के शांकर-भाष्य की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है।

इस व्याख्या में क्या २ है, यह भी वाचस्पति मिश्र ने ग्रन्थ-समाप्ति के श्लोकों में संक्षेप से, किन्तु स्पष्टतया बतलाया है। उनके शब्दों में इस ग्रन्थ के द्वारा ब्रह्मतत्त्व प्राप्ति की अभिलाषा करने वालों का मनोरथ पूर्ण किया गया है।[७०] भामती ग्रन्थ में शंकर के अद्वैतवाद की विशद व्याख्या है, ब्रह्मज्ञान का सुविशद विवेचन है, अद्वैतवाद के विरोधी वादों न्याय, सांख्य आदि के सिद्धान्तों का खण्डन है। उनका खण्डन करने से पहले प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का स्पष्ट एवं संक्षिप्त प्रतिपादन जैसा इस ग्रन्थ में किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं। बौद्ध दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से भी भामती का कम महत्त्व नहीं है। कुछ बातें तो ऐसी हैं जो वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में केवल भामती में ही प्राप्त होती हैं। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विभाजन तथा उनके मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन भामती में ही प्राप्त होता है। सर्वास्तिवादी के त्रिविध मन्तव्यों का परिचय वाचस्पति मिश्र ने इसी ग्रन्थ में दिया है। साथ ही प्रतीत्य-समुत्पाद की विस्तृत व्याख्या यहीं मिलती है। इस प्रकार की अनेक विवेचनाओं के कारण बौद्ध दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से भामती का बहुत अधिक महत्त्व है।

भामती ग्रन्थ से वाचस्पति मिश्र के सम्बन्ध में भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ अधिक ज्ञात होता है। जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, वाचस्पति मिश्र की समस्त रचनाओं का उल्लेख (रचनाक्रम से) इस ग्रन्थ की समाप्ति पर किया गया है।[७१] साथ ही नृग राजा के समय में भामती ग्रन्थ को वाचस्पति मिश्र ने लिखा, यह सूचना भी यहीं मिलती है।[७२] किन्तु अन्य बहुत कुछ बतलाते हुए भी यह ग्रन्थ यह नहीं बतलाता कि इसका नाम क्या है ? वाचस्पति मिश्र ने अपने कई ग्रन्थों के आदि या अन्त में अपने ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है, परन्तु इस ग्रन्थ के आदि और अन्त में बहुत कुछ कहते

---

७०. अज्ञानसागरं तीर्त्वा ब्रह्मतत्त्वमभीप्सताम्।
नीतिनौकर्णधारेण मयाऽपूरि मनोरथः ॥ २ ॥ भामती, समाप्तिश्लोक।

७१. ऊपर, परि० १, अनु० ५।

७२. दो०, ऊपर, परि० १, अनु० २।

हुए भी 'यह भामती नामक व्याख्या' है ऐसा नहीं कहा। वाचस्पति मिश्र के अन्य किसी ग्रन्थ में, जहाँ तक ज्ञात हुआ है, भामती नाम का उल्लेख नहीं; फिर इस टीका का नाम भामती है यह मानने के निम्न आधार कहे जा सकते हैं :—

(१) गुरु-शिष्य-परम्परा।

(२) वाचस्पति मिश्र की पत्नीविषयक किंवदन्ती, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है[७३]।

(३) 'वेदान्तकल्पतरु' नामक टीका।

इनमें लिखित रूप में तीसरा प्रमाण ही है। वाचस्पति मिश्र के समाप्तिश्लोक[७४] में ग्रथित 'वेदान्तानां निबन्धनम्' की व्याख्या करते हुए वेदान्तकल्पतरु के रचयिता अमलानन्द उपनाम व्यासाश्रम लिखते हैं—'वेदान्तानां' सर्वोपनिषदां 'निबन्धनम्' 'इयमेव भामती[७५]', अर्थात् वेदान्तों सम्बन्धी निबन्ध यही भामती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रन्थ का नामोल्लेख क्यों नहीं किया? यदि इस टीका का नामोल्लेख कर दिया जाता तो यह एक महत्त्वपूर्ण बात होती तथा सम्भवतः इसके द्वारा लोक-श्रुत किंवदन्ती में ऐतिहासिकता सिद्ध हो सकती।

(८) **तत्त्वसमीक्षा या ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा**—वाचस्पति मिश्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों में से यही एक ऐसा है जो अब तक प्राप्त नहीं हो सका। इसका उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थों में विविध प्रसंगों से किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ अवश्य ही विशेष महत्त्व का रहा होगा। उपलब्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में भ्रान्ति या अध्यास का अत्यन्त विशद विवेचन किया गया था। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में विपर्यय सम्बन्धी विविध मतों (असत्ख्याति, अख्याति आदि) की व्याख्या करके वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

दिङ्मात्रमत्र दर्शितं प्रपञ्चस्तत्त्वसमीक्षायामऽस्माभिः कृत इत्युपरम्यते।
(न्या० वा० ता०, पृ० ९१)

"दिशा मात्र यहाँ दिखलाई है इसका विस्तृत विवेचन तो तत्त्वसमीक्षा में हम (वाचस्पति मिश्र) ने कर दिया अतः विराम करते हैं।"

भामती टीका में अध्यास की व्याख्या करते हुए मीमांसक की भ्रान्ति सम्बन्धी व्याख्या के प्रसंग में कहा है—

विस्तरस्तु ब्रह्मतत्त्वसमीक्षायामवगन्तव्यः। भामती, पृ० ३०।
"इसका विस्तार तो ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा में जानना चाहिये।"

---

७३. ऊपर, परि० १, अनु० २।
७४. यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः॥ ३॥ भामती, समाप्ति श्लोक ३।
७५. वेदान्तकल्पतरु; समाप्तिश्लोक व्याख्या, पृ० १०२१।

कतिपय उल्लेखों से यह भी विदित होता है कि बौद्ध दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ होता। भामती टीका में बौद्धों के कार्यकारणभाव की आलोचना करते हुए लिखा गया है—

दिङ्मात्रमत्र सूचितम्। प्रपञ्चस्तु ब्रह्मतत्त्वसमीक्षान्यायकणिकयोः कृत इति नेह प्रतन्यते विस्तरभयात्। (भामती, पृ० ५४१ पंक्ति ६)

"दिशामात्र यहाँ सूचित की है। इसका विस्तार तो ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा और न्यायकणिका में किया है अतः यहाँ विस्तार-भय से अधिक नहीं लिखा जाता।"

इस प्रकार सूक्ष्म दार्शनिक विवेचनाओं की दृष्टि से तत्त्वसमीक्षा या ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा का बड़ा महत्त्व है। वाचस्पति मिश्र द्वारा किये गये बौद्ध दर्शन के निरूपण के अध्ययन में तो उसका और भी अधिक महत्त्व होता, यदि वह उपलब्ध होती।

इस ग्रन्थ का नाम 'तत्त्वसमीक्षा' रहा होगा, ब्रह्मवाद का ग्रन्थ होने के कारण इसे ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा भी कहा जाता था, जैसा कि वाचस्पति मिश्र द्वारा दोनों नामों के प्रयोग से विदित होता है। भामती टीका के समाप्ति श्लोकों में 'तत्त्वसमीक्षा' नाम से ही इसका उल्लेख किया गया है[७६]। वेदान्तकल्पतरु व्याख्या में भी इसका विशेष परिचय नहीं मिलता, केवल इतना प्रतीत होता है कि यह 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ की व्याख्या है[७७]। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं होता।

६. वाचस्पति मिश्र के नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रन्थ

वाचस्पति मिश्र के नाम से बहुधा प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ और भी ग्रन्थ हैं जिनके लेखक भी कोई वाचस्पति मिश्र ही हैं; जैसे न्यायसूत्रों पर ही 'न्यायतत्त्वालोक' नामक सूत्रवृत्ति है जिसके आरम्भ में लिखा है—

श्रीवाचस्पतिमिश्रेण मिथिलेश्वरसूरिणा।
लिख्यते मुनिमूर्धन्यश्रीगोतममतं महत्॥[७८]

इसी प्रकार 'न्यायसूत्रोद्धार' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी वाचस्पति मिश्र की कृति के रूप में उपलब्ध होता है। जिसके आरम्भ में ग्रन्थ रचना का समय भी दिया गया है—

शिवेनोरसि विधृतौ पादौ नत्वापवर्गदौ।
व्यलेखि न्यायसूत्राख्यं चैत्रे वस्वक्षिवासवे॥

इसके अनुसार इस ग्रन्थ का समय वसु (८), अक्षि (२), वासव (१४), अर्थात् १४२८ सम्वत् है। म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद के अनुसार यह विक्रम सम्वत् है[७९]। यदि इसे शक सम्वत् भी माना जाये तो भी यह सुप्रसिद्ध वाचस्पतिमिश्र की कृति नहीं हो सकती। अतः न्यायसूत्रोद्धार के कर्त्ता कोई अन्य वाचस्पतिमिश्र रहे होंगे।

---

७६. यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः। भामती, समाप्तिश्लोक ३।
७७. तत्त्वसमीक्षा ब्रह्मसिद्धिव्याख्या। वेदान्तकल्पतरु, पृ० १०२१।
७८. मि०, म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद, न्या० वा० भूमिका, पृ० ४१।
७९. वही, पृ० १५०।

श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य ने सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका में यह भी निरूपण किया है कि वाचस्पति मिश्र ने 'खण्डनोद्धार' नामक ग्रन्थ भी लिखा था। किन्तु यह संगत नहीं; क्योंकि 'खण्डनखण्डखाद्य' के लेखक श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ में उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि तथा किरणावली के उद्धरण दिये हैं। अतः श्रीहर्ष उदयनाचार्य से भी अर्वाचीन हैं फिर सुविख्यात वाचस्पति मिश्र का श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य पर कुछ लिखना कैसे सम्भव है ? अतः खण्डनोद्धार के लेखक कोई अन्य वाचस्पति मिश्र ही हो सकते हैं।[८०]

इसी प्रकार धर्मशास्त्र सम्बन्धी प्रकरण ग्रन्थों के लेखक जिन्होंने 'विवादचिन्तामणि', 'तीर्थचिन्तामणि', 'श्राद्धचिन्तामणि' आदि ग्रन्थ लिखे हैं, कोई अन्य वाचस्पति मिश्र हैं और सिद्धान्तशिरोमणि आदि ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों के व्याख्याकार भी कोई अन्य ही वाचस्पति मिश्र हैं[८१]। वाचस्पति मिश्र के नाम से काव्यप्रकाश पर टीका भी है, जिसका विश्वनाथ कृत काव्यप्रकाशदर्पण में 'इति वाचस्पतिमिश्रः' तथा दीक्षितभीमसेनकृत सुधासागर व्याख्या में 'सर्वतन्त्रविदो वाचस्पतिमिश्राः' इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। किन्तु यह स्पष्ट ही है कि दार्शनिक जगत् में सुप्रसिद्ध तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र की काव्य-प्रकाश पर टीका नहीं हो सकती; क्योंकि काव्यप्रकाशकार मम्मट वाचस्पति मिश्र से अर्वाचीन हैं[८२]।

७. वैदिक दर्शन विशेषकर न्याय-वैशेषिक का बौद्ध दर्शन से संघर्ष

(१) **प्रारम्भिक युग का संघर्ष**—भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक समय सूत्र और भाष्यों का युग कहा जा सकता है, यद्यपि इसके पश्चात् भी सूत्र और भाष्य लिखे गये, यह विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस युग की मुख्य विशेषताएँ क्या रहीं और कब तक इसे माना जाये, यह एक विवाद का विषय रहा है। जैसा कि डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री ने न्यायवैशेषिक के काल-विभाजन पर विचार करते हुए दिखलाया है, यही उचित प्रतीत होता है कि समस्त भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक युग ५वीं शताब्दी तक बौद्धाचार्य दिग्नाग के प्रादुर्भाव पर्यन्त माना जाये[८३]।

इस प्रारम्भिक युग में वैदिक दर्शनों ने परस्पर एक दूसरे के सिद्धान्तों की आलोचना की। उस समय तक बौद्ध दर्शन का पर्याप्त विकास न होने के कारण बौद्ध दर्शन के साथ तीव्र संघर्ष का अवसर न आया। फिर भी कुछ विद्वानों का विचार है कि न्यायसूत्र, मीमांसासूत्र तथा ब्रह्मसूत्र आदि में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की आलोचना की गई है। जैकोबी ने दार्शनिक सूत्रों की तिथि पर विचार करते हुए इस बात को स्वीकार किया है कि न्यायसूत्र तथा ब्रह्मसूत्रों में शून्यवाद का खण्डन है[८४]। राहुल

८०. वही, पृ० १४६, १५०।

८१. वही, पृ० १५१।

८२. मम्मट का समय ईसा की ११वीं शताब्दी माना जाता है।

८३. भारतीय दर्शनशास्त्र, पृ० १०५ तथा Critique of Indian Realism, p. 95.

८४. Jacobi : Dates of the Philosophical Sutras, of Brāhmaṇas, JAOS, XXXI, 1911.

सांकृत्यायन ने अनेक युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि न्यायसूत्रों के प्रमाण-सिद्धि प्रकरण (अ० २ पाद १ सूत्र १६) में गौतम ने नागार्जुन के मत का खण्डन किया है।[८५] विद्याभूषण ने न्यायसूत्रों की कुछ पंक्तियों को माध्यमिक सूत्र की कुछ पंक्तियों के समान बतलाया है।[८६] उनके विचार में न्यायसूत्रों में नागार्जुन के मन्तव्यों का खण्डन है। श्चेरबात्स्की ने वाचस्पति मिश्र, कुमारिल और शंकर आदि की व्याख्याओं के आधार पर यह प्रकट किया था कि वेदान्त तथा न्यायसूत्रों में विज्ञानवाद का भी खण्डन है।[८७] परन्तु जैकोबी का कथन है कि इन न्यायसूत्रों या ब्रह्मसूत्रों में विज्ञानवाद का खण्डन नहीं, यहाँ केवल शून्यवाद का ही खण्डन है; शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों ही बाह्यार्थवाद का खण्डन करते हैं अतः शून्यवाद का खण्डन विज्ञानवाद के खण्डन के समान प्रतीत होता हैं[८८]। रेन्डिल का कथन है कि पीछे से श्चेरबात्स्की ने भी "जैकोबी" के विचार की यथार्थता को स्वीकार कर लिया था[८९]। इस प्रकार प्रायः विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त आदि के सूत्रों में शून्यवाद का खण्डन हो सकता है, विज्ञानवाद का नहीं। कारण यह है कि विज्ञानवाद के आरम्भ का समय चौथी शताब्दी माना जाता है। यदि न्यायसूत्र आदि को इसके बाद का माना जाये तो यह उचित न होगा; क्योंकि वात्स्यायनभाष्य का खण्डन दिग्नाग ने किया है जिसका समय पांचवी शताब्दी माना जाता है। फिर यह कैसे सम्भव है कि न्यायसूत्र चौथी शताब्दी के बाद लिखे गये ? और, वैशेषिकसूत्र मीमांसासूत्र तथा वेदान्तसूत्र तो न्यायसूत्र से भी प्राचीन हैं। हाँ, सांख्यसूत्र जो कि बहुत बाद के माने जाते हैं, विज्ञानवाद का विरोध करते हैं[९०]। वुड्स का कथन है कि योगसूत्रों (४, १४-२१) में विज्ञानवाद के अवस्तुवाद (Idealism) पर प्रहार किया गया है। यहाँ व्यासभाष्य स्पष्टरूप से विज्ञानवाद को ही दृष्टि में रखता है तथा वाचस्पति मिश्र ने विज्ञानवाद का ही प्रसंग दिखलाया है। किन्तु वुड्स ने भी यह स्वीकार किया है कि यहाँ सूत्रों में विज्ञानवाद या किसी अन्य सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं किया गया[९१]। वस्तुतः भाष्य या टीकाओं की व्याख्या के आधार पर यह निर्णय करना उचित नहीं और न सम्भव ही है कि यहाँ विज्ञानवाद या शून्यवाद का ही उल्लेख है; क्योंकि यदि उन पर निर्भर रहा जायेगा तो जैसा रेन्डिल ने कहा है, न्यायसूत्र और वेदान्तसूत्रों में भी विज्ञानवाद के विरुद्ध अनेक बातें देखी जा सकती हैं[९२]। अतः पुष्ट प्रमाणों के बिना केवल विचार-साम्य के आधार पर ही कहीं शून्यवाद या विज्ञानवाद का प्रसंग नहीं माना जा सकता; क्योंकि इस प्रकार की विचार धारा बुद्ध के समय तथा उससे पूर्व भी दृष्टिगोचर होती है[९३]। असल बात तो यह है कि उस समय के विद्वानों की ऐसी परिपाटी थी कि वे किसी नवीन बात को भी प्रसिद्ध ऋषि

८५. विग्रहव्यावर्तनी की भूमिका, पृ० iv–v.

८६. HIL. pp. 46–47.

८७. Stcherbatsky : Epistemology and Logic as Taught by Later Buddhists.

८८. Jacobi : Dates of the Philosophical Sutras of Brāhmaṇas, JAOS. XXXI, 1911.

८९. Indian Logic in the Early Schools, p. 24.

९०. वही, पृ० ५।

९१. वही, पृ० ५। (James Haughton woods, Yoga System of Patañjali, pp. XVII-XVIII.

९२. वही, पृ० ५।

९३. मिं०, म०म० गोपीनाथ कविराज, Introduction to Jha's Translation of Nyāya, p. IX, X.

मुनियों के नाम से कहना चाहते थे तथा प्रतिपक्षियों के मन्तव्यों का खण्डन करने के लिए भी प्राचीन आचार्यों के वचनों का आश्रय लेते थे, इसीलिए अपने मत की पुष्टि के हेतु सूत्रों की इस प्रकार की व्याख्या कर दी गई है।

इस प्रारम्भिक युग के दर्शन सम्बन्धी भाष्यों में न्यायसूत्रों का वात्स्यायन भाष्य, वैशेषिक पर प्रशस्तपाद भाष्य तथा पूर्व मीमांसा का शाबर भाष्य रक्खे जा सकते हैं। इनमें से शाबर भाष्य विशेष रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही अर्थ विवेचन (मीमांसा) करता है, केवल एक दो स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ बौद्ध दर्शन की आलोचना की गई है। हाँ, कुछ विद्वानों का विचार है कि वात्स्यायन भाष्य में माध्यमिक के सिद्धान्तों की आलोचना है[९४]। विज्ञानवाद का प्रसंग यहाँ भी स्वीकार नहीं किया जाता। यदि न्याय भाष्य में कहीं विज्ञानवाद का प्रसंग ही स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है तो वह वसुबन्धु आदि का विज्ञानवाद नहीं। श्चेरबात्स्की का विचार है कि विज्ञानवाद भी शून्यवाद के समान ही प्राचीन है और सम्भवतः उससे भी प्राचीन[९५]।

प्रशस्तपाद भाष्य का बौद्ध दर्शन से गहरा सम्बन्ध बतलाया जाता है। वास्तव में वैशेषिक का प्रशस्तपाद भाष्य प्रारम्भिक युग तथा संघर्ष युग के सन्धिकाल की रचना है। बौद्धन्याय का तभी विकास हो रहा था। लगभग उसी समय दिग्नाग का प्रमाणसमुच्चय लिखा गया, जिसकी मूल संस्कृत अभी तक पूर्णतया उपलब्ध नहीं हो सकी। प्रथम परिच्छेद का ही उद्धार हो पाया है[९६]। प्रमाणसमुच्चय तथा प्रशस्तपाद भाष्य में किसे पहिली रचना माना जाय तथा किसे बाद की यह विवाद का विषय है। जैकोबी का विचार है कि बौद्धन्याय वैशेषिक से प्रभावित है। श्चेरबात्स्की के अनुसार प्रशस्तपाद ने ही दिग्नाग से तर्क सम्बन्धी बातें ली हैं और उसने दिग्नाग के ऋण को छिपाने का शक्तिभर प्रयास किया है[९७]। किन्तु बाद में श्चेरबात्स्की ने भी यह स्वीकार किया है कि प्रशस्तपाद वसुबन्धु के पूर्वकालीन या समकालीन थे[९८]।

(२) **संघर्ष एवं विकास का युग**—'यह युग भारतीयदर्शन का स्वर्ण युग कहा जा सकता है जिसमें भारतीयदर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विकास हुआ[९९]। इस युग में बौद्ध दर्शन का सभी वैदिक दर्शनों से निरन्तर संघर्ष होता रहा। बाह्यार्थवादी दर्शनों पर बौद्धदर्शन का जाने या अनजाने में गहरा प्रभाव पड़ा और उन पर दिग्नाग के दर्शन की अमिट छाप लग गई। दिग्नाग के उदय के पश्चात् बौद्ध दर्शन नवीन रूप में प्रस्फुटित हुआ, जिसे 'बौद्धन्याय' के नाम से पुकारा जाता है। इस संघर्ष युग के सूत्रधार दिग्नाग ही कहे जा सकते हैं। दिग्नाग ने वात्स्यायन भाष्य की कठोर

९४. Randle H.N. : Indian Logic in the Early Schools, p. 24.

९५. वही, पृ० ३०।

९६. प्रमाण-समुच्चय (Edited and restored by H.R.R. Swami Iyengar M.A., Government Oriental Liabrary, Mysore).

९७. मि०, Indian Logic in the Early Schools, p. 26.

९८. वही, पृ० ३१।

९९. भारतीय दर्शन-शास्त्र, पृ० ११७-१८ तथा Critique of Indian Realism, p. 95.

आलोचना की तथा बौद्धन्याय का प्रसार किया। इसी से बौद्ध दर्शन के साथ वैदिक दर्शनों के निरन्तर संघर्ष का आरम्भ हुआ। दिग्नाग ने न्याय-वैशेषिक के बाह्यार्थवाद पर आक्रमण किया। यह न्याय-वैशेषिक के लिए एक चुनौती थी। उद्योतकराचार्य ने न्याय भाष्य के ऊपर न्यायवार्त्तिक नाम का ग्रन्थ लिखकर इस चुनौती को स्वीकार किया तथा दिग्नाग के आक्षेपों का उत्तर देते हुए वसुबन्धु एवं दिग्नाग के मन्तव्यों की आलोचना भी की। उद्योतकराचार्य ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में स्पष्ट ही लिखा है—"मुनियों में श्रेष्ठ अक्षपाद ने जगत् की शान्ति के लिए जिस शास्त्र का प्रवचन किया था, उसके विषय में कुतार्किकों द्वारा फैलाए हुए अज्ञान की निवृत्ति के लिए मैं यह ग्रन्थ (निबन्ध) लिख रहा हूँ[१००]।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार यहाँ 'कुतार्किक' का अभिप्राय दिग्नाग आदि बौद्धों से है[१०१]। उद्योतकर के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्टरूप में बतलाया है—"यद्यपि भाष्यकार (वात्स्यायन) ने इसका प्रतिपादन कर दिया था तथापि दिग्नाग इत्यादि अर्वाचीनों ने कुहेतु के अन्धकार को उठाकर उस शास्त्र को आच्छादित कर दिया अतः वह तत्त्व-निर्णय में समर्थ न रहा तथा उद्योतकर के द्वारा अपने निबन्ध के प्रकाश से वह अन्धकार दूर किया जा रहा है[१०२]।

उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक का धर्मकीर्ति ने अपने तर्कों से खण्डन किया था तभी वाचस्पति मिश्र ने उस पर न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका लिखी। सतीशचन्द्र विद्याभूषण का विचार है कि उद्योतकर तथा धर्मकीर्ति सम्भवतः समकालीन थे। उनका कहना है कि उद्योतकर ने 'वादविधि' ग्रन्थ का उल्लेख किया है जो धर्मकीर्ति के 'वाद-न्याय' का ही दूसरा नाम है[१०३]। किन्तु यह कथन युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता; क्योंकि यहाँ 'वादविधि' ग्रन्थ वह है जिसे चीनी-परम्परा के अनुसार वसुबन्धु की कृति माना गया है तथा उद्योतकर के समकालीन चीनी यात्री ह्वेनस्वांग ने जिसका उल्लेख किया है। न्यायवार्त्तिक में इसके अतिरिक्त कोई अन्य संकेत ऐसा नहीं मिलता जिससे यह विदित होता हो कि उद्योतकर धर्मकीर्ति से परिचित थे। उद्योतकर ने जहाँ दिग्नाग के प्रत्यक्ष आदि के लक्षणों की आलोचना की है वहाँ धर्मकीर्ति के परिष्कृत लक्षण की ओर उनका ध्यान भी नहीं गया[१०४]। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक की टीका में अवश्य ही धर्मकीर्ति के लक्षणों की आलोचना की है। इससे यह स्पष्ट ही विदित होता है कि उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक की आलोचना धर्मकीर्ति ने की थी उसके उत्तर में ही वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका लिखी। जैन श्लोकवार्त्तिक ने यह स्पष्टतया उल्लेख भी किया है कि धर्मकीर्ति ने उद्योतकर की आलोचना की थी। विद्याभूषण ने उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक का एक प्रसंग न्यायबिन्दु में भी दिखलाया है, किन्तु वह सन्देहास्पद है[१०५]।

उद्योतकर (६ठी शती) के पश्चात् न्याय-वैशेषिक की ओर से बौद्धों के साथ संघर्ष करने वालों में वाचस्पति मिश्र (९वीं शती) का नाम ही लिया जाता है। इस बीच के

१००. यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः। न्यायवार्त्तिक मङ्गलश्लोक।

१०१. कुतार्किकैर्दिग्नागप्रभृतिभिः। न्या० वा० ता०, पृ० ३।

१०२. न्या० वा० ता०, पृ० २।

१०३. HIL p. 124.

१०४. मि०, Randle H.N.: Indian Logic in the Early Schools, pp. 33-34.

१०५. मि०, Randle H.N.: Indian Logic in the Early Schools, p. 34.

समय में न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में कोई ऐसा महान् दार्शनिक नहीं हुआ जो बौद्धों की चुनौती को स्वीकार करता। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट का नाम अवश्य लिया जा सकता है; किन्तु उनका समय अनिश्चित ही है तथा वह सम्भवतः ९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हो सकता है, इससे पूर्व नहीं। इस बीच के समय में बौद्ध दर्शन का विशेषतः पूर्व मीमांसा सम्प्रदाय से संघर्ष रहा। इस समय बौद्धों के तीक्ष्ण तर्कों का प्रतिवाद करने वाले आचार्य कुमारिल, प्रभाकर तथा मण्डन मिश्र कहे जा सकते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसा का क्षेत्र सामान्यतः यज्ञ तथा कर्म-काण्ड रहा था तथापि कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र ने पूर्व-मीमांसा के क्षेत्र में विशुद्ध दार्शनिक विचारों का विवेचन किया। "कुमारिल और प्रभाकर ने दिग्नाग सम्प्रदाय पर जोरदार आक्रमण किया और उन्होंने बाह्यार्थवाद की पुष्टि में कतिपय ऐसे सिद्धान्तों को जन्म दिया जो बाह्यार्थवाद (realism) के इतिहास में बहुत ही महत्त्व-पूर्ण स्थान रखते हैं"।[१०६] लगभग इसी समय शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन की आलोचना की तथा शून्यवाद एवं विज्ञानवाद से प्रभावित होकर जगत् के मिथ्या होने का प्रतिपादन किया। जनश्रुति है कि शंकर का अद्वैतवाद या मायावाद छिपे रूप में बौद्ध दर्शन ही है[१०७]। कुमारिल के अनुयायी मण्डन मिश्र ने भी 'विधिविवेक' नामक ग्रन्थ में बौद्ध-दर्शन की आलोचना की।

नवीं शताब्दी के मध्य में आचार्य वाचस्पति मिश्र का उदय हुआ। उनकी भारतीय दर्शन को सर्वतोमुखी देन है। वैदिक दर्शनों की व्याख्या करते हुए उन्होंने बौद्ध दर्शन के आक्षेपों का उत्तर दिया तथा बौद्ध दर्शन, विशेषकर दिग्नाग और धर्मकीर्ति के दर्शन की कठोर आलोचना की। वैदिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन के संघर्ष में वाचस्पति मिश्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस संघर्ष के फलस्वरूप इस समय भारतीय दर्शन में अनेक नवीन सिद्धान्तों का विकास हुआ। यह युग भारतीय दर्शन का स्वर्ण-युग है। यद्यपि वाचस्पति मिश्र के पश्चात् भी अनेक आचार्यों ने, जिनमें उदयनाचार्य (९८४ ई०) तथा श्रीधर (९९१ ई०) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, बौद्ध दर्शन सम्बन्धी संघर्ष-परम्परा का निर्वाह किया तथापि वहाँ वाचस्पति मिश्र का सा दर्शनिक विवेचन नहीं मिलता। वहाँ दार्शनिक तत्त्व की न्यूनता हो गई और वाग्जाल की अधिकता। ११ वीं शताब्दी के पश्चात् तो बौद्ध-दर्शन तथा वैदिक दर्शन का यह संघर्ष पिष्टपेषण के रूप में ही रह गया। इस प्रकार यह दार्शनिक संघर्ष समाप्त हुआ और साथ ही भारत में नवीन दार्शनिक उद्भावना का युग भी समाप्त हो गया। यह संघर्ष युग लगभग ६०० वर्ष (६ ठी शताब्दी से ११ वीं शताब्दी) तक रहा। इसमें बौद्ध दर्शन तथा वैदिक दर्शन की ओर से अनेक विद्वानों ने भाग लिया जिनमें वाचस्पति मिश्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

८—वाचस्पति मिश्र और बौद्ध दर्शन

वाचस्पति मिश्र के प्रायः सभी ग्रन्थों में बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है। जैसा कि ऊपर[१०८] बतलाया गया है न्यायकणिका, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका एवं

१०६. डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय दर्शन-शास्त्र, पृ० ७५।

१०७. 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तु' श्चेरबात्स्की ने शंकराचार्य को बौद्ध-दर्शन का अवैध पुत्र (Bastard son of Buddhism) कहा है।

१०८. ऊपर, परि० १ अनु० ५।

भामती टीका में तो अत्यन्त विस्तार के साथ बौद्ध दर्शन के मन्तव्यों का निरूपण किया गया है। यद्यपि वाचस्पति मिश्र के समक्ष दिग्नाग सम्प्रदाय ही मुख्य प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रस्तुत था तथा दिग्नाग और धर्मकीर्ति के मतों का ही उन्होंने विशेषरूप से निरूपण किया है तथापि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों का भी उनके ग्रन्थों में पर्याप्त विवेचन मिलता है।

बौद्धों के किसी २ दार्शनिक सिद्धान्त का तो भिन्न भिन्न ग्रन्थों में कई बार वर्णन किया गया है। इस प्रकार उसके सभी पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, उदाहरणार्थ क्षणभङ्गवाद, बाह्यार्थभङ्ग तथा अपोहवाद आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न्यायकणिका, तात्पर्यटीका तथा भामती में सुन्दर विवेचन मिलता है। कहीं कहीं विस्तारभय से अन्य ग्रन्थ का उल्लेख भी कर दिया गया है।

वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यहाँ बौद्ध दर्शन का विवेचन उसके प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। कहीं कहीं प्रमाणवार्त्तिक[१०९] आदि के उद्धरण भी दिये गये हैं। जहाँ उद्धरण नहीं दिये गए वहाँ भी वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ अत्यन्त निष्पक्ष एवं विशद रूप से बौद्ध दर्शन के मत को प्रस्तुत करते हैं। इस विवेचन से वाचस्पति मिश्र के गम्भीर अध्ययन, बौद्ध दर्शन सम्बन्धी विद्वत्ता और निष्पक्षता एवं विशद व्याख्या शैली का पता चलता है। उन्होंने प्रतिपक्षी के भाव को उसी के समान समझ कर विशदरूप से प्रस्तुत किया है और तभी उसका प्रतिवाद करने का प्रयास किया है। ऐसा नहीं कि प्रतिपक्षी के सिद्धान्त को मनमाने ढंग से प्रस्तुत करके उसके खण्डन का प्रयास किया हो, जैसा कि दार्शनिक संघर्षों में हो जाया करता है। इससे उनकी विवेकशीलता एवं सत्य के प्रति पक्षपातबुद्धि का परिचय मिलता है। उनकी प्रबल धारणा है—'भूतार्थपक्षपातो हि बुद्धेः स्वभावः।'[११०]

९—वाचस्पति मिश्र का बौद्ध दर्शन के प्रति दृष्टिकोण

वाचस्पति मिश्र वैदिक धर्म एवं दर्शन के पोषक थे। बौद्ध धर्म तथा दर्शन के प्रति उनके हृदय में विरोधभाव भी था। इसी हेतु उन्होंने कहीं कहीं अत्यन्त कठोर शब्दों में उसकी आलोचना की थी। बौद्ध दर्शन के अनुयायियों को वे 'पर' समझते थे—गैर मानते थे। एक वैदिक मतावलम्बी के लिए वेदबाह्य दर्शन के प्रति यह भावना स्वाभाविक ही थी।

---

१०९. (१) सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवमिति तृष्यतः।
यैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनम्।
प्रमाणवार्त्तिक १, २०२ तथा न्या० वा० ता०, पृ० ८४।

(२) निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥
प्रमाणवार्त्तिक ३२, २१। तथा न्या० वा० ता०, पृ० ९५।
इसी प्रकार न्या० वा० ता०, पृ० १३६, १३७, १५३, १५८, १६१, १६२, ४८४, ४८६, ६०१, ६९३ इत्यादि पर प्रमाणवार्त्तिक के उद्धरण हैं। न्यायकणिका, भामती तथा तत्त्ववैशारदी में भी प्रमाणवार्त्तिक के उद्धरण दिये गये हैं।

(३) प्रमाणसमुच्चय के उद्धरण न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के पृ० १४६, १४७ इत्यादि पर हैं।

११०. न्या० वा० ता०, पृ० ९५।

इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने 'यदाहुर्बाह्या अपि'[111], 'यच्चोक्तं परैः'[112] इत्यादि स्थलों पर बौद्ध-दार्शनिकों का 'बाह्य' तथा 'पर' शब्द के द्वारा उल्लेख किया है। इसके साथ ही उन्होंने अत्यन्त उदार दृष्टिकोण का परिचय भी दिया है तथा कई स्थलों पर 'भदन्त' शब्द के साथ उनका उल्लेख किया है; जैसे—'यथाऽऽह भदन्तधर्मोत्तरः'।[113]

यद्यपि 'भदन्त' शब्द का अर्थ टीकाग्रन्थों में भी निश्चयात्मक रूप से नहीं दृष्टिगोचर होता तथापि इसके बौद्ध दर्शन के प्रयोग से यह स्पष्ट ही है कि यह आदरसूचक शब्द रहा होगा। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने 'भदन्त' शब्द का अन्य स्थलों में भी प्रयोग किया है; वहाँ यह आदरसूचक प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः वहाँ 'बौद्ध' के अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है; जैसे—'इति भदन्तेनोक्तम्' (न्या० वा० ता०, पृ० ६९३)। इसी प्रकार 'कोऽन्यो भदन्ताद् वक्तुमर्हति' (न्या० वा० ता०, पृ० ६९३)। अन्य कई स्थलों पर दिग्नाग के मत को उद्धृत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'भदन्त' शब्द का प्रयोग किया है।[114]

इस के अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने कहीं कहीं 'नास्तिक' आदि शब्दों के द्वारा भी बौद्ध दार्शनिकों का उल्लेख किया है; जैसे—इत्यास्तामेतन्नास्तिकमानोपमर्दनमिति। (न्या० वा० ता०, पृ० ४९१)। बुद्धवाक्यों की अनाप्तता बतलाते हुए सांख्यतत्त्वकौमुदी का० ५ तथा न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (पृ० ४३२) में कुछ कठोर शब्दों का भी व्यवहार कर दिया है। जैसे—'**आप्तग्रहणेनाऽयुक्ताः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनाम् आगमाभासाः परिहृता भवन्ति। अयुक्तत्वं चैषां विगानात्, विच्छिन्नमूलत्वात् प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च, कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद् बोद्धव्यम्।**' यद्यपि इस प्रकार के शब्द-प्रयोग प्रयोक्ता की असहिष्णुता के सूचक समझे जाते हैं तथापि उस संघर्ष के युग में इस प्रकार के प्रयोग सामान्यरूप से होते थे। अत एव वाचस्पति मिश्र का इसमें कोई दोष नहीं प्रतीत होता।

---

१११. वही, पृ० ९५।

११२. वही, पृ० २१७।

११३. वही, पृ० ४८५।

११४. (१) भ्रान्तो भदन्त दिग्नाग आक्षिपति। न्या० वा० ता०, पृ० २००।

(२) यथोक्तं भदन्तेन–आप्तवाक्याविसंवादसामान्यादनुमानता, वही, पृ० २०५।

(३) अत्रान्ययोगव्यवच्छेदं वाक्यार्थं मन्वानो भदन्तः प्रतिज्ञालक्षणमतिव्याप्त्य-व्याप्तिभ्यामाक्षिपति। वही, पृ० २६८।

(४) यदस्मल्लक्षणमनेन दोषेण भङ्क्त्वा भदन्तेनान्यथा लक्षणं प्रणीतं तदेव दुष्टमित्याह। वही, पृ० २७०।

(५) स्थानान्तरीयं च भदन्तस्य लक्षणं—साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः। वही, पृ० २७३।

(६) एतत्किल हेतुलक्षणं भदन्तो दूषयांबभूव। वही, पृ० २७७।

(७) तदुक्तं भदन्तेन–तत्रापि विशेषणमनर्थकम्। वही, पृ० २७९।

(८) अत्र भदन्तेनेदं साध्यसमलक्षणमुदाहरणान्तरं कल्पयित्वा दूषितम्। वही, पृ० ३४६।

(९) यत्पुनर्भदन्तेन कालातीतस्य व्याख्यानं कृतम्। वही, पृ० ३४८।

१०. बौद्ध ग्रन्थों तथा आचार्यों का नामतः उल्लेख

यद्यपि वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में प्रचुरमात्रा में बौद्ध दर्शन का निरूपण किया गया है तथापि सर्वत्र ग्रन्थों एवं आचार्यों का नामनिर्देश नहीं किया गया। ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं जहाँ ग्रन्थों का नामनिर्देश किया गया है। उन्होंने बौद्ध-दार्शनिक सम्प्रदायों का निरूपण करते हुए 'बोधिचित्तविवरण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है—'यथोक्तं बोधिचित्तविवरणे' (भामती, पृ० ५२३)। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने किसी बौद्ध दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ का नामोल्लेख किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उन्होंने अनेक स्थलों पर एके, अपरे, केचित् इत्यादि सर्वनामों द्वारा ही बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों को उद्धृत किया है। कहीं कहीं वैनाशिक[११५], सौगत[११६], बौद्ध[११७] आदि शब्दों का ही उल्लेख किया है। कहीं कहीं बौद्ध सम्प्रदायों का भी नाम निर्देश किया है; जैसे—

(१) इति सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च प्रतिपेदिरे। न्या० वा० ता०, पृ० ६०९।
(२) विज्ञानवाद्याह। वही, पृ० ६५३।
(३) यदि माध्यमिको ब्रूयात्। वही, पृ० ३६२।

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों का नामतः निर्देश किया गया है।[११८]

इन उदाहरणों से विदित होता है कि वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रचुरता से नामोल्लेख किया है। साथ ही उन्होंने बौद्ध दर्शन के आचार्यों के मत भी नाम निर्देशपूर्वक उद्धृत किये हैं, यद्यपि उद्योतकर के न्यायवार्तिक, मण्डन मिश्र के विधि-विवेक तथा शङ्कराचार्य के शारीरक भाष्य में बौद्ध आचार्यों का नामनिर्देश नहीं किया गया। सम्भवतः वाचस्पति मिश्र ने सबसे अधिक बार दिग्नाग का नाम निर्देश किया है।[११९] न्यायतात्पर्यटीका में वसुबन्धु या सुबन्धु का भी कई बार उल्लेख किया गया है।[१२०]

धर्मकीर्ति का कहीं पूर्ण (धर्मकीर्ति) नाम से; जैसे—'यथाह धर्मकीर्तिः'। (भामती, पृ० ५४९) तथा कहीं आधे नाम से; जैसे—'कीर्तिरप्याह। (न्या० वा० ता०, पृ० ६९३) 'यदाह कीर्तिः' (वही, पृ० ७०० तथा न्यायकणिका पृ० १९२) उल्लेख किया गया है। यहाँ वाचस्पति मिश्र की एक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, वह यह कि वाचस्पति मिश्र ने धर्मकीर्ति के प्रमाण-वार्त्तिक की अनेक कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथापि कहीं भी ग्रन्थ का नाम निर्देश नहीं किया, प्रायः 'यदाह' या 'यथोक्तम्' शब्द से उनको उद्धृत कर दिया है।

११५. देखिये; न्या० वा० ता०, पृ० २३९, २४२, २५५, ५०७; तत्त्ववैशारदी, पृ० १, ३२ आदि।
११६. न्या० वा० ता०, पृ० ५२१ आदि।
११७. न्या० वा० ता० पृ० १८१, २५८, २९२, २९८, ३२१, ३२४, ४४२, ५०८, ५२१, ५५१, ६०९, ६४५ आदि।
११८. देखिये, आगे परि० २ अनु० २।
११९. न्या० वा० ता०, पृ० २, ३, ४५, ११८, १४६, १४७, १५३, १७९, १८०, १८९, २००, २८८, २९०, २९१ तथा न्यायकणिका पृ० १९२ आदि।
१२०. न्या० वा० ता०, पृ० १५०, २९८, ३१७ आदि।

११. वाचस्पति मिश्र और श्चेरबात्स्की

संस्कृत में विद्यमान बौद्ध दर्शन के अध्ययन और व्याख्या करने वालों में आधुनिक रूसी विद्वान् श्चेरबात्स्की का प्रमुख स्थान है। उन्होंने बौद्ध दर्शन के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों पर प्रकाश डालने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, जिन्हें प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। उनका 'बुद्धिस्ट-लॉजिक' नामक बृहत् ग्रन्थ दिग्नाग के दार्शनिक सम्प्रदाय का यथार्थ रूप प्रस्तुत करता है। श्चेरबात्स्की के ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जहाँ दिग्नाग दर्शन के अध्ययन में उन्हें तिब्बती तथा चीनी भाषा के ग्रन्थों से सहायता मिली है, वहाँ कदाचित् उससे भी बढ़कर सहायता वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों से मिली है। फलतः उन्होंने बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए जहाँ दिग्गनाग, धर्मकीर्ति और कमलशील आदि को उद्धृत किया है अथवा प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है, वहाँ वाचस्पति मिश्र को भी।[१२१] वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में उन्होंने विशेषकर न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका से सहायता ली है। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय इन ग्रन्थों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है, साथ ही बौद्धों के कुछ मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिये न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका के कुछ अंशों का अविकल अंग्रेजी अनुवाद भी श्चेरबात्स्की ने किया है।[१२२]

श्चेरबात्स्की का विचार है कि दर्शन शास्त्र की गहन समस्याओं की व्याख्या करने में वाचस्पति मिश्र अद्वितीय थे उनका ब्राह्मण-दर्शन सम्बन्धी ज्ञान विस्तृत था तथा बौद्ध दार्शनिक साहित्य सम्बन्धी मौलिक ज्ञान था।[१२३]

---

१२१. मि०, डा० धर्मेंद्र नाथ शास्त्री, Critique of Indian Realism, pp. 28-29.

१२२. (I) Vācaspatimiśra on the Buddhist Theory of perception. (Nyāya vārtika tātparyatīka, Benares ed. 1925, pp 133.9—144.2) ; BL.Vol. II, pp. 257-298.

(II) Vācaspatimiśra on the Buddhist theory of a Redical distinction between sensation and conception (Pramāṇavyavasthā *Versus* Pramāṇa samplava) Nyāya-vārtika-tātparya-tīkā. pp. 17.26 ff. B L. Vol. II, pp. 303-308.

(III) The Nyāya-kaṇikā of Vācaspatimiśra on the theory of Mental Sensation. (pp. 120.7-120.17) B L. Vol. II, pp. 318-321.

(IV) Vācaspatimiśra on the Buddhist theory of identity between the act and content of knowledge and on co-ordination between our images and external reality. Nyāyakaṇikā, pp. 254.12 - 260.22; B L. Vol. II, pp.352-372.

(V) Vācaspatimiśra on Buddhist Nominalism (Apohavāda) Nyāya-vārtika tātparyatīkā. pp. 483 .18 ff. B L. Vol. II, pp. 403-432.

१२३. बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० २५७ टिप्पणी १.

श्चेरबात्स्की ने वाचस्पति मिश्र का बड़े सम्मान के साथ प्रशंसात्मक परिचय दिया है[१२४]—

"नवम शताब्दी में न्याय–सम्प्रदाय में वाचस्पति मिश्र के रूप में एक ऐसे व्यक्ति का आविर्भाव हुआ जो सम्भवतः भारतीय ब्राह्मण-दार्शनिकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था, उसका ज्ञान आश्चर्यजनक है उसकी जानकारी सदा मौलिक है, उसकी कठिन तथा गहन सिद्धान्तों की व्याख्या भी अत्यन्त स्पष्ट है तथा उसकी निष्पक्षता आदर्श (अनुकरणीय) है।"

श्चेरबात्स्की का विश्वास है कि वाचस्पति मिश्र नवीन दार्शनिक मन्तव्यों के उद्भावक ही नहीं हैं, अपितु वे भारतीय दर्शन के ऐसे इतिहास-वेत्ता हैं जिन्हें सच्ची वैज्ञानिक बुद्धि प्राप्त है।[१२५]

श्चेरबात्स्की का कथन है कि वाचस्पति मिश्र की प्रथम कृतियों में से एक न्यायकणिका तथा अन्तिम एवं प्रौढ़ कृति न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका बौद्धसिद्धान्तों की व्याख्या तथा खण्डन में प्रायः पूर्णतया तत्पर हैं।[१२६]

इस प्रकार श्चेरबात्स्की के मतानुसार बौद्ध दर्शन के विवेचन में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

———

१२४. In the IXth century the school of Naiyāyiks produced in the person of Vācaspatimiśra a man who is perhaps the most distinguished among the scholarly philosophers of brahmaṇic India. His knowledge is *overwhelming*, his information always first-hand, his exposition, even of the most difficult and abstruse theories, very *lucid* his impartiality exemplary. (B L. Vol. I, p. 50)

१२५. He is not a creator of new philosophic theories. But he is an historian of philosophy imbibed with a true scientific spirit. (B L. V ol. I, p. 50)

१२६. One of his first works the Nyāya-kaṇikā and his latest and ripest great work Nyāya-vārtika-tātparya-tika are almost entirely devoted to the exposition and refutation of Buddhist theories. (BL, Vol. I, p. 50)

परिच्छेद-२

बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदाय

१. बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास

वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का निरूपण प्रसंगवश ही किया है। ब्रह्म-सूत्र शांकर भाष्य की व्याख्या करते हुए, भामती टीका में, बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। कहीं कहीं बौद्ध-दर्शन के तत्त्वों का निरूपण करते हुए किसी विशेष दार्शनिक सम्प्रदाय का नाम निर्देश भी किया है। इसी से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वाचस्पति मिश्र बौद्धों के कितने दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते थे। शांकर भाष्य की भामती टीका में वे लिखते हैं :—

"(शंकराचार्य ने) वैनाशिक (बौद्ध) के मत को प्रस्तुत करने के लिए उसके प्रकारों को बतलाया है कि वह (बौद्ध सिद्धान्त) बहुत प्रकार का है, वादी के भेद से और समझ (प्रतिपत्ति) के भेद से। वादी भेद का तात्पर्य यह है कि कोई सर्वास्तिवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, कोई ज्ञानमात्र की सत्ता को और कोई सर्वशून्यता को। किन्तु उन सर्वज्ञों के तत्त्वज्ञान में भेद नहीं हो सकता; क्योंकि तत्त्व तो एकरूप होता है इसलिए पूर्वकथन के प्रति पूर्णतया सन्तोष न होने के कारण कहते हैं—'अथवा शिष्यों के भेद से (विनेयभेदाद्) बौद्धों का दार्शनिक सिद्धान्त अनेक प्रकार का है'। मन्द, मध्यम तथा उत्कृष्ट बुद्धिवाले तीन प्रकार के शिष्य होते हैं। इनमें जो मन्द बुद्धि वाले होते हैं, उनको संस्कारों (आशय) के अनुसार अथवा बुद्धि की (न्यूनता की) दृष्टि से सर्वास्तिवाद के उपदेश द्वारा शून्यता में पहुँचाया जाता है। जो मध्यम बुद्धि वाले हैं उनको ज्ञानमात्र की सत्ता का उपदेश देकर शून्यता का बोध कराया जाता है। जो उत्कृष्ट बुद्धि वाले हैं उनको साक्षात् रूप में ही शून्यता तत्त्व समझाया जाता है। जैसा कि बोधिचित्तविवरण में कहा गया है—

लोकहितकारी बुद्धों के उपदेश (देशनाः) व्यक्तियों के संस्कार अथवा बुद्धि (आशय) की दृष्टि से किये गये हैं। वे संसार में अनेक (सर्वास्तिवाद इत्यादि) साधनों द्वारा दिये गये हैं अतः भिन्न भिन्न प्रकार के हो गये हैं। वे उपदेश गम्भीर तथा ऊपरी दृष्टि रखने वालों (उत्तान) के भेद से और कहीं कहीं दोनों प्रकार के (स्थूल तथा सूक्ष्म) होकर भिन्न से प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका रूप भिन्न होते हुए भी वस्तुतः शून्यता से अभिन्न है; क्योंकि शून्यतारूपी अद्वैततत्त्व ही उनका यथार्थ स्वरूप है।[1]"

---

१. वैनाशिकमतमुपन्यसितुं तत्प्रकारभेदानाह—स च बहुप्रकार इति। वादिवैचित्र्यात् खलु केचित सर्वास्तित्वमेव राद्धान्तं प्रतिपद्यन्ते केचित् ज्ञानमात्रास्तित्वम्, केचित् सर्वशून्यताम्। अथ त्वत्र भवतां सर्वज्ञानां तत्त्वप्रतिपत्तिभेदो न सम्भवति, तत्त्वस्यैकरूप्यादित्येतदपरितोषेणाह—विनेयभेदाद्वा। हीनमध्यमोत्कृष्टधियो हि शिष्या भवन्ति। तत्र ये हीनमतयस्ते सर्वास्तित्ववादेन तदाशयानुरोधात् शून्यतायामवतार्यन्ते। ये तु मध्यमाः, ते ज्ञानमात्रास्तित्वेन शून्यतायामवतार्यन्ते। ये तु प्रकृष्टमतयः तेभ्यः साक्षादेव शून्यतातत्त्वं प्रतिपाद्यते यथोक्तं बोधिचित्तविवरणे—

भाव यह है—कुछ बौद्ध मतानुयायियों का कथन है कि बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को जो उपदेश दिया उसे उन्होंने अपनी अपनी मति के अनुसार ग्रहण कर लिया और फिर अपनी समझ (प्रतिपत्ति) के अनुसार उन्होंने बुद्ध के उपदेशों का विविध प्रकार से प्रचार किया। इसी से बौद्ध सिद्धान्त के विविध प्रस्थान प्रचलित हो गये।[२] इस भाव को आचार्य शंकर ने इन शब्दों में प्रकट किया है—'स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदात्'[३] —और वह प्रतिपत्ति (समझ) के भेद से बहुत प्रकार का है।

अन्य बौद्धमतानुयायियों का कथन है कि बुद्ध ने उत्तम, मध्यम, तथा निकृष्ट बुद्धि वाले शिष्यों की योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का उपदेश दिया था, किन्तु उनका लक्ष्य शून्यता (तत्त्व) का बोध कराना ही था। इसी आधार पर बौद्धों के नाना सम्प्रदाय हो गये। आचार्य शंकर ने इस भाव को इन शब्दों में प्रकट किया है—'विनेयभेदाद् वा'[४]—अथवा शिष्यों (विनेय) के भेद से वह बहुत प्रकार का है।

वाचस्पति मिश्र ने बोधिचित्तविवरण का उद्धरण देते हुए शंकराचार्य के उपर्युक्त कथन की व्याख्या की है। यह व्याख्या बौद्ध आचार्यों के मत के सर्वथा अनुकूल जान पड़ती है। बौद्ध आचार्यों की यह धारणा रही है कि भगवान् बुद्ध का तात्पर्य शून्यता का उपदेश देने में ही था,[५] किन्तु उन्होंने भ्रान्तदृष्टि वाले मनुष्यों की दृष्टि से पञ्चस्कन्ध आदि बाह्य तत्त्वों का उपदेश किया। जैसा कि धर्मकीर्ति ने बतलाया है—

तदुपेक्षितत्त्वार्थैः कृत्वा गजनिमीलनम्।
केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते॥ प्र० वा०, २, २१९।

"अर्थात् अद्वयशून्यतत्त्व के ज्ञाता भगवान् बुद्ध ने दोनों ओर देखते हुए भी आंखें मूंदे हुए गज के समान अपने आपको अतत्त्वज्ञ की भाँति दिखलाकर अविद्याग्रस्त लोगों की द्वैतग्राहिणी बुद्धि के अनुसार बाह्यस्कन्धायतन आदि पदार्थों पर विचार किया है"।[६]

मोक्षाकर गुप्त ने भी तर्कभाषा में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।[७] फिर भी यह दृष्टिकोण बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतथ्य यह है कि बुद्ध भगवान् ने अपने समय में जो उपदेश दिया था, देश काल परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन होते गये। जब बौद्ध धर्म तथा दर्शन का विकास हुआ तो उसके साथ साथ देश-भेद तथा काल-भेद के अनुसार अनेक नवीन बातें स्वीकार कर ली गईं और प्राचीन धारणाएँ बदलती चली गईं। बौद्ध धर्म के हीनयान से महायान की ओर अग्रसर होने की यही

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः। भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः पुनः॥
गम्भीरोत्तान भेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा। भिन्नाऽपि देशना भिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा।

भामती, पृ० ५२३।

बौद्धों के अनुसार बुद्ध अनेक हैं अतएव 'लोकनाथानां' में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। अथवा आदरार्थक बहुवचन भी हो सकता है।

२. मि०, कल्पतरुपरिमल, पृ० ५२३।
३. ब्रह्मसूत्र शा० भाष्य, पृ० ५२३।
४. वही, पृ० ५२३।
५. अतो लक्षणशून्यत्वान्निस्वभावाः प्रकाशिताः। प्र० वा०, २, २१५।
६. मि०, प्र० वा० मनो०, २, २१९।
७. (मो०) तर्कभाषा, पृष्ठ ३४।

कहानी है और बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास के मूल में भी यही ऐतिहासिक तथ्य निहित है ।

२. वाचस्पतिमिश्र द्वारा निर्दिष्ट बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय

यहाँ वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध दर्शन के अनेक प्रकार बतलाये हैं, किन्तु उनका संख्या से निर्देश नहीं किया । इसके आगे शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन के तीन वादों का उल्लेख किया है :—

तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति । केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिनः इति ।

(ब्रह्मसूत्र, शा० भाष्य, पृ० ५२४)

'उनमें ये तीन वादी होते हैं—कोई सर्वास्तिवादी हैं, कोई विज्ञानमात्र का अस्तित्व मानने वाले हैं और दूसरे सर्वशून्यता वादी हैं ।'

शंकराचार्य के इस कथन की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

यद्यपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदोऽस्ति, तथापि सर्वास्तितायामस्ति संप्रतिपत्तिरित्येकीकृत्योपन्यासः । तथा च त्रित्वमुपपन्नमिति ।

(भामती, पृ० ५२४)

"अर्थात् यद्यपि वैभाषिक और सौत्रान्तिक का पारस्परिक मतभेद है तथापि सर्वास्तिता को मानने में दोनों एकमत (संप्रतिपत्तिः=ऐकमत्य) हैं । इस हेतु शंकराचार्य ने इन दोनों को एक मानकर यहाँ (तीन भेदों का) उल्लेख किया है । इस प्रकार तीन भेद (त्रित्वम्) बतलाना संगत होता है ।"

यह स्पष्ट ही है कि शंकराचार्य ने बौद्धों के तीन वादों का उल्लेख किया है। उन्होंने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में इन तीनों का ही विस्तारपूर्वक खण्डन किया है ।[८] इनमें से एक सर्वास्तिवादी है, दूसरा विज्ञानवादी तथा तीसरा शून्यवादी । इनमें विज्ञानवादी तथा शून्यवादी का शंकराचार्य ने नामतः निर्देश किया है, किन्तु सर्वास्तिवादी से उन्होंने किस सम्प्रदाय का निर्देश किया है, यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता । वाचस्पति मिश्र ने 'सर्वास्तिवादी' शब्द से वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दोनों सम्प्रदायों का ग्रहण किया है (क्योंकि दोनों 'सर्वास्तिता' को स्वीकार करते हैं अतः दोनों सर्वास्तिवादी हैं) तथा दोनों का एक में समावेश हो जाने के कारण शंकराचार्य के कथन में तीन (त्रित्वम्, त्रयोवादिनः) संख्या की संगति लगाई है । इससे यह विदित होता है कि वाचस्पति मिश्र के मतानुसार बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी । विज्ञानवादी सम्प्रदाय के लिए 'योगाचार' और शून्यवादी सम्प्रदाय के लिए 'माध्यमिक'

---

८. अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्ध-प्रलापित्वम् । ब्रह्मसूत्र, शा० भाष्य, पृ० ५५८ ।

शब्द का भी प्रयोग होता है। वाचस्पति मिश्र ने इन चारों सम्प्रदायों का विविध नामों से अनेकशः उल्लेख किया है।[९]

यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने कहीं कहीं 'वात्सीपुत्रीय' आदि का भी उल्लेख किया है तथापि 'वात्सीपुत्रीय' को वे वैभाषिक के अन्तर्गत ही मानते हैं, यह भी वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है।[१०] इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने वसुबन्धु, दिग्नाग एवं धर्मकीर्ति का अनेक स्थलों पर नामतः निर्देश किया है तथा उनके मन्तव्यों को उद्धृत करके उनका खण्डन किया है, किन्तु वहाँ स्पष्ट रूप से यह नहीं प्रतीत होता कि वाचस्पति मिश्र ने इन आचार्यों को किस (बौद्ध) दार्शनिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना है। इस विषय में युक्ति और प्रमाणों का ही आधार लिया जा सकता है, जिसका निरूपण अग्रिम अनुच्छेद में किया जा रहा है।

उपर्युक्त चार सम्प्रदायों में से वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा के अन्तर्गत माना जाता है तथा योगाचार और माध्यमिक को महायान शाखा के अन्तर्गत। वाचस्पति मिश्र ने इस विषय का कहीं उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय हैं। उत्तर-कालीन बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों से भी वाचस्पति मिश्र के मत की पुष्टि होती है। मोक्षाकार गुप्त ने 'तर्कभाषा' में लगभग इसी प्रकार का विवेचन किया है। उन्होंने वैभाषिक,

---

९. (१) अथमत्र पूर्वपक्षिणो माध्यमिकस्याभिसन्धिः। न्या० वा० ता०, पृ० ३६०।
(२) यदि माध्यमिको ब्रूयात्। वही, पृ० ३६२।
(३) तेन न द्रव्यस्वभावः कारकमिति यदुक्तं माध्यमिकेन तदस्माकमभिमतमेव। वही, पृ० ३६८।
(४) वैभाषिकाः खलु वात्सीपुत्राः। वही, पृ० ३९८।
(५) सोऽयं वात्सीपुत्राणां वैभाषिकाणां सिद्धान्तः। वही, पृ० ५००।
(६) इति सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च प्रतिपेदिरे। वही, पृ० ६०९।
(७) आक्षिपति शून्यवादी। वही, पृ० ६१३।
(८) विज्ञानवाद्याह। वही, पृ० ६५३।
(९) तदिदमनुमानं सौत्रान्तिकानां बाह्याभ्युपगम इति। वही, पृ० ६५९।
(१०) यस्तु माध्यमिकः। वही, पृ० ६६४।
(११) सौत्रान्तिकनये तावद् बाह्यमस्ति वस्तुसन्। भामती, पृ० १३।
(१२) विज्ञानवादिनामपि ....। वही, पृ० १३-१४।
(१३) यद्यपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरभेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तितायामस्ति संप्रतिपत्तिः। वही, पृ० ५२४।
(१४) बाह्यार्थवादिभ्यो विज्ञानमात्रवादिनां सुगताभिप्रेततया विशेषमाह। वही, पृ० ५४१।
(१५) बाह्यवादिनोरपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः। वही, पृ० ५४२।
(१६) एवं सौत्रान्तिकसमयेऽपि। वही, पृ० ५४२।
(१७) आनुमानिको बाह्यार्थ इति सौत्रान्तिकाः प्रपेदिरे। वही, पृ० ५४६।
(१८) यथाह सौत्रान्तिकनये—भिन्नकालम् इत्यादि। न्यायकणिका, पृ० १९८।
(१९) तस्मात्साकारज्ञानगोचरोऽर्थ इति सौत्रान्तिकाः प्रपेदिरे। वही, पृ० २५६।

१०. सोऽयं वात्सीपुत्राणां वैभाषिकाणां सिद्धान्तः। न्या० वा० ता०, पृ० ५००।

सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक नाम से इन चारों का उल्लेख किया है तथा इनके विशेष मन्तव्यों का भी संक्षेप में किन्तु स्पष्ट रूप से निरूपण किया है।[११] अतः वाचस्पति मिश्र का यह निरूपण प्रामाणिक कहा जा सकता है।

३–दिग्नाग सम्प्रदाय

जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है, न्याय-वैशेषिक का संघर्ष मुख्य रूप से दिग्नाग सम्प्रदाय के साथ रहा है। वाचस्पति मिश्र ने अधिकांश में दिग्नाग और धर्मकीर्त्ति के मन्तव्यों को प्रस्तुत करके उनका निराकरण किया है, किन्तु यह कहीं स्पष्टतया उल्लेख नहीं किया कि दिग्नाग और धर्मकीर्ति किस बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे। मध्यकालीन दर्शन वाङ्मय में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है कि दिग्नाग सम्प्रदाय के उद्धरणों का सामान्यतया बौद्धमत को प्रस्तुत करने के लिए प्रयोग कर दिया गया है; जैसा कि वैभाषिक के प्रत्यक्षलक्षण को दिखलाते हुए सर्वदर्शनसंग्रहकार ने धर्मकीर्ति का लक्षण प्रस्तुत कर दिया है[१२]। वाचस्पति मिश्र ने भी विविध बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विवेचन करते समय धर्मकीर्ति की उक्तियों को उद्धृत किया है, जैसा कि अभी निरूपण किया जायेगा। इस प्रकार के व्यवहार को देखकर यह उलझन और भी बढ़ जाती है कि दिग्नाग सम्प्रदाय को बौद्ध दर्शन के किस सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाये ?

दर्शन सम्बन्धी आधुनिक विवेचकों ने इस बात का निर्णय करने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु इस विषय में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं; उदाहरणार्थ दास गुप्ता ने दिग्नाग को वैभाषिक या सौत्रान्तिक बतलाया है[१३]। डा० सत्करी मुखर्जी ने दिग्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक सम्प्रदाय माना है[१४]। श्चेरबात्स्की ने दिग्नाग सम्प्रदाय को 'सौत्रान्तिक योगाचार' लिखा है[१५]। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने स्वतन्त्ररूप से बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विभाजन करते हुए दिग्नाग सम्प्रदाय का 'बौद्धन्याय' नाम से उल्लेख किया है[१६]।

वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग सम्प्रदाय के विशेष मन्तव्यों का उल्लेख किया है। उन्होंने विशेषकर प्रमाण आदि के विवेचन में दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के मत को उद्धृत किया है। स्थान २ पर उनके मन्तव्यों को प्रस्तुत करके उनके परिहार का प्रयास भी किया है। इस विवेचन के आधार पर देखना है कि उनकी दृष्टि से दिग्नाग सम्प्रदाय को किस बौद्ध सम्प्रदाय के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है।

---

११. (मो०) तर्कभाषा, पृ० ३४-४१।
१२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४४।
१३. A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 120.
१४. Buddhist Philosophy of Universal Flux.
१५. BL. Vol. I, p. 114 line 15.
१६. भारतीयदर्शनशास्त्र, पृ० १८।

४—वाचस्पति मिश्र द्वारा वर्णित दिग्नाग सम्प्रदाय के विशेष मन्तव्य

दिग्नाग सम्प्रदाय के कुछ मन्तव्यों का वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार से निरूपण किया है—

(क) दो प्रकार का प्रमाण—

दिग्नाग के अनुसार प्रमाण दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष के द्वारा 'स्वलक्षण' का ग्रहण होता है और अनुमान के द्वारा 'सामान्यलक्षण' का[१७]। यद्यपि इस प्रमाण सम्बन्धी विवेचन में दिग्नाग या धर्मकीर्ति का नामनिर्देश नहीं किया गया तथापि दिग्नाग सम्प्रद्राय के ग्रन्थों से तुलना करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय के मतानुसार ही यह विवेचन किया गया है।

(ख) दो प्रकार का प्रमेय—

दिग्नाग के मतानुसार प्रमेय दो प्रकार का है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इन दोनों से भिन्न अन्य कोई प्रमेय नहीं—न सामान्यविशेषाभ्यामन्यदस्ति प्रमेयान्तरम्, (न्या० वा० ता०, पृ० १८)। यहाँ 'स्वलक्षण' और 'सामान्यलक्षण' दिग्नाग सम्प्रदाय के पारिभाषिक शब्द हैं। यह स्वलक्षण क्या है? इस पर विचार करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि कि स्वलक्षण वह है जिसका स्वरूप (लक्षण) असाधारण है, अन्य वस्तुओं से भिन्न (स्व) है—'स्वमसाधारणमन्यतो व्यावृत्तं लक्षणं यस्य' (भामती, पृ० ५५०)। भाव यह है कि एक घट का जो सजातीय (अन्य घटों से) तथा विजातीय (पट आदि) से व्यावृत्त अर्थात् बिलकुल भिन्न स्वरूप है, वही घट स्वलक्षण है[१८]। बौद्धदर्शन की दृष्टि से यही परमार्थ तत्त्व है, वस्तुसत् है; क्योंकि यहाँ वास्तविकता या परमार्थसत्ता उसी वस्तु की मानी जाति है जो अर्थक्रियासमर्थ है—सार्थक कार्य करने का सामर्थ्य रखती है[१९]। जैसे घट स्वलक्षण ही जल-धारण आदि का कार्य कर सकता है, वही वस्तुसत् है। यह स्वलक्षण न्याय-वैशेषिक के अवयवी या गुणी के समान नहीं, इसका द्रव्य या गुण के रूप में निर्वचन नहीं किया जा सकता। यह भिन्न भिन्न देशों से सम्बन्ध नहीं रखता (देशाननुगत) इसीलिए नियत देश में ही इसकी प्राप्ति होती है और यह परमार्थसत् है। यह एक क्षण से दूसरे क्षण में गमन नहीं करता (कालाननुगत) अतएव क्षणिक है, क्षणमात्र है, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने दिखलाया है—

एतदेवास्य स्वमसाधारणं लक्षणं यद्देशतोऽननुगमेनादेशात्मकस्य परमार्थत्वं कालतोऽननुगमेन च क्षणिकत्वम्। न्या० वा० ता०, पृ०१७। "अर्थात् इस (स्वलक्षण) का असाधारण स्वरूप यही है कि यह देश में अनुगत नहीं होती (अर्थात् देश में इसका विस्तार नहीं) है इसलिए परमार्थसत् है। और काल में अनुगत नहीं होती अर्थात् एक क्षण से दूसरे क्षण में गमन नहीं करती इसीलिए क्षणिक है।"

---

१७. न्या० वा० ता०, पृ० १७।

१८. विजातीयसजातीयव्यावृत्तः स्वलक्षणमित्यर्थः। (मो०) तर्कभाषा, पृ० ११।

१९. स्वलक्षणं तु स्यात् तदेव परमार्थसत्। अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। न्या० वा० ता०, पृ० १७।

इस स्वलक्षण की बाह्य जगत् में सत्ता है तथा यह भावपदार्थ है, इसे अभावरूप नहीं कहा जा सकता[२०]। इस प्रकार स्वलक्षण वस्तु का विलक्षण स्वरूप है। वही वस्तुसत् है। उसका ही प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है। किन्तु उसमें कोई गुण नहीं रहता। गुणों द्वारा उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। 'यह कुछ है', यही वस्तुसत् है, इससे भिन्न कुछ भी यथार्थ सत्य नहीं है—इस रूप में ही इसका कथन किया जा सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा घट के जिस स्वरूप का स्फुटाभास होता है, वही घट स्वलक्षण है, वही सार्थक कार्य करने में समर्थ है, किन्तु उसके आकार प्रकार आदि की कल्पना आदि मानस हैं, वे स्वलक्षण के अंग नहीं। इसी हेतु श्चेरबात्स्की ने इसे गणित की शून्य के समान कहना पसन्द किया है।[२१] और, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने इसे बिन्दु के समान बतलाया है।[२२] किन्तु यह स्वलक्षण के त्रैलोक्यविलक्षण स्वरूप को प्रकट करने की कल्पना मात्र है; क्योंकि घट आदि की जो प्रतीति होती है उसका अवयवी रूप या द्रव्य रूप तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इसलिये न्याय-वैशेषिक आदि की अभिमत व्यक्ति के रूप में घट आदि नहीं हो सकते। यदि घट आदि को परमाणुओं का सञ्चय मात्र ही मानें तो भी घट आदि की प्रतीति मिथ्या ही होगी। इस प्रकार घट आदि का कोई रूप बुद्धिसङ्गत नहीं दिखलाई देता। किन्तु घट आदि की स्फुट प्रतीति होती है, वे सार्थक क्रिया करने में समर्थ हैं अतः उनका कोई विलक्षण स्वरूप अवश्य है, जिसे दिग्नाग ने 'स्वलक्षण' शब्द से कहा है। इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भासित होने वाला प्रत्येक वस्तु का असाधारण स्वरूप ही स्वलक्षण है, यह कहा जा सकता है।[२३]

दूसरा प्रमेय सामान्यलक्षण है। यह वस्तु का सामान्य[२४] रूप है जो विकल्पों के द्वारा जाना जाता है। स्वलक्षण से भिन्न समस्त आकार-प्रकार आदि सामान्यलक्षण के अन्तर्गत हैं। यह वस्तु का कल्पनाजन्य रूप है। इसमें सार्थक कार्य करने का सामर्थ्य नहीं; जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—सामान्यं निरस्तसमस्तार्थक्रियासामर्थ्यम् (न्या० वा० ता०, पृ० १७)। इसे मिथ्याकल्पित (अलीक) कहा गया है। यह अन्यव्यावृत्ति या अतद्व्यावृत्तिरूप है तथा बाह्य जगत् में इसकी सत्ता नहीं—सामान्यमन्यव्यावृत्तिरूपमबाह्यम्—(न्या० वा० ता०, पृ० १८)। कल्पनाजन्य होने के कारण ही सामान्यलक्षण का अनेक देश, काल तथा अवस्थाओं से सम्बन्ध हो सकता है।[२५] इस प्रकार स्वलक्षण से विपरीत या भिन्न सामान्यलक्षण है। भाव यह है कि घट आदि स्वलक्षण से भिन्न जो उसकी नाम जाति आदि सहित प्रतीति होती है उस सबका विषय वस्तु का सामान्यस्वरूप है जो कल्पित है, स्वलक्षण के समान वस्तुसत् नहीं। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।[२६]

---

२०. तथा च बाह्यस्य स्वलक्षणस्य विधिरूपस्य परमार्थसतः। न्या० वा० ता०, पृ० ४८६।

२१. BL. Vol. I, p. 183, line 5.

२२. भारतीय दर्शन-शास्त्र, पृ० ६७।

२३. मि०, BL. Vol. I. pp. 181–183.

२४. साधारणं रूपमित्यर्थः। न्यायबिन्दुटीका, पृ० १७।

२५. सामान्यमेकमनेकदेशकालावस्थासंसर्गि.........। न्या० वा० ता०, पृ० १८।

२६. आगे, परि० ६ अनु० ११।

वाचस्पति मिश्र का यह प्रमाण-प्रमेय-विवेचन दिग्नाग सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थों विशेषकर प्रमाणसमुच्चय[२७] और प्रमाणवार्त्तिक[२८] के आधार पर है। इसी प्रकार प्रमाणों के लक्षण, विषय तथा अपोहवाद आदि के विवेचन में वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग सम्प्रदाय के अनेक मन्तव्यों को उद्धृत किया है, जिसका यथास्थान निरूपण किया जायेगा।

५. वाचस्पति मिश्र के अनुसार दिग्नाग सम्प्रदाय सौत्रान्तिक प्रतीत होता है।

अब देखना यह है कि क्या वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में ऐसे कुछ संकेत उपलब्ध होते हैं जिनसे दिग्नाग सम्प्रदाय का चार प्रसिद्ध बौद्ध सम्प्रदायों में से किसी एक के अन्तर्गत होना प्रकट होता है ? कहना न होगा कि वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों से आपाततः यह प्रतीत होता है कि वे दिग्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक मानते हैं। एतदर्थ संक्षेप में निम्न-लिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(क) बाह्य अर्थ का ग्रहण कैसे होता है ? इस पर विचार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने सौत्रान्तिक के मत का उल्लेख करते समय कतिपय स्थलों पर धर्मकीर्ति की युक्तियों को प्रस्तुत किया है, जैसे—

सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां च विषयत्वेन नेन्द्रियादिषु तत्प्रसङ्गः[२९]।

(न्यायकणिका, पृ० २५६)

(ख) सौत्रान्तिक के मत का निरूपण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के ग्रन्थों से अनेक स्थलों पर उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जैसे—

(१) **न वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता तस्याः सर्वत्राविशेषाद्विशेषप्रसङ्गात्।**
तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत्तद्घटयेत्[३०]॥

(भामती, पृ० ५४२, ५४४ तथा न्यायकणिका[३१], पृ० २५६)।

(२) **भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।**
हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥

(न्यायकणिका, पृ० १९८, २५६; न्या० वा० ता०, पृ० १५३)

यह कारिका प्रमाणवार्त्तिक (२, २४७) की है। वाचस्पति मिश्र ने इसे कई स्थलों पर उद्धृत किया है। इसमें सौत्रान्तिक के अर्थग्रहण प्रकार का सार निहित है। वाचस्पति मिश्र ने सौत्रान्तिक का नामतः निर्देश करते हुए भी इस कारिका को उद्धृत किया है।

---

२७. प्रमाणसमुच्चय, पृ० ४–८।
२८. प्रमाणवार्त्तिक, परि० २, १।
२९. मि०, तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि सम्वेद्यलक्षणम्। प्र० वा०, २–३२३।
३०. इसका निश्चित स्रोत नहीं दिया जा सकता। श्चेरबात्स्की (BL. Vol. II, p. 359) के अनुसार यह दिग्नाग का उद्धरण है। भाषा की दृष्टि से भी यही मानना उचित प्रतीत होता है।
३१. न्यायकणिका में 'सरूपयत्तद्घटयेत्' के स्थान पर 'स्वरूपवन्तं घटयेत्' यह पाठ है।

एक स्थल पर तो स्पष्टतः 'सौत्रान्तिकनय' शब्द का प्रयोग करते हुए इस कारिका को उद्धृत किया गया है—

यथाह सौत्रान्तिकनये 'भिन्नकालम्' इत्यादि, (न्यायकणिका, पृ० १९८)। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर वाचस्पति मिश्र ने 'सौत्रान्तिकनय' शब्द से 'बौद्धन्याय' का निर्देश किया है। इस प्रकार 'बौद्धन्याय' नाम से प्रसिद्ध दिग्नाग सम्प्रदाय को वाचस्पति मिश्र की दृष्टि से सौत्रान्तिक न्याय माना जा सकता है।

(ग) विज्ञानवादी की स्थापना है कि बाह्यार्थ को न प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, न अनुमान द्वारा। सौत्रान्तिक ने इस स्थापना का खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र ने सौत्रान्तिक का यह खण्डन-प्रकार धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के अनुसार ही प्रस्तुत किया है। जैसे —

द्विविधो हि विषयः प्रमाणानाम्—ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तद्यथा प्रत्यक्षस्य ग्राह्यक्षण एकोऽध्यवसेयश्च प्रवृत्तिविषयः सन्तानः। अन्यथाऽर्थक्रियार्थिः[३२] प्रमाणमप्रवर्तकं स्यात्। प्रवृत्तिविषयोपदर्शनं हि प्रवर्तकत्वं प्रापकत्वं च प्रमाणानाम्। न च ग्राह्यक्षण एव प्रवृत्तिविषयस्तस्य तदानीम् अतीतत्वात्। सन्तानस्तु स्यात्। न चाऽसौ ग्राह्य इत्यध्यवसेयत्वम् अभ्युपेतव्यम्। तथाऽनुमानविकल्पस्यापि ग्राह्यं सामान्यमन्यथा-वृत्तिरूपम्[३३] अध्यवसेयस्तु प्रवृत्तिविषयोऽर्थक्रियाक्षमः। न्यायकणिका, पृ० २५७।

वाचस्पति मिश्र का यह सौत्रान्तिकविषयक विवेचन न्यायबिन्दु टीका के निम्न विवेचन की छाया सा प्रतीत होता है—

द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयो ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते। प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति। अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः। प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः। अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सन्तान एव। सन्तान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः। क्षणस्य प्रापयितुम् अशक्यत्वात्। तथाऽनुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि। स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतस्ततः स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य। अनर्थस्तु ग्राह्यः। न्यायबिन्दुटीका, पृ० २६।

श्चेरबात्स्की के मतानुसार यह केवलमात्र सौत्रान्तिक का मन्तव्य है[३४]। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि वाचस्पतिमिश्र दिग्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक मानते थे।

(घ) धर्मकीर्ति के अनुसार तादात्म्यतदुत्पत्तिनिमित्तक व्याप्ति का निरूपण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने अर्थ की अनुमेयता (जो कि सौत्रान्तिक का सिद्धान्त है) को स्वीकार किया है—द्विविधो हि अर्थः प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च। तत्र यो बुद्धौ साक्षादात्मीयं रूपं निवेशयति स

---

३२. 'अर्थक्रियार्थिनः' पाठ शुद्ध है। मि०, BL. Vol. II, p. 361 fn. 3.

३३. 'अन्यव्यावृत्तिरूपम्' पाठ शुद्ध है। मि०, BL. Vol. II, p. 361 fn. 11.

३४. BL. Vol. II, p. 366 fn. 2.

प्रत्यक्षः। स हि स्वविषयायाः बुद्धेः जनकः इति तमन्तरेण बुद्धिरात्मानमनासादयन्ती तस्य सत्तां निश्चाययतीति युक्तम् (न्या० वा० ता०, पृष्ठ १५८)।

(ङ) इसके अतिरिक्त उदयनाचार्य ने न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका की 'परिशुद्धि' नामक टीका में सौत्रान्तिक के प्रमाण-लक्षण की व्याख्या करते हुए न्यायबिन्दुटीका का आधार लिया है तथा न्यायबिन्दु की 'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तद्वशेनार्थप्रतीतिसिद्धेः'[35] यह उक्ति उद्धृत की है। इससे यह प्रतीत होता है कि उदयनाचार्य भी दिग्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक मानते थे।

६. कतिपय विरोधी युक्तियाँ

दूसरी ओर कुछ ऐसे तर्क भी उपस्थित किए जा सकते हैं जिनसे दिग्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक कहने में बाधा उपस्थित हो जाती है। प्रथम तो, जैसा कि आगे निरूपण किया जायेगा, सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमेयवादी है किन्तु दिग्नाग सम्प्रदाय में बाह्यार्थ को अनुमेय नहीं माना गया[36]। हाँ, अनुभूयमान जगत् को अध्यवासय का विषय (अध्यवसेय) अवश्य बतलाया गया है। यदि औपचारिक रूप में अध्यवसेयता को ही अनुमेयता मान लिया जाये तो इसे, 'बाह्यार्थानुमेयवादी' कहा जा सकता है, जैसा कि डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने निरूपण किया है[37]।

किञ्च प्रमाणवार्त्तिक में कई स्थलों पर सौत्रान्तिक की प्रत्यक्ष प्रक्रिया का इस प्रकार निरूपण किया गया है।

अथस्तद्रूपेण प्रकाशते। प्र० वा०, २, ४८२।
अर्थः सारूप्यसंक्रान्तेस्तद्रूपेण प्रकाशते न तु साक्षात् स्वरूपेण।
(मनोरथनन्दिवृत्ति)

"अर्थात् ज्ञान में अर्थ का सारूप्य होने के कारण अर्थ की ज्ञानरूप (ज्ञानाकार) में प्रतीति होती है साक्षात् अपने रूप में नहीं।"

इस कथन से बाह्यार्थ की अनुमेयता झलकती है। इस के अतिरिक्त कहीं कहीं जैसे 'हेतुभेदानुमा भवेत्' (प्र० वा०, २, ३९१) इत्यादि कारिका तथा मनोरथनन्दिवृत्ति में स्पष्टरूप से बाह्यार्थ की अनुमेयता स्वीकार की गई है, किन्तु वह पूर्वपक्ष के रूप में प्रतीत होती है, धर्मकीर्ति के स्वमन्तव्य के रूप में नहीं। कारण यह है कि प्रमाणवार्त्तिक में अत्यन्त समारम्भ के साथ विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि की गई है।[38] अतएव बाह्यार्थ साधक युक्तियों को सिद्धान्त के रूप में मानने की रुचि नहीं होती। सम्भवतः इसी हेतु दिग्नागसम्प्रदाय को योगचार की ओर झुका हुआ सौत्रान्तिक सम्प्रदाय माना गया है; जैसा कि श्चेरबात्स्की ने इस सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक योगाचार कहा है।[39] प्रमाणवार्त्तिक के कुछ स्थलों से यह

---

३५. परिशुद्धि, पृ० १५२-१५४ तथा न्यायबिन्दु, पृ० १८-१९।
३६. डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, Critique of Indian Realism. p. 64.
३७. Critique of Indian Realism, Ch. III, II.
३८. प्र० वा०, २, २३३-२६३।
३९. BL. Vol. I, p. 114, line ·15.

प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति को विज्ञानमात्र की सत्ता ही अभीष्ट है। जब विज्ञप्तिमात्रता में ही ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव आदि समस्त व्यवस्थाएँ बन सकती हैं तो आचार्य (दिग्नाग) ने बाह्यार्थ की अपेक्षा से ज्ञान के दो रूप (अर्थाकार तथा अनुभवाकार) क्यों बतलाये हैं, इस शंका के उत्तर में कहा गया है—

अस्त्येष विदुषां वादो बाह्यन्त्वाश्रित्य वर्ण्यते। प्र० वा०, २, ३६८।

"समस्त अवस्थाओं में विज्ञानमात्र का प्रतिपादन करने वाला विद्वानों अर्थात् न्यायदर्शी योगाचारों का सिद्धान्त विद्यमान है तथापि सौत्रान्तिकों के अभिमत बाह्य अर्थ के आधार पर आचार्य (दिग्नाग) ने ज्ञान के दो रूपों का वर्णन किया है।"[४०]

इन युक्तियों के होते हुए भी सौत्रान्तिक-योगाचार नाम तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता; क्योंकि सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्यार्थ का बलपूर्वक समर्थन करने वाला है। बौद्ध दर्शन का यही एक मात्र सम्प्रदाय है जो विज्ञानवादी की बाह्यार्थखण्डन सम्बन्धी युक्तियों का निराकरण करता है। दूसरी ओर योगाचार विज्ञानमात्र को यथार्थ मानकर बाह्य जगत् का खण्डन करता है। फिर ये दोनों विरुद्ध बातें किसी एक सम्प्रदाय में कैसे संगत हो सकती हैं? अतः स्पष्ट ही है कि यदि दिग्नाग सम्प्रदाय बाह्यार्थ को स्वीकार करता है तो वह योगाचार नहीं हो सकता। फिर सौत्रान्तिक योगाचार नाम कैसे युक्तियुक्त हो सकता है?

७. दिग्नाग सम्प्रदाय को न्यायवादी सम्प्रदाय मानना उचित है।

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि दिग्नाग सम्प्रदाय बौद्ध दर्शन का विशुद्ध न्यायवादी सम्प्रदाय है। इसमें प्रसङ्गानुसार वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक सभी के मन्तव्यों का विवेचन किया गया है। यह बौद्ध दर्शन का परिष्कृत संस्करण है। बौद्ध दर्शन का विकसित एवं समन्वित रूप इसमें विराजमान है। इसका उद्देश्य है—बौद्ध दर्शन की दृष्टि से प्रमाण और प्रमेयों की प्रामाणिक व्याख्या करना। इसी हेतु दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनों ने ही 'प्रत्यक्ष' का ऐसा लक्षण किया है जो बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों दृष्टियों से ही सङ्गत होता है। धर्मकीर्ति ने अर्थ की निःस्वभावता एवं शून्यता को ही परमार्थसत् बतलाया है[४१] और फिर व्यावहारिक दृष्टि से बाह्यार्थवाद तथा विज्ञानवाद की विशद व्याख्या की है। बाह्यार्थवाद में भी वैभाषिक के मतानुसार किस प्रकार परमाणुओं का सञ्चय ज्ञान का विषय हो सकता है[४२] और, कैसे सौत्रान्तिक के मतानुसार बाह्यार्थ साकार ज्ञान का विषय है-इत्यादि का विशद विवेचन किया है। विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि भी यहाँ स्वमन्तव्य को प्रकट करने के हेतु नहीं की गई अपितु बाह्यार्थवाद के समान विज्ञानवाद में भी प्रमाण-फल-व्यवस्था बन सकती है, यह दिखलाने के लिए की गई है[४३]। जहाँ कहीं सौत्रान्तिक या योगाचार के

४०. मि०, प्र० वा०, मनो० २, ३६८।

४१. प्र० वा०, २, २१५-२१६।

४२. को वा विरोधो बहवः संजातातिशयाः पृथक्।
भवेयुः कारणं बुद्धेर्यदि नामेन्द्रियादिवत्॥ प्र० वा०, २, २२३।

४३. ततश्च विज्ञानवादेऽप्यर्थाकारः प्रमाणमर्थसंवित् फलमविरुद्धम्। प्र० वा०, मनो०, २, ३३६।

मत को प्रस्तुत किया गया है वहाँ उनका नामतः निर्देश किया गया है, स्वमत के रूप में किसी का उल्लेख नहीं किया गया[४४]।

इस प्रकार दिग्नाग सम्प्रदाय को किसी एक बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता। सम्भवतः इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के मत को प्रस्तुत करते हुए प्रायः समस्त सम्प्रदायों के विवेचन में दिग्नाग सम्प्रदाय के ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं; जैसे—

(क) किसी अतिशय (विशेष) की उत्पत्ति के बिना ही परमाणुसमुदाय इन्द्रियग्राह्य हो जाता है, वैभाषिक के इस मन्तव्य में उद्योतकर ने यह आक्षेप किया था कि जो परमाणु अतीन्द्रिय हैं वे इन्द्रिय ग्राह्य कैसे हो सकते हैं[४५]? बौद्धों की ओर से इस विरोध के परिहार के लिए वाचस्पति मिश्र ने धर्मकीर्ति की निम्न उक्ति उद्धृत की है—

अत्रान्तरे वार्त्तिककार आह स्म
को वा विरोधो बहवः संजातातिशयाः पृथक्।
भवेयुः कारणं बुद्धेर्यदि नामेन्द्रियादिवत्॥
न्या० वा० ता०, पृ० ३९६। तथा प्रमाणवार्त्तिक, २, २२३।

(ख) सौत्रान्तिक के मत-विवेचन में तो 'नहि वित्तिसत्तैव' तथा 'भिन्नकालमित्यादि'—दिग्नाग एवं धर्मकीर्ति की उक्तियों को अनेकशः उद्धृत किया गया है। यह अभी दिखलाया जा चुका है।

(ग) विज्ञानवादी के मतानुसार बाह्यार्थ का खण्डन करते हुए कई स्थलों पर निम्नकारिका को उद्धृत किया गया है—

भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।
न्यायकणिका, पृ० २६१। भामती, पृ० ५४४। प्रमाणवार्त्तिक, २, ३८९।

(घ) इसी प्रकार शून्यवाद का निरूपण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने प्रमाणवार्त्तिक में स्थित निम्नकारिका को उद्धृत किया है—

इदं वस्तु बलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा॥
भामती, पृ० ५५७। (प्रमाणवार्त्तिक, २, २०९)

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वाचस्पति मिश्र द्वारा उद्धृत अवतरणों में से कुछ प्रमाणवार्त्तिक तथा साथ ही उससे पूर्वकालीन बौद्ध ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। जैसे 'इदं वस्तु' इत्यादि कारिका को सर्वदर्शनसंग्रह में 'लंकावतार' से उद्धृत किया गया है।

---

४४. इदानीं योगाचारो वेद्यवेदकभावमपश्यन् सौत्रान्तिकं पृच्छति। प्र० वा०, मनो०, २, २३०।
४५. न्यायवार्त्तिक, पृ० २४३।

यह कारिका प्रमाणवार्त्तिक में भी उपलब्ध है। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग के मत को प्रस्तुत करते हुए निम्न कारिका उद्धृत की है। यह कारिका प्रमाणवार्त्तिक में भी विद्यमान है। कुछ पाठ भेद अवश्य है—

आप्तवाक्याविसंवादसामान्यादनुमानता।

न्या० वा० ता०, पृ० २०५। (प्रमाणवार्त्तिक, ३, २१३)

इस से यह प्रकट होता है कि धर्मकीर्ति ने प्राचीन आचार्यों की कुछ उक्तियों को भी प्रमाणवार्त्तिक में स्थान दिया है तथा धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्त्तिक बौद्ध दर्शन का ऐसा आकर ग्रन्थ है, जिसमें बौद्ध दर्शन के सारभूत तत्त्वों का विवेचन किया गया है। अतएव वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के विविध दार्शनिक सम्प्रदायों का निरूपण करते हुए प्रमाणवार्त्तिक के जो उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, चाहे वे मत प्रमाणवार्त्तिक में पूर्वपक्ष के रूप में ही आये हों, तथापि वे प्रामाणिक कहे जा सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि दिग्नाग सम्प्रदाय को बहुधा विश्रुत बौद्धों के चार दार्शनिक सम्प्रदायों में से किसी एक के भीतर पूर्णतया नहीं रक्खा जा सकता तथापि यह कहा जा सकता है कि वह सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अधिक निकट है। किन्तु सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का वह प्रगतिशील रूप है, ऐसा रूप जो योगाचार सम्प्रदाय की ओर अग्रसर हो रहा है। वस्तुतः वह बौद्ध दर्शन का न्यायवादी सम्प्रदाय है, जो बौद्ध दर्शन का विकसित एवं समन्वित रूप है।

———

परिच्छेद—३

सर्वास्तिवादी (वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय)

१. सर्वास्तिवाद और वाचस्पति मिश्र

सर्वास्तिवाद का स्वरूप क्या है ? इस विषय में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। सामान्यतः धारणा यह है—विश्व कि वस्तुओं के सम्बन्ध में एक प्रश्न होता है वह यह कि मानसिक या बाह्य वस्तुएँ हैं या नहीं ? वस्तुओं के अस्तित्व सम्बन्धी इस प्रश्न के तीन उत्तर दिये गये हैं—

(१) माध्यमिकों के अनुसार[1] मानसिक या बाह्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। सभी शून्य है।

(२) योगाचार के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र सत्य है। बाह्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है।

(३) कुछ बौद्ध यह मानते हैं कि मानसिक तथा बाह्य सभी वस्तुओं का अस्तित्व है। ये सर्वास्तिवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सर्वास्तिवाद का अर्थ है ऐसा वाद जो समस्त आभ्यन्तर एवं बाह्य वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करता है।[2]

'सर्वमस्ति' इसका अर्थ है कि समस्त तत्त्वों का अस्तित्व है।[3]

वैदिक दर्शन के लेखकों के विवेचन से सर्वास्तिवाद का यही अर्थ प्रतीत होता है; जैसा कि शंकराचार्य का कथन है—

तत्र ये सर्वास्तिवादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च, चित्तं चैत्तिकं च।[4]

"जो सर्वास्तिवादी हैं वे बाह्य अर्थात् भूत और भौतिक एवं आभ्यन्तर अर्थात् चित्त और चैत्त (चित्त सम्बन्धी सुख आदि) वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं।"

सर्वदर्शनसंग्रह के लेखक माधवाचार्य इत्यादि ने भी इसी प्रकार सर्वास्तिवाद की व्याख्या की है।[5] इस अर्थ के अनुसार वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दोनों को सर्वास्तिवादी

१. यथार्थ में शून्यवाद का यह स्वरूप नहीं, यह आगे (परि० ४ अनु० ७) दिखलाया जायेगा।
२. मि०, चट्टोपाध्याय एवं दत्त : भारतीयदर्शन, पृ० ९९।
३. 'Every thing exists' it means that all elements exist. श्चेरबात्स्की; CCB., p. 35.
४. ब्रह्मसूत्र, शा० भाष्य, पृ० ५२४।
५. मि०, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४३।

माना जाता है। जैसा कि ऊपर[६] विवेचन किया गया है, वाचस्पति मिश्र ने शंकराचार्य के सर्वास्तिवादी शब्द से वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों का ग्रहण किया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार वैभाषिक और सौत्रान्तिक में अवान्तर भेद अवश्य है किन्तु 'सर्वास्तिता' के विषय में दोनों एकमत हैं।[७] अतः सौत्रान्तिक भी सर्वास्तिवादी है।

आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर सर्वास्तिवादी का यह अर्थ सन्दिग्ध प्रतीत होता है। श्चेरबात्स्की का कथन है कि सर्वास्तिवाद का अर्थ है—सर्वदास्तिवाद।[८] अभिधर्मकोश के आधार पर इसी मत की पुष्टि होती है—

'तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः'। अभि० ५, २५।

"जो धर्मों का त्रिकाल में अस्तित्व मानने वाला सम्प्रदाय है, वह सर्वास्तिवादी कहलाता है।"

अभिधर्मकोश में चार प्रकार के सर्वास्तिवादियों का वर्णन किया गया है।[९] इन सभी के अनुसार 'धर्म' (तत्त्व Element) किसी न किसी रूप में तीनों कालों में रहते हैं। यह मन्तव्य योग-सूत्र तथा व्यासभाष्य से अधिकांश में मिलता है।[१०]

श्चेरबात्स्की के अनुसार सर्वास्तिवादी यह मानता है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप हैं एक तो उसका वास्तविक स्वरूप जो 'धर्मस्वभाव' कहलाता है और दूसरा उसका क्षणिक परिणामरूप जो 'धर्मलक्षण' कहलाता है। इनमें से प्रथम (धर्मस्वभाव) तो भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में रहता है; किन्तु द्वितीय (धर्मलक्षण) तीनों कालों में नहीं रहता, केवल वर्तमानकाल में रहता है। सर्वास्तिवादी का कथन है कि इससे किसी स्थिर नित्य धर्म को मानने का दोष भी नहीं आता; क्योंकि नित्य वस्तु तो वह मानी जाती है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अभिधर्मकोश के अनुशीलन से पता चलता है कि सौत्रान्तिक भूत और भविष्य को यथार्थ नहीं मानता वह तो केवल वर्तमान की यथार्थता को ही स्वीकार करता है।[११]

इस प्रकार यदि सर्वास्तिवाद का अर्थ है—सर्वदास्तिवाद और सौत्रान्तिक भूत और भविष्य की यथार्थ सत्ता नहीं मानता तो सौत्रान्तिक को सर्वास्तिवादी कैसे माना जा सकता है? यहाँ विचारणीय यह है कि क्या वाचस्पति मिश्र अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थों के इन अंशों से परिचित नहीं थे अथवा अन्य किसी आधार पर उन्होंने इस प्रकार का मत निर्धारित किया था? वस्तुतः किन्हीं निश्चित प्रमाणों के विना इस विषय में कोई निर्णय देना कठिन ही है।

---

६. ऊपर, परि० २ अनु० २।

७. यद्यपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तितायामस्ति संप्रतिपत्तिः। भामती, पृ० ५३४।

८. Central Conception of Buddhism, p. 35.

९. अभिधर्मकोश, ५, २५-२६।

१०. मि०, योगसूत्र तथा व्यासभाष्य; पाद ३ सूत्र १३.

११. मि०, श्चेरबात्स्की CCB. पृ० ३५.

२. सर्वास्तिवादी के अनुसार बाह्यतत्त्व

सर्वास्तिवादी बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तत्त्वों को मानते हैं। शंकराचार्य ने सर्वास्तिवादी के अभिमत बाह्य तत्त्वों का निर्देश करते हुए बतलाया है कि वे भूत, भौतिक दो प्रकार के बाह्य तत्त्वों को स्वीकार करते हैं।

(क) भूततत्त्व—उनमें भूत पृथ्वी धातु इत्यादि हैं। चार प्रकार के पृथिवी इत्यादि के परमाणु हैं जो खर, स्नेह, उष्ण तथा ईरण स्वभाव वाले हैं, वे पृथिवी आदि के रूप में (संहत) हो जाते हैं।[१२] इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं :—

पृथिवीखरस्वभावा, आपः स्नेहस्वभावाः, अग्निरुष्णस्वभावः, वायुरीरणस्वभावः। ईरणं प्रेरणम्। भामती, पृ० ५२४।

"अर्थात् पृथिवी काठिन्यस्वभाववाली है, जल स्नेह स्वभाव वाला है, अग्नि उष्णता स्वभाव वाली है और वायु गति स्वभाव वाली है। ईरण का अर्थ है-प्रेरण या गति"।

सर्वास्तिवादियों ने चार भूत माने हैं—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु। भूतों का विशेष धर्म है सप्रतिघत्व अर्थात् जहाँ एक भूत विद्यमान है वहाँ उसी समय दूसरा भूत नहीं रह सकता। अतएव वे आकाश की गणना महाभूतों में नहीं करते। उनके मत में आकाश तो आवरण का अभाव[१३] मात्र है निरुपाख्य है।[१४] आकाश अभावरूप है, उसका किसी रूप में कथन नहीं किया जा सकता।

पृथिवी आदि चारों भूतों के चार प्रकार के परमाणु हैं। पृथिवी के परमाणुओं का स्वभाव है—कठिनता (खरत्व)। जल के परमाणुओं का स्वभाव है—स्नेह, आर्द्रीकरण। अग्नि के परमाणुओं का स्वभाव उष्णता है और वायु के परमाणु गतिस्वभाववाले हैं। जैसा कि आगे विवेचन किया जायेगा, बौद्धदर्शन में अवयवी की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया अतः परमाणुओं का संघातमात्र ही पृथिवी इत्यादि धातुएँ हैं।

श्चेरबात्स्की का कथन है कि यहाँ चतुर्थ तत्त्व गतिरूप (ईरण) है, यह कहने से इस विभाजन की वास्तविकता प्रकट होती है। और, वह यह है कि बौद्धों के अभिमत अन्य सभी तत्त्वों के समान ये सामान्य तत्त्व भी वस्तु (Substance) की अपेक्षा शक्तिरूप (force) अधिक हैं।[१५]

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वास्तिवादी के पृथिवी आदि भूतों को न तो आधुनिक विज्ञान की शक्ति (force) की श्रेणी में रक्खा जा सकता है, न ही ठोस (Substance) की

---

१२. ब्रह्मसूत्र, शा० भाष्य, पृ० ५२४।

१३. अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छता। वही, पृ० ५३५ पं० ५।

१४. निरुपाख्यमिति मन्यन्ते। वही, पृ० ५३३ पं० ६।

१५. मि०, The fact, that the fourth element is motion, is an indication of the trend of this division; the general elements of matter, like all Buddhist elements, are more forces than substances; CCB.p.

श्रेणी में। न्याय-वैशेषिक के महाभूतों की अवयविरूपता के साथ भी बौद्धदर्शन के भूतों के स्वरूप की समता नहीं की जा सकती। इनका अपना विलक्षण रूप है, जैसा कि अभिधर्मकोश में कहा गया है—जिन्हें लोक पृथिवी आदि संज्ञा से पुकारता है, वे वर्ण (नील आदि) और संस्थान (दीर्घता आदि) मात्र ही हैं।[१६] रूप दो प्रकार का है—वर्ण तथा संस्थान। नील पीत इत्यादि लोक प्रसिद्ध वर्ण हैं तथा दीर्घ-ह्रस्व, गोलाकार इत्यादि आकृतियाँ संस्थान हैं। पृथिवी आदि वर्ण-संस्थान से भिन्न नहीं, ऐसा कहने का अभिप्राय यही है कि बौद्धदर्शन में पृथिवी आदि न्याय-वैशेषिक के समान एक तत्त्व नहीं, अपितु विभिन्न धर्मों के समुदाय मात्र हैं। संभवतः शंकराचार्य के "पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्ते" का भी यही भाव है।

यहाँ परमाणुओं का संघातमात्र ही पृथिवी आदि हैं, यह बतलाया गया है, किन्तु बौद्धदर्शन के परमाणु का स्वरूप न्याय-वैशेषिक के परमाणु से भिन्न है। यह द्रव्यरूप नहीं; क्योंकि बौद्ध के मतानुसार रूपादि गुण भी परमाणु कहे गये हैं।[१७] इसी प्रकार ये सांख्य के सत्त्व, रजस, तमस् गुणों के समान भी नहीं हैं। वास्तव में बौद्धदर्शन के व्यवहार के अनुसार ये 'धर्म' कहे जाते हैं। साथ ही सभी धर्मों के समान ये भी क्षणभंगुर हैं, नित्य नहीं, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

न तु बौद्धराद्धान्ते नित्यः परमाणुरिति। न्या० वा० ता०, पृ० ५०८।

(ख) **भौतिक-धर्म**—शंकराचार्य ने सर्वास्तिवादी के अभिमत भौतिक धर्मों का इस प्रकार उल्लेख किया है—रूप (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द) इत्यादि तथा चक्षु (चक्षु, जिह्वा, घ्राण, काया और श्रोत्र) इत्यादि भौतिक तत्त्व हैं। इन भौतिक धर्मों की वाचस्पति मिश्र ने कोई व्याख्या नहीं की। इनके अनन्तर चित्त-चैत्त धर्मों के प्रसङ्ग से पंचस्कन्ध (रूप-विज्ञान-वेदना और संस्कार) का उल्लेख किया है जिसका आगे विवेचन किया जायगा।

३. आयतन और धातु

यहाँ शांकर भाष्य तथा भामती टीका में बौद्धदर्शन के कुछ पारिभाषिक शब्दों 'धातु' इत्यादि का प्रयोग करते हुए बाह्य तथा आभ्यन्तर तत्त्वों का निर्देश किया गया है अतः बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित तत्त्वों के साथ इनका तुलनात्मक अनुशीलन उचित प्रतीत होता है। अभिधर्मकोश के अनुसार तत्त्वों का तीन प्रकार से विभाजन किया गया है—(१) स्कन्ध (२) आयतन (३) धातु। इनमें से किसी एक में ही समस्त बाह्य तथा आभ्यन्तर तत्त्वों का संग्रह हो जाता है।[१८] वाचस्पति मिश्र ने केवल पंचस्कन्धों का स्पष्ट निर्देश किया है। यहाँ जो भौतिक तत्त्व के रूप में पांच इन्द्रियाँ और इनके पाँच विषय कहे गये हैं उनमें मन तथा मन का विषय धर्म (वेदना, संज्ञा, संस्कार) जोड़ने पर द्वादश आयतन माने जाते हैं। इन १२ आयतनों में मन तथा मन का विषय भौतिक नहीं हैं, शेष दस भौतिक हैं अतएव

---

१६. पृथिवी वर्णसंस्थानम् उच्यते लोकसंज्ञया। अभिधर्मकोश, १, १३।

१७. रूपादिपरमाणव एव। न्या० वा० ता०, पृ० २२६।

१८. एकेन स्कन्धायतनधातुना सर्वसंग्रहः। अभिधर्मकोश, १, १६।

यहां भौतिक तत्त्व के रूप में इन दस का ही उल्लेख किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने अन्यत्र भामती में ही विषयों सहित ६ आयतनों का उल्लेख किया है।[१९]

१२ आयतनों में ६ इन्द्रियों के विज्ञान (चक्षुर्विज्ञानधातु आदि) जोड़ने पर १८ धातु कही जाती हैं।[२०] वाचस्पति मिश्र ने 'पृथिव्यादिधातु' शब्दों का अनेक बार प्रयोग किया है[२१]; किन्तु १८ धातुओं का परिगणन नहीं किया। बौद्धदर्शन में समस्त विश्व को तीन धातुओं में भी विभक्त किया गया है। उसका निरूपण करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

रूपधातुररूपधातुः कामधातुरिति त्रैधातुकं जगत्। तत्र कामधातुस्वरूपमुक्तम्—कामे कामधातौ, अष्टद्रव्यकोऽणुः। रूपरसगन्धस्पर्शा इति चत्वारि द्रव्याणि, पृथिव्यपतेजोवायुरिति चत्वारि। द्रव्यशब्दो वस्तुवचनः। तेषामष्टद्रव्यकोऽणुरित्यागमः।

न्या० वा० ता०, पृ० २२७।

"अर्थात् यह विश्व तीन धातुओं से बना है—रूपधातु, अरूपधातु और कामधातु। इनमें से कामधातु का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है कि काम धातु में अष्टद्रव्यों वाला अणु होता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार द्रव्य हैं तथा पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार हैं। यहाँ पर 'द्रव्य' शब्द न्याय-वैशेषिक का पारिभाषिक शब्द नहीं, अपितु द्रव्य का अर्थ वस्तुमात्र है—'अष्टद्रव्यकोऽणुः' यह बौद्धों का शास्त्रीय वचन है"।[२२]

यहाँ प्रासङ्गिक रूप में सर्वास्तिवादी के अनुसार तीन धातुओं का उल्लेख किया गया है। श्चेरबात्स्की का कथन है कि जब तीन धातुओं का वर्णन किया जाता है तो धातु शब्द का अर्थ लोक (जगत्) होता है। संक्षेप में कामधातु में उपर्युक्त समस्त १८ धातु आ जाती हैं। रूपधातु में गन्ध, रस, घ्राण-विज्ञान तथा रसविज्ञान को छोड़कर अन्य धातुएँ आती हैं तथा अरूपधातु में मन, धर्म और मनोविज्ञान ये तीन धातु आती हैं।[२३] विविध वस्तुओं का वाचक होने के कारण धातु शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं जैसे अपने सामान्य-लक्षण को धारण करने के कारण अष्टादश धातु कही जाती हैं।[२४] अभिधर्मकोश की व्याख्या में यशोमित्र ने धातु शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। श्चेरबात्स्की ने इन सभी अर्थों को आंशिक रूप में शुद्ध माना है और कहा है कि बौद्ध दर्शन के अभिमत घटनाओं के प्रवाहरूप 'धर्मों' की दृष्टि से इन तत्त्वों को धातु कहा जाता है।[२५]

इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में अत्यन्त संक्षेप में सर्वास्तिवादी के भूत तथा भौतिक तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इस विवेचन में अभिधर्मकोश आदि के तत्त्व निरूपण के साथ बहुत अधिक समानता है। सम्भवतः वाचस्पति मिश्र के समय सर्वास्तिवादी

१९. नामरूपसंमिश्रितानीन्द्रियाणि षडायतनम्। भामती, पृ० ५२७।
२०. धातवोऽष्टादश स्मृताः। अभि०, १, १७।
२१. भामती, पृ० ५२६, ५२७।
२२. कामेऽष्टद्रव्यकोऽशब्दः परमाणुरनिन्द्रियः। अभिधर्मकोश, २, २२।
२३. CCB., p. 8 fn. 24
२४. अष्टादशधातुवस्तुस्वसामान्यलक्षणधारणादिति। यशोमित्र, स्फुटार्था०, पृ० ३४ पं० ६।
२५. CCB., p. 8.

(विशेषकर वैभाषिक) सम्प्रदाय वैदिक दर्शनों के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में न रहा होगा, इसी हेतु इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अधिक उद्धरण तथा आचार्यों के नाम-निर्देश वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में नहीं मिलते। वाचस्पति मिश्र ने प्रमाण अथवा वाद आदि के विवेचन में ही वसुबन्धु के मन्तव्यों को विशेष रूप से उद्धृत किया है, वैभाषिक के तत्त्व निरूपण सम्बन्धी विवेचन में नहीं।

४. सर्वास्तिवादी के अनुसार बाह्य वस्तु का स्वरूप

(क) **बाह्यवस्तु संघातरूप है**—जिस बाह्य वस्तु घट, पट आदि की प्रतीति होती है उस वस्तु का क्या स्वरूप है? यह दर्शनशास्त्र का एक विचारणीय विषय रहा है। न्याय-वैशेषिक का कथन है कि भिन्न भिन्न अवयवों में अवयवी नाम की एक वस्तु अथवा द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। वही अवयवी 'यह घट है' इस प्रकार की प्रतीनि का कारण है तथा उसी से 'जल लाना' इत्यादि कार्य होते हैं। किन्तु बौद्ध दर्शन इस अवयवी की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। तब बौद्धदर्शन के अनुसार बाह्य वस्तु का स्वरूप क्या है? इसका निरूपण करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

रूपादिपरमाणव एव तेनाकारेणोत्पन्ना एकयोदकाहरणक्रियया व्यवच्छिन्ना घटादय इत्युच्यन्ते, अनुरञ्जनादिकया तु रूपादिव्यपदेशः। यथाह—(?)

"घट इत्यपि रूपादय एवैकार्थक्रियाकारिणस्तथा व्यपदिश्यन्ते।"

न्या० वा० ता०, पृ० २२६।

"अर्थात् रूपादि के परमाणु ही उस (विशेष प्रकार के) आकार में निष्पन्न हो जाते हैं और जल लाना आदि एक कार्य की विशेषता से युक्त होकर (व्यवच्छिन्ना) घट आदि नाम से कहे जाते हैं; क्योंकि ये अनुरञ्जन (किसी प्रकार का रंग प्रकट करना या हृदय को आह्लादित करना) आदि कार्य भी करते हैं इसी से इनके लिए 'रूप' आदि नामों का व्यवहार भी होता है। जैसा कि कहा है—

एक सार्थक कार्य को करने वाले (अर्थक्रियाकारिणः) रूप आदि ही 'घट' इस रूप में पुकारे जाते हैं।"

यहाँ रूपक्षण (धर्म) को परमाणु शब्द द्वारा कहा गया है। ये रूपादि के परमाणु संघात रूप में होकर भिन्न २ आकार के प्रतीत होने लगते हैं और उनसे जल लाना आदि कार्य सम्पादन किया जाने लगता है। इस अवस्था में 'यह घट है' इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। वास्तव में 'रूप' आदि परमाणुओं से भिन्न घट नाम की कोई वस्तु नहीं। रूप आदि धर्मों का आश्रय कोई धर्मी (द्रव्य) नहीं। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

बौद्धानां हि राद्धान्ते न रूपादिधर्माश्रयः कश्चिदस्ति धर्मी।

न्या० वा० ता०, पृ० २५८।

यही बाह्य वस्तुओं के विषय में बौद्धदर्शन का अनात्मवाद या अद्रव्यवाद है कि विभिन्न धर्मों (elements) का समूह ही लोक में एक वस्तु, द्रव्य या व्यक्ति रूप में समझ लिया जाता है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं।

(ख) **धर्म ही परमार्थसत् है धर्मी नहीं**—बौद्ध-दर्शन में नैयायिक के घट रूप अवयवी का ही निषेध किया गया है, यही बात नहीं, यहाँ सांख्य सिद्धान्त के समान किसी धर्मी तत्त्व की सत्ता भी स्वीकार नहीं की गई। सांख्य का मत है कि सुवर्ण आदि उपादान कारण ही धर्मी हैं, वे रुचक, कुण्डल आदि नाना धर्मों के रूप में परिणत होते रहते हैं। बौद्धदर्शन रुचक आदि से भिन्न सुवर्णनामक किसी धर्मी को नहीं मानता, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

"व्यास भाष्य में एकान्तवादी बौद्ध की शंका उपस्थित की गई है—'अपर आह' (दूसरा कहता है)—इस प्रकार उत्पन्न हुए रुचक आदि धर्म ही वास्तविक हैं सुवर्णनाम का कोई अनेकों धर्मों में अनुगत धर्मी नहीं। यदि धर्मों (रुचक आदि) के निवृत्त हो जाने पर भी द्रव्य (सुवर्ण आदि) अनुगत रहें तो वह द्रव्य चिति शक्ति (सांख्य का पुरुष) के समान परिणाम वाला न होगा अपितु कूटस्थ होकर ही विद्यमान रहेगा। परिवृत्ति का अर्थ है परिणाम स्वरूप को त्याग कर अन्य प्रकार से कूटस्थ रूप में (विभिन्न अवस्थाओं में) विद्यमान रहना। जैसे (सत्त्व, रजस्, तमस्) गुणों के विविध रूपों में परिणत होने पर भी चितिशक्ति अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती अतः कूटस्थ नित्य है इसी प्रकार सुवर्ण आदि भी कूटस्थनित्य होने लगेंगे। किन्तु यह (साँख्य को भी) अभिमत नहीं है। इसलिए धर्मों से अतिरिक्त कोई द्रव्य (धर्मी) नहीं।"[२६]

(ग) यदि अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता नहीं, धर्म से भिन्न धर्मी नाम की कोई वस्तु नहीं तो 'यह घट' है इस प्रकार की प्रतीति कैसे संभव है? इसके उत्तर में बौद्धदर्शन का कथन है—

"घटादि एक हैं या अनेक ऐसा विचार करने पर नहीं ठहर सकते अतः वे मिथ्या हैं तथा अनादिकाल से चली आती हुई विकल्प-वासना से उत्पन्न होने वाले विकल्पों के द्वारा घटादि का भास हो जाता है"।[२७]

"जो मिथ्या बुद्धि आदिमान् होती है (जिसका आरम्भ होता है) वही सम्यग्ज्ञान के निमित्त से हुआ करती है। यह (घटादि बुद्धि) तो अनादि है, पहले मिथ्याप्रत्यय से अग्रिम मिथ्या प्रत्यय उत्पन्न होता जाता है, (इसी प्रकार) मिथ्याबुद्धि का प्रवाह चलता है यहाँ (निमित्त रूप में) सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता नहीं।"[२८]

---

२६. एकान्तवादिनं बौद्धमुत्थापयति—(अपर आह इति) धर्मा एव हि रुचकादयस्तथोत्पन्नाः परमार्थसन्तो न पुनः सुवर्णं नाम किञ्चिद् यदेकमनेकेष्वनुगतं द्रव्यमिति। यदि पुनर्निवर्त्तमानेष्वपि धर्मेषु द्रव्यमनुगतं भवेत्ततो न चितिशक्तिवत् परिणमेतापि तु कौटस्थ्येनैव विपरिवर्त्तेत। परिणामात्मकरूपं परिहाय रूपान्तरेण कौटस्थ्येन परिवर्तनं परिवृत्तिः। यथा चितिशक्तिः अन्यथाऽन्यथाभावं भजमानेष्वपि गुणेषु स्वरूपादप्रच्युता कूटस्थनित्यैवं सुवर्णाद्यपि स्यात्। न चेष्यते तस्मान्न द्रव्यमतिरिक्तं धर्मेभ्यः इति। योगभाष्य-तत्त्ववैशारदी ३, १३।

२७. एकानेकविचारासहत्वाद् असन्त एव घटादयोऽनादिविकल्पवासनाजनितविकल्पप्रत्ययप्रतिभासमानाः। न्याय० वा० ता०, पृ० २२६।

२८. आदिमान् मिथ्याप्रत्ययः सम्यग्ज्ञानं निमित्तीकरोति, अयं पुनरनादिः पूर्वपूर्वमिथ्याप्रत्ययजन्मा मिथ्याप्रत्ययप्रवाहः, कृतमत्र सम्यग्ज्ञानेनेति। न्या० वा० ता०, पृ० २२७।

बौद्ध दर्शन का अभिप्राय यह है कि "यह घट है" इस प्रकार की बुद्धि का कोई एक वस्तु आश्रय नहीं हो सकती; क्योंकि घटरूप एक वस्तु के होने में कोई प्रमाण नहीं। अनेक परमाणुओं में जो घट बुद्धि होती है वह सम्यक् बुद्धि कैसे हो सकती है; क्योंकि वह अनेकों में एक बुद्धि हुई है। इस प्रकार घटरूप वस्तु "यह एक है या अनेक" इस प्रकार के विचार को सहन नहीं कर सकती अतएव यह मिथ्या बुद्धि है। जो अनादिकाल से होने वाली वासनाओं के कारण हुआ करती है। किन्तु न्याय-वैशेषिक आदि का यह आक्षेप है कि लोक में जो मिथ्या प्रत्यय होते हैं वे सम्यक् ज्ञान के सदृश हुआ करते हैं जैसे किसी को सीपी (शुक्तिका) में चमक आदि के कारण 'यह रजत है' इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति हो जाती है। इस मिथ्या प्रतीति का आधार 'रजत में रजत ज्ञान' की सम्यक् प्रतीति ही है। जिन 'घटज्ञान' आदि को बौद्ध मिथ्या ज्ञान कहते हैं उनका कोई वास्तविक बीज तो वे मानते नहीं अर्थात् उनके मत में कहीं भी 'यह घट है' इस प्रकार का सम्यक् ज्ञान नहीं होता। जहाँ भी 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होता है वह मिथ्या ही है। सम्यक् ज्ञान का अनुसरण किये बिना ये मिथ्या ज्ञान कैसे हो सकते हैं।[२९] यदि बौद्ध किसी सम्यक् ज्ञान के विषय को इस मिथ्याज्ञान का निमित्त (बीज) मानेगा तो उसके सिद्धान्त के विरुद्ध होगा।[३०] इसका समाधान करते हुए बौद्धदर्शन कहता है कि जिस मिथ्या ज्ञान का कहीं आदि (प्रारम्भ) होता है वह सम्यक् ज्ञान के निमित्त से हुआ करता है। किन्तु घटादि के विषय में जो मिथ्याबुद्धि है इसका तो आदि नहीं। अनादि काल से इस प्रकार की मिथ्याबुद्धि चली आ रही है। एक के पश्चात् दूसरी मिथ्या प्रतीति होती जाती है और मिथ्याज्ञानों की यह धारा प्रवाहित हो रही है। इसके बीज रूप में किसी सम्यग्ज्ञान की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार बौद्ध के मत में 'यह घट है' इस प्रकार की प्रतीति विकल्पजन्य है तथा मिथ्या है।

५. अवयवी का खण्डन

बौद्ध दर्शन अवयवी की सत्ता का खण्डन करता है और बतलाता है कि नील आदि परमाणुओं का संघातरूप ही पदार्थ है, इनसे भिन्न अवयवी या धर्मी नहीं। यह स्थापना करते हुए बौद्धदर्शन ने न्याय-वैशेषिक के अभिमत अवयवी का बुद्धिग्राह्य युक्तियों द्वारा खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं कि इस मन्तव्य में वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही एकमत हैं—

न रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम किञ्चिदस्ति नाप्यवयवातिरिक्तः कश्चिदस्त्यवयवीति सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च प्रतिपेदिरे। न्या० वा० ता०, पृ० ६०९।

"अर्थात् रूपादि से अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं है और न ही अवयवों से भिन्न कोई अवयवी है—यह सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक प्रतिपादन करते हैं।" अवयवी का खण्डन करने के लिए बौद्धदर्शन में अनेक युक्तियां दी गई हैं, उनमें से कतिपय युक्तियों का न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका के आधार पर उल्लेख किया जा रहा है।

---

२९. यत्र ये मिथ्याप्रत्यया लोके भवन्ति सर्वत्र ते सम्यक् प्रत्ययानुकारिणो भवन्ति, न पुनर्घटादिप्रत्ययानां मिथ्याप्रत्ययत्वेन कल्पितानां बीजमस्ति। न्या० वा०, पृ० ७४।

३०. बीजं मिथ्याप्रत्ययस्य सम्यक्प्रत्ययविषयोऽर्थः, तस्य क्वचिदभ्युपगमेऽभिमतार्थहानमित्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० १२७।

(क) **अनुभव से अवयवी की सत्ता सिद्ध नहीं होती**—वस्तुओं की सत्ता को प्रकट करने वाला मुख्य साधन अनुभव (संवित्) ही है, किन्तु अनुभव के द्वारा अवयवी की सिद्धि नहीं होती। जैसा कि बौद्धों के मत को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने दिखलाया है—

"वह (बौद्ध) यह मानता है कि विषय की व्यवस्था (सिद्धि या असिद्धि) अनुभव (संविद्) के आधार पर होती है। जो अनुभव का विषय है वही वस्तु अनुभव द्वारा सिद्ध होती है और अनुभव का विषय वह वस्तु मानी जाती है जो इसमें अपना आकार अर्पित करती है (अर्थात् यदाकारक अनुभव होता है वही वस्तु अनुभव से सिद्ध होती है)। किन्तु निरन्तर स्थित रूप आदि के परमाणुओं से भिन्न किसी अवयवी के आकार को धारण करती हुई अनुभूति तो देखी नहीं जाती, अपितु निरन्तर स्थित रूप आदि परमाणुओं के आकार वाली (संविद्) ही देखी जाती है। यह जो (घट आदि में) स्थूलता का भान होता है यद्यपि यह प्रत्येक परमाणु में नहीं हो सकता तथापि यह बहुत्व (अनेकता) आदि के समान केवल भासित होने वाला धर्म है (वास्तविक नहीं) अतएव यह एक अवयवी की सिद्धि नहीं कर सकता। जैसा कि कहा है (?)—

"वह यह अवयवी उस व्यक्ति के समान है जो बिना मूल्य दिये ही कोई वस्तु खरीदना चाहता है; क्योंकि यह अपने आकार को तो विज्ञान में अर्पित नहीं करता और प्रत्यक्ष की कोटि में आने की कामना करता है"।[३१]

जैसा कि आगे निरूपित किया जायेगा कुछ[३२] बौद्धों के मतानुसार उस वस्तु का ही प्रत्यक्ष माना जाता है जो विज्ञान में अपना स्फुट आकार समर्पित करती है। जो वस्तु विज्ञान में अपना स्फुट आकार समर्पित नहीं करती अर्थात् जिसका विज्ञान में सारूप्य नहीं होता उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता। वह अवयवी तो विज्ञान में अपना आकार समर्पित नहीं करता फिर इसका प्रत्यक्ष होता है, यह कैसे माना जा सकता है? अतः अनुभव के आधार पर अवयवी की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

(ख) **विरुद्ध धर्मों के संसर्ग के कारण अवयवी की सत्ता सिद्ध नहीं होती**—बौद्ध दर्शन का कथन है कि किसी परमार्थसत् वस्तु में विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं हो सकता। विरुद्ध धर्मों का समावेश तो विकल्पजन्य (कल्पित) वस्तु में ही होता है। किन्तु

---

३१. स खल्वेवं मेने संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितिः। स एव संविदा व्यवस्थाप्यते यस्तस्या विषयः। स एव विषयो य आकारमस्यामर्पयति। न च निरन्तरोत्पन्नरूपादिपरमाणवतिरिक्तमवयव्याकारं बिभ्रतीं संविदमीक्ष्महे, किं तु निरन्तरोत्पन्नरूपादिपरमाणवाकाराम्। स्थौल्यं च न परमाणूनां प्रत्येकमस्ति तथापि प्रतिभासधर्मो बहुत्वादिवन्न पुनरवयविनमेकमवस्थापयितुमर्हति। यदाहुः—

सोऽयममूल्यदानक्रयी स्वाकारं च* ज्ञाने समर्पयति, प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छत्यवयवीति। न्या० वा० ता०, पृ० ३८८।

*'न' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

३२. सौत्रान्तिक तथा दिग्नाग सम्प्रदाय का यही मन्तव्य है। देखिये आगे, परि० ३ अनु० ७।

अवयवी में विरुद्ध धर्मों का समावेश लोक प्रसिद्ध ही है; जैसे एक ही वृक्ष नामक अवयवी में परस्पर विरोधी गुण (हरा लाल इत्यादि वर्ण) तथा क्रियाएँ (स्थिरता, कम्पन इत्यादि) देखे जाते हैं। यह विरुद्ध धर्मों का समावेश अवयवी की सत्ता का ही निराकरण करता है, जैसा कि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में बतलाया गया है—

"जो सत् है वह सभी अवयव रहित है जैसे ज्ञान। यह अनुभव के द्वारा प्रतीत होने वाला (अवसित) नील आदि सत् है (अतः यह भी अवयवरहित है) यह स्वभावहेतु (बौद्ध-दर्शन का एक प्रसिद्ध हेतु) है; क्योंकि अवयवरहित होना सत्तामात्र में व्यापक है। इस प्रकार किसी एक वस्तु की सत्ता जहां होती है वह विरुद्ध धर्मों के संसर्ग से रहित होती है (यह व्याप्ति है)। नील आदि को अवयव युक्त मानने पर (सावयवत्वे) इस (व्याप्ति) के विपरीत विरुद्ध धर्मों का समावेश दिखलाई देता है और वह अपने विरोधी अर्थात् विरुद्ध धर्मों के समावेश के अभाव को (विरुद्धधर्मासंसर्गम्) निवृत्त कर देता है तथा उसके साथ नियत रूप से रहने वाली सत्ता का भी निराकरण कर देता है"।[३३]

भाव यह है कि किसी एक परमार्थसत् वस्तु में विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते अतएव विरुद्ध धर्मों का समावेश होने के कारण वृक्ष आदि एक वस्तु नहीं हैं। जिन नील आदि में विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं होता, वे ही वस्तुसत् हैं।

वृक्ष आदि में विविध रूपों से विरुद्ध धर्मों का समावेश देखा जाता है। बौद्ध ग्रन्थों में इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने उनके तात्पर्य को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

(१) एक ही अवयवी में कम्पन तथा अकम्पन दो विरुद्ध धर्मों का समावेश[३४] —

"हाथ इत्यादि के हिलने पर उसमें स्थित अवयवी भी हिलता है इस हेतु जंघा आदि स्थानों में भी सामान्यरूप से स्थित उस अवयवी में कम्पन दृष्टिगोचर होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए वही (अवयवी) एक ही समय हिलता है और नहीं भी हिलता है, इस प्रकार का विरुद्ध धर्मों का समावेश है। यदि (नैयायिक कहे कि) अवयवों के हिलने पर भी उनमें समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ अवयवी नहीं हिलता तब तो चंचल वस्त्र एवं स्थिर जल के समान (दोनों अवयव और अवयवी) एक दूसरे से पृथक् भी रह सकने चाहिएं (युतसिद्धिः पृथक् सिद्धिः, तस्याः प्रसङ्गः प्राप्तिः)।[३५]

---

३३. यत् सत्तत् सर्वमनवयं यथा विज्ञानं सच्चेदं नीलाद्यनुभवावसितमिति स्वभावहेतुः, सत्तामात्रव्यापित्वादनवयवित्वस्य। तथा ह्येकस्य सत्त्वं विरुद्धधर्मासंसर्गेण व्याप्तं तद्विरुद्धश्च विरुद्धधर्मसंसर्गो नीलादीनां सावयवत्वे प्रसजन् स्वविरुद्धं विरुद्धधर्मासंसर्गं निवर्तयन् तद्व्याप्तं सत्त्वमपि निवर्तयति। न्या० वा० ता०, पृ० ३८३।

३४. पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः।
एकस्मिन् कर्मणोऽयोगात् स्यात् पृथक्सिद्धिरन्यथा॥ प्र० वा०, १.८६।

३५. तथाहि पाण्यादिकम्पे तत्स्थानोऽवयव्यपि कम्पत इति तस्य जंघादिष्ववयवेष्वविशेषावस्थानस्याप्यवयविनः कम्पः उपलभ्येत, न चोपलभ्यते, तस्मात्स एव तदानीं कम्पते न कम्पत इति विरुद्धधर्मसंसर्गः। अथावयवेषु कम्पमानेष्वपि नावयवी तत्समवेतः कम्पते, ततश्चलाचलयोः वस्त्रोदकवत् युतसिद्धिप्रसङ्गः। न्या० वा० ता०, पृ० ३८३।

न्याय वैशेषिक का कथन है कि मूल तना, शाखा, पत्र, पुष्प आदि से पृथक् उन अवयवों में रहने वाला अवयवी नाम का द्रव्य है। इसी प्रकार शरीर भी एक अवयवी है जो हाथ पैर जंघा आदि में सर्वत्र विद्यमान है। जब किसी लेखक का हाथ कलम को घुमाने में हिलता है तो वह अवयवी जो हाथ में विद्यमान है, हिल उठता है। किन्तु वही अवयवी चरणों की अंगुलि से ले कर सिर पर्यन्त विद्यमान है और जंघा आदि स्थानों में नहीं हिलता। यह सभी के अनुभव का विषय है, इसमें किसी का विवाद नहीं। पर इससे एक ही अवयवी में एक ही समय हिलना और न हिलना दो विरुद्ध बातें दृष्टिगोचर होती हैं, जो उसकी सत्ता में ही बाधक हैं यह अभी (ऊपर) कहा जा चुका है।

यदि इस दोष को दूर करने के लिये यह मान लिया जाए कि हाथ के हिलने पर भी अवयवी नहीं हिलता तो फिर दोनों (अवयव तथा अवयवी) का कोई नाता नहीं रहेगा। दोनों पृथक् २ रहने वाले होंगे और जैसे एक हिलता हुआ वस्त्र, न चलते हुए जल से नितान्त पृथक् होता है उसी प्रकार दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्ररूप से अलग २ रहने वाले हो सकेंगे। किन्तु न्याय-वैशेषिक को यह अभिमत नहीं है। वह तो कारण और कार्य को तथा अवयव-अवयवी को अयुतसिद्ध (अपृथक् सिद्ध=पृथक् होकर अपनी सत्ता न रखने वाला) मानता है।

(२) **एक ही अवयवी का एक समय में आवरण तथा अनावरण**[३६]—भाव यह है कि एक ही वस्तु का एक समय में आवरण तथा अनावरण होता विरोधी धर्मों का समावेश है। यहाँ प्रश्न यह है कि कुछ अवयवों के ढक जाने पर भी अवयवी ढकता है या नहीं ? यदि पूर्वविकल्प को मान लिया जाय अर्थात् अवयवों के ढकने पर उनमें रहने वाला अवयवी भी ढक जाता है तो जैसे आवृत अवयवों के साथ अवयवी भी आवृत हो जाता है इसी प्रकार अनावृत अवयवों के साथ उनमें स्थित अवयवी भी बिना ढका रहेगा और एक ही अवयवी में आवरण तथा अनावरण रूप विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्थिति होगी। यदि दूसरा विकल्प अभीष्ट है अर्थात् अवयवों के ढकने पर भी अवयवी नहीं ढकता, क्योंकि वह अवयवों से भिन्न है तो यह दोष होगा कि शरीर आदि के आधा ढके होने पर भी वह पूर्णरूप से दिखलाई देना चाहिए; क्योंकि शरीररूपी अवयवी तो ढका नहीं केवल उसके अवयव ढके हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों में दोष है।[३७]

"यदि (न्याय-वैशेषिक) कहें कि अवयवों को देखने से ही अवयवी का दर्शन होता है अतः जिस अवयवी के अवयव नहीं देखे गये उस अवयवी का ग्रहण नहीं होता तो यह बात तर्क पर खरी नहीं उतरती। तर्क यह है कि क्या समस्त अवयवों के दर्शन द्वारा अवयवी का ग्रहण होता है अथवा कुछ अवयवों के दर्शन द्वारा ही। प्रथम मत में अवयवी कभी भी दिखलाई न देना चाहिये; क्योंकि कोई भी व्यक्ति, जो सर्वज्ञ नहीं, वह समस्त अवयवों को

---

३६. एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृतिः स्यादनावृतौ।
दृश्येत .... । प्र० वा०, १.८७

३७. एकस्यावयवस्यावरणे तत्तदवयवस्थानोऽवयव्यावृत इति अवयवयान्तरस्थानस्यापि आवरणप्रसङ्गः, अभेदात्। न वाऽस्य क्वचिदप्यावरणमित्यविकलो दृश्येत। अवयवस्यावरणं नावयविनस्तस्यान्यत्वात् न ह्यन्यस्यावरणे अन्यदावृतं भवत्यतिप्रसङ्गाद् इति चेन्न, अर्धावरणेऽप्यनावृत्तत्वादवयविनः प्राग्वदविकलग्रहणप्रसङ्गः। न्या० वा० ता०, पृ० ३८३

(एक साथ) ग्रहण नहीं कर सकता। सामने के भाग से मध्य तथा परभाग व्यवहित रहते हैं। यदि कुछ अवयवों के देखने से ही अवयवी प्रकट हो जाता है तो थोड़े से अवयवों को देखने पर भी इसी प्रकार स्थूलता की उपलब्धि होने लगेगी, जिस प्रकार बहुत से अवयवों को देखने पर होती है।"[३८]

(३) **एक ही अवयवी का एक समय रंगा हुआ और बिना रंगा होना**[३९]—"एक अवयव के रंगे जाने पर उस स्थान का अवयवी भी रंगा जाता है और अन्य स्थानों में वही अवयवी है उसमें कोई भेद नहीं है अतः उस अवयवी में सर्वत्र रंग दिखलाई देना चाहिए। यदि यह माना जाये कि अवयवमात्र में ही रंग लगता है (अवयवी में नहीं) तो उस (रंगे हुए भाग) में रहने वाले अवयवी का रूप बिना रंगा दिखलाई देना चाहिए। यह विरुद्ध धर्म संसर्ग है"।[४०]

भाव यह है कि यदि अवयव और अवयवी का अभेद है तो एक अवयव के रंगे जाने पर समस्त अवयवों में रंग की प्रतीति होनी चाहिये। यदि अवयव और अवयवी भिन्न २ हैं तब तो किसी अवयव के रंगे जाने पर अवयवी नहीं रंगा जायेगा और रंगे हुए अवयव में भी यह बिना रंगा ही दिखलाई देगा। इस प्रकार दोनों पक्षों में दोष है।[४१]

(ग) **अवयवी किसी प्रकार भी अवयवों में नहीं रह सकता**—कोई वस्तु दो प्रकार से अन्य वस्तुओं में रह सकती है या तो वह सम्पूर्ण ही किसी वस्तु में रहती है जैसे यदि किसी चिड़िया के गले में एक डोरा बांध दिया जाय तो वह समस्त डोरा उस चिड़िया के गले में रहता है। दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि कोई वस्तु खण्डशः किन्हीं अन्य वस्तुओं में रहती है; जैसे एक पुष्पों की माला है उसमें एक डोरा भिन्न २ पुष्पों में रहता है किन्तु वह समस्त डोरा एक पुष्प में नहीं रहता, अपितु खण्डशः वह सभी पुष्पों में रहता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयवी अवयवों से भिन्न हैं और वह अवयवों में रहता है किन्तु इन दोनों ढंगों में से किसी प्रकार भी उसका अवयवों में रहना संभव नहीं प्रतीत होता। यदि वह किसी अवयव में पूर्णतया (कृत्स्न रूप से) रहता है तो अन्य अवयवों में उसकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए; जैसे-शरीर रूपी अवयवी मुख में ही पूर्णतया (कार्त्स्न्येन) रहता है तो हाथ पैर आदि में उसकी प्रतीति नहीं होनी

---

३८. अवयवदर्शनद्वारेणावयविदर्शनाददृष्टावयवस्यावयविनोऽप्रतिपत्तिरिति चेन्न, विकल्पासहत्वात्। किं सर्वावयवदर्शनद्वारेणावयविनः प्रतिपत्तिरुत कतिपयावयवदर्शनद्वारेण। पूर्वस्मिन् कल्पे नावयवी कदाचिदपि दृश्येत। न ह्यसर्ववित् सर्वावयवोपलम्भक्षमः, अर्वाग्भागेन मध्यपरभागयोर्व्यवधानात्। कतिपयावयवदर्शने तु तदभिव्यक्तावल्पावयवदर्शनेऽपि बह्ववयवदर्शनवत् स्थूलोपलम्भप्रसङ्गः। न्या० वा० ता०, पृ० ३८३, ३८४।

३९. दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः। प्र० वा०, १.८७।

४०. रक्ते चैकस्मिन्नवयवे तत्स्थानोऽवयव्यपि रक्त इति अवयवान्तरेऽपि तस्याभेदाद् रागोपलम्भप्रसङ्गः अवयवमात्ररागे वा तत्स्थानस्यावयविनो रूपमरक्तं दृश्यते*। सोयं विरुद्धधर्मसंसर्गः। न्या० वा० ता०, पृ० ३८४।* कलकत्ता संस्करण के अनुसार दृश्येत पाठ है। (देखिये पृ० ४७४)।

४१. मि०, प्र० वा० मनोरथनन्दिवृत्ति, १.८७।

चाहिये। यदि यह मान लिया जाये कि अवयवी समस्त अवयवों में अंशतः रहता है, तो जैसे माला का सूत्र अपने अवयवों से माला के अवयवों अर्थात् पुष्पों में रहता है इसी प्रकार अवयवी भी अपने अन्य अवयवों से इन बाह्य अवयवों में रहता है, यह मानना पड़ेगा। तब तो अवयवी के अन्य अवयवों की भी कल्पना करनी पड़ेगी तथा इन अवयवों में रहने वाला फिर कोई अन्य अवयवी और उसके भी अन्य अवयव। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायेगा। अतएव अवयवी का किसी भी प्रकार से अवयवों में रहना संभव नही[४२]।

इस प्रकार विविध युक्तियों से बौद्धदर्शन में अवयवी का खण्डन किया गया है, न्याय-वैशेषिक के समान अवयवों के भीतर किसी एक स्वतन्त्र पदार्थ (अवयवी) की वास्तविक सत्ता को वहाँ स्वीकार नहीं किया गया। वैभाषिक और सौत्रान्तिक ने ही अवयवी का निषेध किया हो यह बात नहीं; विज्ञानवादी और शून्यवादी ने भी बाह्यार्थ की सत्ता का खण्डन करने के लिये अवयवी का खण्डन किया है अवयवी के निषेध से ही बाह्य जगत् में अनात्म या अद्रव्य का बोध होता है। संसार की नश्वरता की भावना के लिये जैसे क्षणभङ्गवाद अपेक्षित है उसी प्रकार अद्रव्यवाद भी। अतः अवयवी की सत्ता का खण्डन बौद्धदर्शन की तात्त्विक मीमांसा एवं निर्वाण मार्ग का एक मुख्य अंग है।

६—सर्वास्तिवादियों के आभ्यन्तर तत्त्व (चित्त, चैत्त धर्म)

सर्वास्तिवादियों ने भूत भौतिक तत्त्वों के विवेचन के साथ २ चित्त और चैत्त तत्त्वों का भी विवेचन किया है। चित्त, चेतना मन या विज्ञान[४३] एक क्षणिक धर्ममात्र है—नैरात्म्य धर्म है, जिसका विशद विवेचन अनात्मवाद के परिच्छेद में किया जायेगा। चैत्त शब्द का शाब्दिक अर्थ 'चित्त में होने वाला' (चित्ते भवः चैत्तः) लिया जा सकता है। किन्तु बौद्ध दर्शन में चित्त या मन ऐसा धर्मी नहीं हो सकता जिसमें कोई अन्य धर्म रहता हो; अतएव बौद्ध दर्शन की दृष्टि से चैत्त शब्द का अर्थ होगा—चित्त सम्बन्धी; चित्त से अभिन्न हेतुओं द्वारा उत्पन्न। जिन हेतुओं से चित्त (ज्ञान या विज्ञान) की उत्पत्ति होती है उन्हीं हेतुओं से चैत्त धर्मों की भी उत्पत्ति हीती है, यही इनकी चैत्त संज्ञा का कारण भी प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र के शब्दों से चैत्त शब्द की यही व्याख्या प्रकट होती है। 'चैत्तानां चित्ताभिन्नहेतुजानाम्'?[४३क] "अर्थात् चैत्त का अर्थ है—चित्त से अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने वाला। यहाँ सुख आदि को ही चैत्त माना गया है। वाचस्पति मिश्र ने चित्त चैत्त धर्मों के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रकाश डाला है। शांकर-भाष्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

"भूत और भौतिक को कहकर (आचार्य शंकर) चित्त चैत्तों को बतलाते हैं—तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः)। इनसे (विषय) ग्रहण किये जाते

---

४२. यत्खलु बहुषु वर्तते तत्प्रत्येकं समष्ट्या वा यथा कलविङ्ककण्ठगुणः। एकदेशेन वा यथा स्रक्सूत्रं कुसुमेषु। न च कृत्स्नैकदेशाभ्यां प्रकारान्तरमस्ति अनयोरन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकत्वात् नित्यत्वानित्यत्ववदिति। न चैकत्र कृत्स्नसमाप्तावन्यत्र तस्यैव सम्भवइति तथा सति कृत्स्नसमाप्तेरभावात्, तस्माद् योऽवयवान्तरे दृश्यते नासाववयवी, तथा चावयवा एवेति प्राप्तमित्यपि द्रष्टव्यम्।......यदि हि एकदेशान्तराण्यस्य स्युः ततस्तेष्वपि वृत्तावेकदेशान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्ग इत्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० ३८१।

४३. चित्तं मनोऽथ विज्ञानमेकार्थम्। अभिधर्म २.३४। ४३ क.-भामती, पृ० ५३३।

हैं अथवा ये ग्रहण किये जाते हैं, इस व्युत्पत्ति से विषयों सहित इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध हैं। यद्यपि गृह्यमाण पृथिवी आदि बाह्य हैं तथापि शरीर रूप में संहत होने के कारण अथवा इन्द्रिय सम्बन्ध के कारण आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी या चित्त सम्बन्धी) हो जाते हैं। 'मैं' (अहम्) इस प्रकार का (ज्ञान) अथवा इन्द्रियों आदि से उत्पन्न रूपादि विषयक प्रवाह रूप ज्ञान (दण्डायमान:) विज्ञानस्कन्ध है। जो प्रिय, अप्रिय अथवा अनुभय (जो न प्रिय हो न अप्रिय) विषय को प्राप्त करके मन की सुख या दुःख या सुख दुःख से रहित विशेष अवस्था हो जाती है वह वेदनास्कन्ध है। संज्ञा (नाम) आदि सहित प्रतीत होने वाला सविकल्पक ज्ञान; जैसे—'डित्थ, कुण्डली (कुण्डलवाला), गौर (गोरे रंग का) ब्राह्मण जाता है' इत्यादि संज्ञास्कन्ध है। राग आदि क्लेश, मद मान आदि उपक्लेश तथा धर्म और अधर्म संस्कारस्कन्ध है। इनका समुदाय पंचस्कन्धों वाला है"।[४४]

यहां शांकर भाष्य में बौद्धदर्शन के पांच स्कन्धों को गिनाया गया है। इन पांच स्कन्धों में, बौद्धदर्शन के अनुसार, सभी तत्त्व आ जाते हैं। यहाँ बौद्धों के भूत तथा भौतिक तत्त्वों का निर्देश करके रूपादि पांच स्कन्धों को बतलाया गया है अत: वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार चित्त तथा चैत्त तत्त्वों का बोध कराने के लिए इनका उल्लेख किया गया है। वास्तव में 'रूपस्कन्ध' जिसमें चार पृथिवी आदि भूत तथा पांच इन्द्रियां और उनके ५ विषय सम्मिलित हैं, भूत और भौतिक तत्त्वों का समुदायमात्र है, इसे चित्त-चैत्त तत्त्वों में नहीं गिनाया जा सकता। हाँ, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है, इसे आध्यात्मिक तत्त्वों में केवल इस दृष्टि से माना जा सकता है कि इन्द्रियां काया में स्थित होती हैं तथा विषय इन्द्रियों से सम्बन्ध रखते हैं। असल बात तो यह है कि बौद्धदर्शन में बाह्य (भूत; भौतिक) तथा आभ्यन्तर (चित्त, चैत्त) ये दो भेद भी समस्त तत्त्वों के किये गये हैं और उन्हीं समस्त तत्त्वों को अध्यात्म की दृष्टि से रूपादि पांच स्कन्धों में भी विभक्त किया गया है अत: चित्त, चैत्त को प्रकट करने के लिए रूपादि पांचस्कन्धों का उल्लेख कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। रूप-स्कन्ध तो स्पष्ट रूप से भूत और भौतिक है[४५]। हाँ, अन्य चारों स्कन्धों में सभी चित्त और चैत्त समा जाते हैं।

चित्त-विज्ञान स्कन्ध ही जिसे चित्त या मनस् कहा जाता है, 'चित्त' है। बौद्धदर्शन में विज्ञान दो प्रकार का माना जाता है (१) आलय विज्ञान (२) प्रवृत्ति विज्ञान। 'अहम्' (मैं) की प्रतीति का विषय आलय विज्ञान है तथा इन्द्रियादि से उत्पन्न होने वाला नीलादिविषयक निर्विकल्पक ज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान है[४६]। इन दोनों का ही 'विज्ञान' कहने से

४४. भूतभौतिकानुक्त्वा चित्तचैत्तानाह—तथा रूपेति। रूप्यन्ते एभिरिति रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्ध:। यद्यपि रूप्यमाणा: पृथव्यादयो बाह्या: तथापि कायस्थत्वाद् वा इन्द्रियसम्बन्धाद् वा भवन्त्याध्यात्मिका:। विज्ञानस्कन्धोऽहमित्याकारो रूपादिविषय इन्द्रियादिजन्यो वा दण्डायमान:। वेदनास्कन्धो या प्रियाप्रियानुभयविषयस्पर्शे सुख-दुःखतद्रहितविशेषाऽवस्था चित्तस्य जायते स वेदनास्कन्ध:। संज्ञास्कन्ध: सविकल्पप्रत्यय: संज्ञासंसर्गयोग्यप्रतिभास: यथा डित्थ: कुण्डली, गौरो ब्राह्मणो गच्छतीत्येवंजातीयक:। संस्कारस्कन्धो रागादय: क्लेशा: उपक्लेशाश्च मदमानादय:, धर्माधर्मौ चेति। तदेतेषां समुदाय: पञ्चस्कन्धी। भामती, पृष्ठ ५२४।

४५. मि०, Keith : Buddhist Philosophy, p. 85

४६. तत्स्यादालयविज्ञानं यद् भवेदहमास्पदम्। तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥
कल्पतरुपरिमल, पृ० ५२४।

बोध होता है। यह दोनों प्रकार का विज्ञान ही प्रवाहरूप है अर्थात् विज्ञानक्षणों की सन्तति मात्र है इसी को प्रकट करने के लिये भामती टीका में 'दण्डायमान' यह पद दिया गया है[४७]।

चैत्त-(वेदना, संज्ञा और संस्कार)—ये तीन स्कन्ध चैत्त धर्मों के अन्तर्गत हैं। अथवा यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-दर्शन के अभिमत चित्तसम्बन्धी सभी 'धर्मों' का इन तीन स्कन्धों में समावेश हो जाता है। 'वेदना' (feeling) चित्त की विशेषावस्था को कहते हैं। जब चित्त प्रिय (अनुकूल) विषय का स्पर्श करता है तो उसकी सुखावस्था होती है, जब वह अप्रिय (प्रतिकूल) विषय का स्पर्श करता है तो उसकी दुःखावस्था होती है, जब ऐसे विषय का स्पर्श करता है जो न प्रिय है न अप्रिय ही (अनुभय) तो उसकी सुखदुःख रहित (उदासीन) अवस्था होती है। चित्त की यह सुख दुःख तथा तद्रहितावस्था विशेष ही वेदना कहलाती है। 'संज्ञास्कन्ध' सविकल्पकज्ञान (definite cognition) का नाम है, यह ज्ञान संज्ञादि संसर्ग के योग्य होता है ; जैसे—'यह डित्थ नाम वाला कुण्डलधारी गौरवर्ण का ब्राह्मण जाता है' इस प्रतीति में संज्ञा (डित्थ आदि) जाति (ब्राह्मण) गुण (गौरापन) तथा क्रिया (गमन) की प्रतीति होती है। इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान ही संज्ञा कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक निश्चयात्मक (definite) प्रतीति, जैसे नीला, पीला लम्बा-छोटा, स्त्री-पुरुष, मित्र-शत्रु, सुखी-दुःखी-इत्यादि 'संज्ञा' शीर्षक के अन्तर्गत आती है. जो निर्विकल्पक ज्ञान (विज्ञान) से भिन्न है[४८]। सविकल्पकज्ञान को 'संज्ञा' कहने से ही यह विदित होता है कि विज्ञान स्कन्ध के भीतर निर्विकल्पक ज्ञान ही लिया जाता है[४९]।

तीसरा चैत्त धर्म संस्कार' है। 'संस्कार'शब्द अनिश्चित सा है इसमें अनेक चैत्त धर्मों का समावेश है[५०]। संस्कार की व्याख्या करते हुए श्चेरबात्स्की ने बतलाया है-"चेतना (will) और संस्कार (force) की परिभाषा एक ही है—जो संयुक्त धर्मों (संस्कृत) का आविर्भाव करता है (अभिसंस्करोति)"[५१]। संस्कार में रागादि क्लेशों, मद मान आदि उपक्लेशों तथा धर्म, अधर्मादि का समावेश है, यह वाचस्पति मिश्र ने दिखलाया है।

चित्त और चैत्त धर्मो की उत्पत्ति के हेतु—जैसा कि चैत्त शब्द का विश्लेषण करते हुए ऊपर कहा गया है, ये चित्त और चैत्त समान हेतुओं से उत्पन्न होते हैं। जिन हेतुओं से चित्त या विज्ञान उत्पन्न होता है उनका बौद्ध दर्शन में विस्तार से विवेचन किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने—'चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते' चार प्रकार के हेतुओं को प्राप्त करके चित्त-चैत्त उत्पन्न होते हैं, इस शांकरभाष्य की व्याख्या करते हुए विज्ञान की उत्पत्ति के हेतुओं का इस प्रकार उल्लेख किया है—

---

४७. दण्डायमानं प्रवाहापन्नम्। वेदान्तकल्पतरु, पृ० ५२४।

४८. CCB., p. 16 L. 15.

४९. मि०, सविकल्पप्रत्यय इत्यनेन विज्ञानस्कन्धो निर्विकल्प इति भेदः स्कन्धयोर्ध्वनितः। वेदान्तकल्पतरु, पृ० ५२४।

५०. मि०, The vagueness of the term is illustrated in the Abhidhamma, where some-fifty mental constituents are subsumed under it. Keith : Buddhist philosophy, p. 86.

५१. CCB., p. 17 L. 15.

"नील प्रतीति रूप विज्ञान की नीलाकारता नील नामक आलम्बन प्रत्यय से होती है। उसकी बोधरूपता पूर्वविज्ञान रूपी समनन्तर प्रत्यय से होती है। उसमें रूपग्रहण का नियम नेत्र नाम के अधिपति प्रत्यय से होता है तथा वस्तु को स्पष्ट भासित करना प्रकाश (आलोक) नाम के सहकारिप्रत्यय के कारण होता है। इसी प्रकार विज्ञान से अभिन्न हेतुओं द्वारा उत्पन्न होने वाले 'चैत्त' धर्मों के भी ये ही चार प्रकार के कारण होते हैं।"[५२]

जब नील का ज्ञान होता है, जिसे नील-विज्ञान कहते हैं, तो उसके चार हेतु होते हैं--(१) आलम्बन प्रत्यय (२) समनन्तर प्रत्यय (३) अधिपतिप्रत्यय (४) सहकारिप्रत्यय। यहाँ नील (धर्म या स्वलक्षण) आलम्बन प्रत्यय कहलाता है, जिसकी प्रतीति होती है वही आलम्बन प्रत्यय है।[५३] इसी के कारण 'नील-विज्ञान है' यह व्यवहार होता है अर्थात् विज्ञान में नील-रूपता आती है। दूसरा हेतु 'समनन्तर प्रत्यय' कहलाता है। पूर्व विज्ञान ही नील-विज्ञान का समनन्तर है जिस विज्ञान के अनन्तर नील-विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वही समनन्तर प्रत्यय है।[५४] विज्ञान का तीसरा हेतु अधिपति-प्रत्यय कहलाता है, जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह रूपज्ञान है (या नील ज्ञान) है इसका निर्धारण इस बात से किया जाता है कि वह चक्षु से हुआ है अतः चक्षु ही अधिपति-प्रत्यय है। रूप आदि ज्ञान का नियामक होने के कारण ही नेत्र आदि अधिपतिप्रत्यय कहलाते हैं। लोक में भी नियामक को अधिपति कहते हैं।[५५] विज्ञान का चौथा हेतु सहकारी-प्रत्यय कहलाता है। प्रकाश के कारण 'नील' की स्पष्ट प्रतीति होती है अतः प्रकाश सहकारि-प्रत्यय कहा जाता है, जो हेतु विज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है वही सहकारी-प्रत्यय है। श्चेरबात्स्की का कथन है कि--"समनन्तर-प्रत्यय (=उपसर्पण प्रत्यय) वैशेषिक के समवायिकारण के समान है तथा अधिपति प्रत्यय और कारणहेतु वैशेषिक के करण (=साधकतमं करणम्) के समान है।[५६] किन्तु असल में यह समता एकदेशीय है; क्योंकि बौद्धों ने चित्त (विज्ञान), चैत्त धर्मों के हेतुओं का ही इस रूप में निर्देश किया है,[५७] सभी वस्तुओं के ये चार कारण नहीं बतलाये; जबकि वैशेषिक के समवायी कारण आदि सामान्यतया सभी उत्पन्न (कृतक) वस्तुओं के हेतु होते हैं। इसके अतिरिक्त उपसर्पण प्रत्यय भी समनन्तर प्रत्यय अथवा समवायिकारण से नितान्त भिन्न है, यह आगे दिखलाया जायेगा।[५८]

चैत्त धर्म सुख आदि हैं, उनकी भी इसी प्रकार के चार हेतुओं से उत्पत्ति होती है। बौद्धों के अनुसार सुख की उत्पत्ति में भी रूप आदि विषय आलम्बन प्रत्यय हैं। विज्ञान ही समनन्तर प्रत्यय है, इन्द्रियाँ ही अधिपति प्रत्यय हैं तथा प्रकाश इत्यादि ही सहकारी-प्रत्यय

---

५२. नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान् नीलाकारता। समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणप्रतिनियमः। आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद् हेतोः स्पष्टार्थता। एवं सुखादीनामपि चैत्तानां चित्ताभिन्नहेतुजानां चत्वार्येतान्येव कारणानि। भामती, पृ० ५३३।

५३. यदाभासा हि बुद्धिस्तदस्या आलम्बनप्रत्ययः। न्या० वा० ता०, पृ० ३६६।

५४. समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसन्तानवर्तिन्युपादाने ज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धः। (मो०) तर्कभाषा, पृ० ६।

५५. मि०, वेदान्तकल्पतरु, पृ० ५३३।

५६. Samanantara-pratyaya (=upasarpaṇa-pratyaya) is similar to the samavāyi-kāraṇa of vaiceṣika. Adhipati pratyaya and Kāraṇ hetu are similar to the Karaṇ (=sādhakatamaṃ Karṇaṃ) of the vaiceṣika. CCB. p. 90.

५७. चतुर्भिः चैत्ता हि-चित-चैत्ता हि चतुर्भिः प्रत्ययैरुत्पद्यन्ते। अभि०, २.६४।

५८. आगे, परि० ८ अनु० ८ (iii)।

हैं। सुख आदि भी विज्ञान का एक स्वरूप माना जाता है, जिसका आगे विवेचन किया जायेगा।[५९]

७. वाचस्पति मिश्र द्वारा सौत्रान्तिक सिद्धान्तों का निरूपण

वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में यत्र तत्र सौत्रान्तिक के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। विशेषकर न्यायकणिका (पृ० २५६-२५८) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (पृ० ६५७-६५९) तथा भामती (पृ० ५४४-५४६) में सौत्रान्तिक का नामोल्लेख करते हुए उसके कुछ मन्तव्यों का विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों से प्रतीत होने वाले सौत्रान्तिक के मन्तव्य इस प्रकार हैं—

(१) **सौत्रान्तिक बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करता है**—जैसा कि ऊपर[६०] उल्लेख किया गया है, वाचस्पति मिश्र के अनुसार सौत्रान्तिक भी भूत भौतिक और चित्त-चैत्त दोनों प्रकार (बाह्य और आभ्यन्तर) के पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी वाचस्पति मिश्र ने यह बतलाया है कि सौत्रान्तिक बाह्य अर्थ की सत्ता को स्वीकार करता है—

> **सौत्रान्तिकनये तावद् बाह्यमस्ति वस्तुसत्। भामती, पृ० २६।**
> **बाह्यवादिनोरपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः। भामती, पृ० ४४२।**

(२) **सौत्रान्तिक के मत में ज्ञान साकार है**—निराकार ज्ञान द्वारा बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, सौत्रान्तिक इस पर बल देता है। उसके मत में बाह्य वस्तुएँ साकार ज्ञान का विषय हैं। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका तथा न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में सौत्रान्तिक की साकार-ज्ञानवाद-सम्बन्धी युक्तियों का विशद विवेचन किया है। निराकार ज्ञान द्वारा बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता, यह विवेचन करते हुए न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका में बतलाया गया है—

"यदि बाह्य अर्थ निराकार ज्ञान का विषय होगा तो वह चार प्रकार से हो सकता है--(१) सत्तामात्र से; अर्थात् बाह्यार्थ विद्यमान होने मात्र से ही निराकार ज्ञान का विषय हो जाता है, उसके लिए अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं। (२) कारण होने से; क्योंकि बाह्य वस्तु ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है अतएव वह ज्ञान का विषय (ग्राह्य) कहलाती है। (३) एक सामग्री[६१] के आधीन होने से; अर्थात् बौद्धमत में कारण-सामग्री से कार्यपुञ्ज की उत्पत्ति होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान के चार कारण हैं—अर्थ (आलम्बन-प्रत्यय), इन्द्रिय (अधिपति-प्रत्यय) पूर्व–विज्ञानक्षण (समनन्तर-प्रत्यय) तथा प्रकाश आदि (सहकारी-प्रत्यय)। प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। उस (वस्तु) के दूसरे क्षण की उत्पत्ति में पूर्व अर्थक्षण उपादान कारण है तथा ज्ञान सहकारी कारण है। इसी प्रकार दूसरे ज्ञानक्षण की उत्पत्ति में ज्ञान उपादान कारण है और अर्थ सहकारी कारण है। इस प्रकार

---

५९. आगे, परि० ४ अनु० ६।
६०. ऊपर, परि० ३ अनु० १।
६१. BL. Vol. II, p. 353 fn 6. तथा न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० १४।

दोनों की उत्पत्ति एक सामग्री के अधीन है। एक सामग्री के अधीन होने से बाह्य अर्थ ज्ञान का ग्राह्य है—यह अभिप्राय है। अथवा (४) ज्ञान के द्वारा उत्पन्न किये हुए फल का आधार होने से कोई अर्थ ज्ञान का ग्राह्य कहलाता है; जैसा कि मीमांसक मानते हैं कि ज्ञान द्वारा अर्थ में ज्ञातता या प्रकटता नाम का धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है"।[६२]

इन चारों प्रकार से ही बाह्यार्थ ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। (प्रथम) "यदि विद्यमान होने मात्र से ही कोई अर्थ ज्ञान का विषय होगा तो सत्ता सभी वस्तुओं की है, इसलिए समस्त अर्थ सभी विज्ञानों के ग्राह्य (विषय) हो जायेंगे और इस प्रकार सभी जन सर्वज्ञ हो जायेंगे। साथ ही यह नियम नहीं है कि सत्ता होने से ही कोई वस्तु ग्राह्य होती है; क्योंकि असद् या अभाव भी ज्ञान का विषय होता है"।[६३]

"(द्वितीय भी नहीं) अतएव ज्ञान का कारण होने से कोई अर्थ निराकार ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता। किञ्च नेत्र इत्यादि भी ज्ञान का कारण हैं, इसलिए वे भी रूपविज्ञान का विषय होने लगेंगे। दूसरा दोष यह भी होगा कि ज्ञान में वर्तमान काल का आभास न हुआ करेगा। कारण यह है कि ज्ञान का उत्पादक जो अर्थक्षण है वह तो क्षणमात्र रहने वाला है अतः वह उत्पन्न होने वाले ज्ञान के समय में नष्ट हो जाता है (विनिपातात्)। (जब ज्ञान के काल में अर्थक्षण विद्यमान नही रहता तो उसके विषय में 'यह है' इस प्रकार वर्तमान काल का आभास कैसे हो सकता है?)"[६४]

"(तृतीय भी नहीं) यदि निराकार ज्ञानवादी कहे कि एकसामग्री की अधीनता के कारण कोई अर्थ किसी ज्ञान का विषय होता है, इस प्रकार ज्ञान में वर्तमान काल का आभास होना सम्भव है तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि एक सामग्री के अधीन तो इन्द्रिय आदि भी हैं। अतः वे भी ज्ञान का विषय होने लगेंगे"।[६५]

(चतुर्थ) यदि मीमांसक के अभिमत चतुर्थ मत के अनुसार यह माना जाये कि ज्ञान द्वारा अर्थ में फल उत्पन्न हो जाता है, अतः ज्ञान ने जिस अर्थ में ज्ञातता उत्पन्न की है वही उस ज्ञान का विषय माना जाता है तो प्रश्न यह है कि ज्ञान अर्थ में क्या चीज उत्पन्न करता है? यदि मीमांसक कहे कि ज्ञान ज्ञातता या प्रकटता को अर्थ में उत्पन्न करता है तो यह

---

६२. विज्ञानस्य बाह्योऽर्थो ग्राह्यो भवन् निराकारस्य सत्तामात्रेण वा भवेत्, कारणत्वेन वा, एकसामग्र्यधीनत्वेन वा, ज्ञानाहितफलाधारत्वेन वा। न्या० वा० ता०, पृ० ६५६।

६३. न तावत्सत्तामात्रेणान्यस्यान्यो विषयः सत्तामात्रस्य विषयान्तरेषु भावात् सर्वेऽर्थाः सर्वविषयाः इति सर्वसर्वज्ञतापत्तिः। न च सत्तामात्रमपि विषयत्वव्यवस्थापकम् असतोऽपि विषयत्वात्। वही, पृ० ६५६।

६४. अतएव न कारणत्वेन विषयभावः। अपि च चक्षुरादयोऽपि विज्ञानस्य कारणमिति विषया रूपविज्ञानस्य प्रसज्येरन्। वर्तमानावभासि च विज्ञानं न भवेत्। क्षणिकत्वेनोत्पादकस्यार्थक्षणस्योत्पाद्यविज्ञानसमये विनिपातात्। न्या० वा० ता०, पृ० ६५६।

६५. एकसामग्रीप्रतिबन्धेन वा वर्तमानविषयत्वे नेत्रादीनामपि तदेकसामग्रीनिवेशिनां विज्ञानकालानां ग्रहणप्रसङ्गः। न्यायकणिका, पृ० २५४। यहाँ न्या० वा० ता०, पृ० ६५६ का पाठ अस्पष्ट है वह कलकत्ता तथा बनारस संस्करणों में भिन्न २ प्रकार का है अतः सन्दिग्ध भी है।

कहना संगत नहीं; क्योंकि प्रकटता अर्थ का धर्म ही नहीं। यदि यह अर्थ का धर्म होवे तो शुक्ल आदि के समान समस्त मनुष्यों को सामान्यतः इसका अनुभव होना चाहिये। इस पर यदि कहा जाए कि ज्ञातता का स्वरूप ही यह है कि यह केवल उस व्यक्ति को ही भासित होती है, जिस व्यक्ति के ज्ञान से उत्पन्न होती है, जिस प्रकार जिस व्यक्ति की अपेक्षाबुद्धि[६६] से जो द्वित्व (अर्थ का धर्म) उत्पन्न होता है उस व्यक्ति को ही उसका अनुभव होता है, अन्य को नहीं।

यह भी ठीक नहीं (तन्न); क्योंकि ज्ञान द्वारा अर्थ में फल उत्पन्न होता है यह व्यापक नियम नहीं बन सकता। शब्द और अनुमान से उत्पन्न होने वाले अनेक ऐसे ज्ञान हैं जिनके विषय अतीत कालीन अर्थ हैं या आगन्तुक अर्थ हैं; किन्तु वे ज्ञान उन अर्थों में फल उत्पन्न नहीं कर सकते; क्योंकि ज्ञान के समय अर्थ की विद्यमानता ही नहीं हो सकती। और, यह तो सम्भव नहीं कि धर्मी (अर्थ) तो विद्यमान न हो या उत्पन्न न हुआ हो और उसका धर्म (ज्ञातता) विद्यमान हो (अविनश्यन्) अथवा उत्पन्न हो जाये"।[६७]

ज्ञान को निराकार मानने वाले वैभाषिक, न्याय-वैशेषिक या मीमांसक हैं। उनके मतानुसार ऊपर के चार प्रकार से ही बाह्य अर्थ निराकार ज्ञान का विषय हो सकता है; किन्तु यह सम्भव नहीं है। इस पर वैभाषिक की ओर से यह युक्ति दी जाती है कि अपने कारणों से ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जिसमें अपने स्वरूप (आत्म) को भासित करने के साथ २ अर्थ को (अनात्म) भासित करने की शक्ति होती है इसलिए कोई अर्थ ही ज्ञान का विषय होता है सभी अर्थ उसके विषय नहीं होते।[६८]

यह भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि शक्ति तो शक्य (अर्थ) विषयक होती है तब ज्ञान की शक्ति का विषय क्या है? यदि अर्थ ही उसका विषय है तो क्या अर्थ को ज्ञान का उत्पाद्य (निर्वर्त्य)[६९] विषय माना जाय यह तो हो नहीं सकता; क्योंकि अर्थ तो ज्ञान का उत्पादक है (उत्पाद्य नहीं); यह अभी कहा जा चुका है कि ज्ञान के द्वारा अर्थ में फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरा दोष यह भी है कि जब शक्य अर्थ विद्यमान नहीं रहता तो तद्विषयक

---

६६. **अपेक्षाबुद्धि**—दो या अधिक वस्तुओं में जो 'यह पदार्थ एक है' और 'यह पदार्थ एक है' इस प्रकार से दो या अधिक 'एकत्वों' (एक संख्याओं) की साथ २ प्रतीति होती है वही 'अपेक्षाबुद्धि' कहलाती है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार अपेक्षाबुद्धि से ही 'द्वित्व' आदि संख्या उत्पन्न होती है।

६७. विज्ञानाहितफलाधार······प्रत्युत्पन्नरूप इति। न्या० वा०, पृ० ६५६-६५७।

६८. स्वकारणादात्मानात्मप्रकाशनशक्तियुक्तम् उत्पद्यते ज्ञानं तादृशं येन कश्चिदेवास्य विषयो न सर्वमिति चेत्। न्या० वा० ता०, पृ० ६५७।

६९. न्यायकणिका (पृ० २५५) में इस शंका का विस्तार से निरूपण किया गया है। विषय चार प्रकार का होता है (१) निर्वर्त्य: जैसे संयवन क्रिया (मिश्रणक्रिया) का विषय पिण्ड होता है, (२) विकार्य; जैसे खोटना क्रिया का विषय व्रीहि नामक धान्य होता है (३) संस्कार्य विषय; जैसे प्रोक्षण क्रिया का विषय ओखली आदि होते हैं (४) प्राप्य; जैसे दोहन क्रिया का प्राप्य दुग्ध होता है। इनमें से बाह्य अर्थ, ज्ञान का किसी प्रकार का भी विषय नहीं हो सकता।

ज्ञान की शक्ति कैसे रह सकती है। "इसलिए बाह्यार्थ निराकार विज्ञान का विषय होगा यह मिथ्या कल्पना ही है। अतः बाह्यार्थ साकार ज्ञान का ही विषय होता है"।[७०]

इसी प्रकार न्यायकरिणका में भी साकारज्ञानवाद का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही एक विशेष युक्ति यह भी दी गई है कि यदि ज्ञान निराकार है और विज्ञान का प्रकाशन ही अर्थ का प्रकाशन है तब निराकार ज्ञान में कोई भेद तो है नहीं। अतएव यह नील का ज्ञान है यह पीत का ज्ञान है, इस प्रकार का विभाग नहीं होगा और नील आदि विशेष अर्थ के इच्छुक व्यक्तियों की यथेष्ट प्रवृत्ति न हो सकेगी। किन्तु जब विज्ञान को साकार माना जाता है (नील का ज्ञान नीलाकारक है और पीत का पीताकारक) तो विषय-विभाग बन जाता है और प्रमाणफल-व्यवस्था भी बन जाती है; क्योंकि जो ज्ञान में नीलसारूप्य है वह ज्ञान की व्यवस्था का हेतु है, अतः वह प्रमाण कहलाता है और जो इसकी प्रतीति नील अर्थ में व्यवस्थित की जाती है वही (नीलप्रतीति=संविद्रूपता) प्रमाण का फल है।[७१]

(३) **सौत्रान्तिक बाह्य-अर्थ को अनुमेय मानता है**—बौद्धों का सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्यार्थवादी है। किन्तु जैसा अभी सिद्ध किया गया है, वह ज्ञान को साकार मानता है। कोई ज्ञान नील आदि वस्तु का सारूप्य ग्रहण करके नीलाकारक हो जाता है और जब उस ज्ञान का स्वसंवेदन होता है तो 'यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, यह उसका मन्तव्य है। इस पर प्रश्न यह है कि यदि ज्ञान साकार है तो बाह्य अर्थ की सत्ता में क्या प्रमाण है ? क्योंकि वैभाषिक के समान सौत्रान्तिक बाह्य अर्थ को संविद् का साक्षात् ग्राह्य नहीं मानता, जो संविद् से ही उसकी सत्ता सिद्ध हो जाये। इसके उत्तर में सौत्रान्तिक का यही कहना है कि बाह्यार्थ अनुमेय है, 'यह नील है' इस ज्ञान से बाह्य नील का अनुमान किया जाता है। इसी हेतु सौत्रान्तिक को 'बाह्यार्थानुमेयवादी' कहा जाता है। इस विषय में डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का कथन है कि जो परम्परावादी (orthodox) लेखकों ने सौत्रान्तिक को बाह्यार्थानुमेयवादी बतलाया है वह बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता।[७२] इसके विस्तार में जाना यहाँ प्रासङ्गिक नहीं जान पड़ता ; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अनेक स्थलों पर सौत्रान्तिक की बाह्यार्थानुमेयता का उल्लेख किया है, कहीं स्पष्टरूप में तथा कहीं संकेत रूप में। न्यायतात्पर्यटीका में वे लिखते हैं—तदिदमनुमानं सौत्रान्तिकानां बाह्याभ्युपगम इति। न्या० वा० ता०, पृ० ६५६।

"यह अनुमान है—सौत्रान्तिकों के बाह्यार्थ स्वीकार में"

---

७०. तस्मादनाकारं विज्ञानं बाह्यं गोचरयतीति मनोरथमात्रम्। अस्तु साकारमेव बाह्यगोचरम्। न्या० वा० ता०, पृ० ६५७।

७१. अपि च विज्ञानप्रकाश एव चेदर्थप्रकाशस्ततस्तद्भेदेनाऽर्थभेदो व्यवस्थापनीयः। तस्य च निराकारतया विशेषस्याभावाद् इदं नीलस्य संवेदनमिदं पीतस्येति विभागाभावादर्थक्रिया-विशेषार्थिनो न प्रवर्त्तेरन्। आकारभेदवत्त्वे तु विज्ञानस्य नीलसारूप्यं व्यवस्थापनहेतुत्वात् प्रमाणं संविद्रूपता त्वस्य नीलेऽर्थे व्यवस्थाप्यमानत्वात् फलम्। न्यायकरिणका, पृ० २५६।

७२. Critique of Indian Realism, p. 41.

भामती टीका में और अधिक स्पष्ट रूप से सौत्रान्तिक को बाह्यार्थानुमेयवादी बतलाया गया है—

तस्मादसति बाह्येऽर्थे प्रत्ययवैचित्र्यानुपपत्तेरस्त्यानुमानिको बाह्यार्थ इति सौत्रान्तिकाः प्रतिपेदिरे । भामती, पृ० ५४६ ।

"क्योंकि बाह्य अर्थ के अभाव में प्रतीति की विचित्रता (विविधता) नहीं बन सकती इस हेतु बाह्य अर्थ आनुमानिक है—(अनुमानगम्य या अनुमेय है) इसका सौत्रान्तिक प्रतिपादन करते थे।"

(४) **सौत्रान्तिक की बाह्यार्थसाधक युक्तियाँ**—सौत्रान्तिक सम्प्रदाय ने बाह्य अर्थकी सिद्धि पर बड़ा बल दिया। विज्ञानवादी सम्प्रदाय की बाह्यार्थ ध्वंसिनी उक्तियों का खण्डन करने वाला यह सबसे अधिक शक्तिशाली दर्शन कहा जा सकता है। इसी हेतु राहुल सांकृत्यायन ने सौत्रान्तिक के विषय में कहा है—"वह बाह्य विज्ञानवाद से उलटे बाह्यार्थवादी है"।[७३] सौत्रान्तिक ने बाह्य अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक युक्तियां दी हैं।

उसकी मुख्य युक्ति यह है—"बाह्य अर्थ के न होने पर 'यह नील है', 'यह पीत है' इस प्रकार की विचित्र प्रतीति कैसे हो सकती है"।[७४] उसके अभिप्राय को समझाते हुए भामती ग्रन्थ में कहा गया है—

"वह (सौत्रान्तिक) मानता है कि जिसके (निरन्तर) होने पर भी जो कभी कभी होते हैं, वे उससे भिन्न हेतु की अपेक्षा रखते हैं, जैसे मेरे (किसी सन्तान विशेष के) बोलने तथा जाने की इच्छा न करने पर जो वचन तथा गमन विषयक प्रतीति होती है वह अन्य चेतन सन्तान की अपेक्षा से होती है। इसी प्रकार आलय-विज्ञान की सन्तति के रहने पर भी जो ये विचार के विषय ६ प्रवृत्ति-विज्ञान होते हैं ये भी हैं—यह स्वभाव हेतु है। और, जो यह आलय-विज्ञान सन्तान से भिन्न कभी कभी होने वाले (कादाचित्क) प्रवृत्ति विज्ञानों का कारण है, वही बाह्य अर्थ है"।[७५]

अभिप्राय यह है कि नील ज्ञान के समय अथवा पीत ज्ञान के समय तथा विभिन्न-इन्द्रियों के चाक्षुष ज्ञान या श्रावणज्ञान के समय भी समान रूप से ही आलय विज्ञान की सन्तति विद्यमान है। फिर ये ज्ञानों में भेद क्यों होते हैं। इस भेद का कोई अन्य कारण होना चाहिये, आलय-विज्ञान में जो प्रवृत्ति-विज्ञानों की विभिन्न तरंगे होती हैं उनके विभिन्न कारण भी होने चाहिएँ। एक ही कारण से तो विविध प्रकार के कार्य होते नहीं। अतएव यह अनुमान किया जाता है कि इन विविध प्रकार के प्रवृत्ति-विज्ञानों

७३. बौद्ध-दर्शन, पृ० ९१।

७४. कथं पुनरसति बाह्येऽर्थे नीलमिदं पीतमित्यादि प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते । भामती, पृ० ५४४।

७५. स हि मेने ये यस्मिन् सत्यपि कादाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तहेतुसापेक्षाः, यथा विवक्षत्यजिगमिषति मयि वचनगमनप्रतिभासाः प्रत्ययाः चेतनसन्तानान्तरसापेक्षाः तथा च विवादाध्यासिताः सत्यप्यालयविज्ञानसन्ताने षडपि प्रवृत्तिप्रत्यया इति स्वभावहेतुः। यश्चासावालयविज्ञानसन्तानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्तिज्ञानहेतुः सः बाह्योऽर्थः इति। भामती, पृ० ५४५।

का कारण आलय-विज्ञान सन्तान से भिन्न कोई और सन्तान है तभी तो कभी नील प्रतीति होती है कभी पीत प्रतीति होती है। वह अन्य सन्तान ही बाह्यार्थ है। इस प्रकार बाह्यार्थ अनुमानगम्य है। अतः विज्ञानवादी का यह कथन संगत नहीं कि बाह्यार्थ की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं।

इस अनुमान के द्वारा बाह्यार्थ की सिद्धि करके ही वह सन्तुष्ट नहीं हो जाता अपितु विज्ञानवादी की धारणा का भी खण्डन करता है। विज्ञानवादी का मन्तव्य है कि अनादिकाल से बीजांकुर के समान निमित्त-नैमित्तिक रूप से वासनाएँ चली आ रही हैं। उनके कारण ही विचित्र प्रतीति हो जाती है; अर्थात् 'यह पीत है', 'यह नील है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इसका खण्डन करते हुए सौत्रान्तिक कहता है—

"यदि वासना-परिपाक का कारण कभी २ होता है, इसी हेतु (प्रवृत्ति-विज्ञानों की) कभी २ उत्पत्ति होती है; अर्थात् एक सन्तान में होने वाले आलय-विज्ञानों में जो ६ प्रवृत्ति-विज्ञानों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा सुखादि) को उत्पन्न करने की शक्ति है उसे वासना कहते हैं। उसका अपने कार्य को उत्पन्न करने में प्रवृत्त होना ही परिपाक है। और, उसका कारण (प्रत्यय) है—अपने सन्तान में विद्यमान पूर्वक्षण, क्योंकि अन्य सन्तान की कारणता तो (विज्ञानवादी) स्वीकार नहीं करते। ऐसा मानने पर भी आलय-विज्ञान की सन्तति में होने वाले सभी क्षण परिपाक के हेतु हो जायेंगे अथवा कोई भी उसका कारण न होगा; क्योंकि आलय-सन्तान में सभी समानरूप से स्थित हैं"।[७६]

विज्ञानवादी कहता है की वासना-वैचित्र्य से बाह्य प्रतीति में विविधता आ जाती है; अर्थात् किसी आलय-विज्ञान के क्षणों में जो प्रवृत्ति-विज्ञान (रूपज्ञान आदि) के उत्पादन की शक्तिविशेष है वह वासना कहलाती है, इस वासना का स्वकार्योत्पादन में प्रवृत्त होना ही इसका परिपाक कहा जाता है। इस वासना-परिपाक का कारण प्रस्तुत होने पर प्रवृत्ति-विज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा कारण के भेद से कार्य भेद हो जाता है। सौत्रान्तिक इस बात का खण्डन करते हुए कहता है कि विज्ञानवादी के मतानुसार उस प्रवृत्ति-विज्ञान का हेतु आलय-विज्ञान का पूर्वक्षण ही है; क्योंकि वह किसी बाह्य अर्थ-सन्तान को इसका कारण मानता नहीं (उसके मतानुसार बाह्य अर्थ कुछ है ही नहीं)। इस प्रकार आलय-सन्तान के सभी क्षण वासना-परिपाक के हेतु होंगे अथवा कोई एक क्षण भी परिपाक का कारण न होगा; क्योंकि सभी क्षण समानरूप से आलय-विज्ञान में रहने वाले हैं। इसके उत्तर में विज्ञानवादी कहता है कि आलय-विज्ञान सन्तति के प्रत्येक क्षण में भिन्न २ शक्ति है उस शक्ति-भेद के कदाचित् होने या न होने से वासना-परिपाक भी कभी होता है कभी नहीं और इसी हेतु प्रवृत्ति-विज्ञान का भी कदाचित् होना या न होना बन पड़ता है। इस उक्ति का खण्डन करते हुए सौत्रान्तिक कहता है—

"क्षणभेद से शक्ति-भेद हो जाता है और उस (शक्ति-भेद) के कदाचित् होने से कार्य भी कदाचित् होता है, यदि ऐसा कहो तो इस प्रकार एक (क्षण) में ही नील ज्ञान को

---

७६. वासनापरिपाकप्रत्ययकादाचित्कत्वात् कदाचिदुत्पाद इति चेत्, नन्वेकसन्ततिपतितानां आलयविज्ञानानां तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिर्वासना, तस्याश्च स्वकार्योपजननं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः, तस्य च प्रत्ययः स्वसन्तानवर्ती पूर्वक्षणः सन्तानान्तरापेक्षानभ्युपगमात्। तथा च सर्वेऽप्यालयसन्तानपतिताः परिपाकहेतवो भवेयुः। न वा कश्चिदपि, आलयसन्तानपातित्वाविशेषात्। भामती, पृ० ५४५।

उत्पन्न करने की तथा उस को जगाने (वासनापरिपाक) की सामर्थ्य होगी, दूसरे क्षण में यह न होगी। यदि दूसरे क्षण में भी यह होती है तो क्षणभेद से सामर्थ्यभेद कहाँ रहा? और, आलय-सन्तान में स्थित सभी क्षण समर्थ हैं। जब समर्थ (कार्य जनन में शक्त) हेतु विद्यमान है तो कार्य (होने) में भी विलम्ब न होना चाहिये (कार्य सदा एक से होने चाहियें)। इस प्रकार (ज्ञानोत्पत्ति) यदि स्वसन्तान मात्र के अधीन है तो निषेध के विषय (कदाचित् होने) के विरुद्ध सदातन होना प्राप्त होता है उससे कदाचित् होने की (जो कि अनुभव सिद्ध है) निवृत्ति हो जाती है अतः वह अन्य हेतु मानने पर ही व्यवस्थित होता है। इस प्रकार व्याप्ति (प्रतिबन्ध) की सिद्धि होती हैं।"[७७]

अभिप्राय यह है कि अन्य (बाह्य) हेतु के बिना केवल आलयसन्तान के आधार पर यह नहीं बन सकता कि कभी नील ज्ञान, कभी पीत ज्ञान होवे, इसलिये अन्य हेतु की सत्ता सिद्ध होती है और वह अन्य हेतु बाह्य अर्थ ही है। इस पर विज्ञानवादी कहता है कि यदि नीलविज्ञान आदि के लिये आलय-सन्तति से भिन्न हेतु की आवश्यकता है भी तो वह अन्य हेतु आलयविज्ञान की अन्य सन्तति हो सकती है, बाह्य अर्थ नहीं। इसका उत्तर देते हुए सौत्रान्तिक कहता है—

"समस्त प्रवृत्तिविज्ञानों का अन्य ज्ञान सन्तति के निमित्त से होना विज्ञानवादियों को इष्ट नहीं, अपितु किसी विच्छिन्न (स्वसन्तति से भिन्न) जाना, बोलना आदि को भासित करने वाले प्रवृत्तिविज्ञान का ही (अन्य सन्तति निमित्तक होना इष्ट है)। और, अन्य प्राणी के विज्ञानसन्तान को निमित्त मानने पर भी उसके सदा निकट रहने के कारण प्रवृत्ति-विज्ञानों का कदाचित् होना संभव नहीं, क्योंकि दूसरे प्राणी की विज्ञानसन्तति देश या काल से दूर नहीं हो सकती। विज्ञानवाद में विज्ञान से अतिरिक्त देश को स्वीकार नहीं किया जाता और विज्ञान अमूर्त हैं अतः वे देश रूप नहीं हो सकते। अपूर्व सत्त्व (प्राणी) की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि इससे संसार की आदिमत्ता होने लगेगी (वह अनादि नहीं रहेगा) इसलिये कालकृत दूरी भी नहीं हो सकती"[७८]।

विज्ञानवादी यह भी नहीं कह सकता कि एक 'क' नाम की आलयविज्ञान सन्तति में 'ख' नाम की आलय-विज्ञान सन्तति के निमित्त से भिन्न २ प्रकार के (नील, पीत) प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं; क्योंकि वह समस्त प्रवृति-विज्ञानों को अन्य आलयविज्ञान सन्तति के निमित्त से उत्पन्न होने वाला नहीं मानता। केवल कुछ स्थल ही ऐसे हैं जहाँ

---

७७. क्षणभेदाच्छक्तिभेदस्तस्य च कादाचित्कत्वात् कार्यकादाचित्कत्वमिति चेत्, नन्वेवमेकस्यैव नीलज्ञानोपजननसामर्थ्यं तत्प्रबोधसामर्थ्यं चेति क्षणान्तरस्यैतन्न स्यात्। सत्त्वे वा कथं क्षणभेदात् सामर्थ्यभेदः। इत्यालयसन्तानवर्तिनः सर्वे समर्था इति समर्थहेतुसद्भावे कार्यक्षेपानुपपत्तेः। स्वसन्तानमात्राधीनत्वे निषेध्यस्य कादाचित्कत्वस्य विरुद्धं सदातनत्वं तस्योपलब्ध्या कादाचित्कत्वं निवर्तमानं हेत्वन्तरापेक्षत्वे व्यवतिष्ठते, इति प्रतिबन्धसिद्धिः। भामती, पृ० ५४५।

७८. न च ज्ञानसन्तानान्तरनिबन्धनत्वं सर्वेषामिष्यते प्रवृत्तिविज्ञानानां विज्ञानवादिभिः, अपितु कस्यचिदेव विच्छिन्नगमनवचनप्रतिभासस्य प्रवृत्तिविज्ञानस्य। अपि च सत्वान्तरसन्तान-निमित्तत्वे तस्यापि सदा सन्निधानात् न कादाचित्कत्वं स्यात्। नहि सत्त्वान्तरसन्तानस्य देशतः कालतो वा विप्रकर्षसंभवः। विज्ञानवादे विज्ञानातिरिक्तदेशानभ्युपगमात्, अमूर्तत्वाच्च विज्ञानानाम् अदेशात्मकत्वात् संसारस्यादिमत्त्वप्रसङ्गेनापूर्वसत्त्वप्रादुर्भावानाभ्युपगमाच्च न कालतोऽपि विप्रकर्षसंभवः। भामती, पृ० ५४६।

वह अन्य आलय- विज्ञान को एक सन्तति में उत्पन्न प्रवृत्ति-विज्ञान का हेतु मानता है, जैसे जब चैत्र या 'क' नाम का एक प्राणी जाने या बोलने का इच्छुक तक नहीं है उस समय जो अकस्मात् मैत्र या 'ख' आदि विज्ञानसन्तति के गमन, वचन सम्बन्धी विज्ञानों का उदय होता है उसमें अन्य आलयविज्ञान कारण माना जाता है; अन्यत्र नहीं। साथ ही यदि विज्ञानवादी इस बात को मान भी ले तो भी दोषपरिहार नहीं हो सकता। यदि किसी प्रवृत्तिविज्ञान का कारण अन्य आलयसन्तान को मान लिया जाये; अर्थात 'चैत्र' नामक प्राणी के आलयसन्तान में उत्पन्न होने वाले प्रवृत्तिविज्ञानों का कारण 'मैत्र' प्राणी के आलय-सन्तान को मान लिया जाये तो वह 'मैत्र' का आलयसन्तान सदा समीप ही रहेगा अतः सदा ही प्रवृत्तिविज्ञान समानरूप से आविर्भूत होते रहेंगे। यदि विज्ञानवादी कहे कि जहाँ (देशगत) और जब (काल गत) 'मैत्र' नामक आलयविज्ञान सन्तति होगी वहाँ उसके निमित्त से प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होगा; अन्यत्र नहीं। ऐसा कथन उस (विज्ञानवादी) के मत में सम्भव नहीं, क्योंकि उसके मत में देश या काल की दृष्टि से मैत्र आदि के आलयसन्तान का अभाव नहीं बन सकता। वह विज्ञान से भिन्न कोई देश नहीं मानता। काल से व्यवधान तब हो सकता है जब कि यह मान लिया जाये कि 'चैत्र' सन्तान में होने वाले नील ज्ञान से पूर्वक्षण में ही 'मैत्र' सन्तान' उत्पन्न होता है। ऐसा मानने पर संसार आदिमान् हो जायेगा जो कि विज्ञानवादी भी नहीं मानता। इस प्रकार नील, पीत आदि प्रवृत्तिविज्ञानों का कारण अन्य प्राणी का आलयविज्ञान नहीं हो सकता और बाह्य अर्थ के बिना प्रतीति की विचित्रता सम्भव नहीं तथा उस (अनुमान) से बाह्यार्थ की सिद्धि हो जाती है।

८. वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक का पारस्परिक सम्बन्ध

वाचस्पति मिश्र के अनुसार वैभाषिक और सौत्रान्तिक के सिद्धान्तों का विवेचन करने से इस बात पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है कि वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? वाचस्पति मिश्र ने दोनों को सर्वास्तिवादी कहा है किन्तु दोनों में अवान्तर भेद है, यह उल्लेख किया है। यह अवान्तर भेद क्या है ? यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने इसका उल्लेख नहीं किया तथापि यत्र-तत्र दोनों के मन्तव्यों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है, उसी से दोनों की कुछ समानताओं तथा असमानताओं का पता चलता है। संक्षेप में दोनों की समानताओं का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

(१) दोनों बाह्य अर्थात् भूत और भौतिक तथा आभ्यन्तर अर्थात् चित्त और चैत्त दोनों प्रकार की वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं।[७९]

(२) दोनों रूपादि धर्मों से भिन्न धर्मी की सत्ता को नहीं स्वीकार करते तथा अवयवों से भिन्न अवयवी को नहीं मानते—न रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम किञ्चिदास्ति नाप्यवयवातिरिक्तः कश्चिदस्त्यवयवीति सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च प्रतिपेदिरे। न्या० वा० ता०, पृ० ६०९

---

७९. ये सर्वास्तिवादिनो बाह्यमाभ्यन्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं, भौतिकं च, चित्तं, चैत्तिकं च। ब्रह्मसूत्र, शा० भाष्य, पृ० ५२४।

दोनों की असमानताओं का इस प्रकार संकेत किया गया है—

(१ वैभाषिक के मत में ज्ञान निराकार है तथा सौत्रान्तिक के मत में साकार।[८०]

(२) वैभाषिक के अनुसार बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष होता है किन्तु सौत्रान्तिक बाह्य अर्थ को अनुमेय बतलाता है।[८१] तथा दोनों की प्रत्यक्ष-प्रकिया में भी अन्तर है। वैभाषिक के अनुसार ज्ञान द्वारा ही अपना तथा अर्थ का प्रकटीकरण होता है, किन्तु सौत्रान्तिक के अनुसार बाह्यार्थ का ज्ञान में सारूप्य होता है।[८२]

(३) वैभाषिकों में कुछ (वात्सीपुत्रीय) आत्मा (पुद्‌गल) को भी मानते हैं, किन्तु सौत्रान्तिक नहीं।[८३]

इनके अतिरिक्त वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक में जो अन्य मौलिक अन्तर हैं उनका वाचस्पति मिश्र ने विवेचन किया हो, यह प्रतीत नहीं होता। साथ ही जिन बातों में बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदाय एक मत हैं; जैसे—क्षणभङ्गवाद, अपोहवाद इत्यादि उनका भी दोनों की समानता के रूप में उल्लेख करना आवश्यक नहीं।

---

८०. ऊपर, परि० ३ अनु० ७ (२)।

८१. ऊपर, परि० ३ अनु० ७ (३)।

८२. आगे, परि० ६ अनु० २।

८३. आगे, परि० १० अनु० १।

परिच्छेद–४

योगाचार तथा माध्यमिक सम्प्रदाय

१. विज्ञानवाद और वाचस्पति मिश्र

योगाचार या विज्ञानवाद बौद्धदर्शन का महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। भारतीय दर्शन के प्रायः समस्त विद्वानों ने इसे चर्चा का विषय बनाया है। इसके सम्बन्ध में अनेक मौलिक बौद्ध ग्रन्थों का पता लग चुका है। किन्तु अब भी वैदिक दर्शनों के विवेचन से इसके समझने में विशेष सहायता मिलती है। न्यायवैशेषिक के व्याख्याकारों में जयन्त, वाचस्पति मिश्र, श्रीधर तथा उदयन आदि ने विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विस्तार से निरूपण किया है। वेदान्त के लेखकों में शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र ने तथा मीमांसा पर लिखने वालों में विशेष रूप से कुमारिल भट्ट ने इसकी विशद व्याख्या की है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक दर्शनों के लेखक विज्ञानवाद को ही अपना शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी समझते थे। इसी हेतु जितना विस्तार से इस सम्प्रदाय का निरूपण एवं खण्डन उन्होंने किया है इतना अन्य बौद्ध सम्प्रदायों का नहीं। आचार्य शंकर तो बौद्धों की ओर से यह घोषित करते दृष्टिगोचर होते हैं कि भगवान् बुद्ध को विज्ञानवाद ही अभिमत था अन्य नहीं—"कुछ शिष्यों का बाह्यवस्तु में राग (अभिनिवेश) देखकर– उनके अनुरोध से यह बाह्यार्थवाद की प्रक्रिया रची गई है, यह बुद्ध का अभिप्राय नहीं। उन्हें तो केवल विज्ञानस्कन्धवाद ही अभिप्रेत था।"[१]

वाचस्पति मिश्र ने भी विज्ञानवाद का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। न्याय-कणिका, भामती, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका तथा योगतत्त्ववैशारदी में विज्ञानवाद का निरूपण किया गया है। विशेषकर न्यायकणिका तथा भामती में तो इसकी अत्यन्त विशद व्याख्या मिलती है। वाचस्पति मिश्र का यह विवेचन विज्ञानवाद के मन्तव्यों और उसकी बाह्यार्थ खण्डन सम्बन्धी युक्तियों के समझने में बहुत सहायक है, किन्तु (विज्ञानवाद) के ऐतिहासिक विकास पर इससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

२. विज्ञानमात्र ही परमार्थसत् है

योगाचार या विज्ञानवादी का मन्तव्य है कि विज्ञानमात्र ही वस्तुसत् है। बाह्य जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं होती। जब बाह्य वस्तुओं का बुद्धि से विवेचन किया जाता है तो उनका कोई रूप बुद्धि द्वारा समझ में नहीं आता, अतः बाह्य वस्तु मिथ्या है।[२] अभिप्राय यह है कि बाह्य वस्तु न तो अवयवी के रूप में हो सकती है न परमाणुसमुदाय के रूप में। अवयवी का खण्डन वैभाषिक और सौत्रान्तिक ही कर चुके हैं।[३] परमाणुओं

---

१. ब्रह्मसूत्र शा० भाष्य, पृ० ५४१।

२. मि०, न्या० वा० ता०, पृ० ६५३ पं० १५-२२।

३. ऊपर, परि० ३ अनु० ५।

का समुदाय भी बाह्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जब परमाणुओं का बुद्धि से विवेचन किया जाता है तो वे किसी रूप में ठहर नहीं पाते। उनका विवेचन करते २ अन्त में बाह्य वस्तुओं का अभाव ही समझ में आता हैं।[४] इस प्रकार बाह्य वस्तु का अभाव है, विज्ञानमात्र ही परमार्थसत् है।

यहाँ यह शंका होती है कि यदि विज्ञानमात्र ही है तो प्रमाण-प्रमेय आदि का भेद कैसे होता है? इसके उत्तर में विज्ञानवादी का कथन है कि बुद्धिपरिकल्पित भेदों के कारण ही प्रमाण प्रमेय आदि व्यवहार होता है—

"यद्यपि अनुभव से भिन्न अनुभव का विषय, अनुभव का कर्त्ता तथा अनुभव का फल नहीं है तथापि बुद्धि में स्थित बुद्धिपरिकल्पित भेद से यह सब प्रमाण-प्रमेय-फल तथा प्रमाता का भी व्यवहार अन्तर्जगत् में ही हो जाता है, यह समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि प्रमाण-प्रमेय आदि विभाग परमार्थसत् नहीं। वस्तुसत् जो विज्ञान है वही असत्य वस्तु के आकार से युक्त होता हुआ प्रमेय कहलाता है। प्रमेय का प्रकाशन ही प्रमाणों का फल या प्रमिति है और उसमें जो प्रमेय को प्रकट करने की शक्ति है वही प्रमाण कहलाता है।"[५]

एक ही विज्ञान विविध रूपों में कैसे भासित होता है तथा बाह्यार्थ के अभाव में 'यह नील है' 'यह पीत है'—इस प्रकार का प्रतीति-भेद कसे बन सकता है? इसका उत्तर विज्ञानवादी की ओर से वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार दिया है—

"एक आलयविज्ञान सन्तति में होने वाले ज्ञानक्षणों में से किसी विशेष ज्ञानक्षण में ही ऐसी शक्तिविशेष होती है जिसे वासना कहते हैं और जो अपने कारणों से उत्पन्न होती है उसी (शक्ति-विशेष) से नील आकार का प्रवृत्तिविज्ञान होता है, पीत आकार का नहीं। किसी विज्ञानक्षण में ऐसी शक्तिविशेष होती है जिससे पीताकार ज्ञान (प्रवृत्तिविज्ञान) होता है, नीलकार नहीं। इस प्रकार अपने कारणों (प्रवृत्तिविज्ञानों) से उत्पन्न वासनाओं की विचित्रता से ही ज्ञानों की विचित्रता बन जाती है, अतएव ज्ञान से भिन्न अर्थ की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, यह समझ में आता है।"[६]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सौत्रान्तिक का कथन है कि ज्ञानों की विविधता ही बाह्यार्थ की सिद्धि में प्रमाण है। बाह्य अर्थ के बिना 'यह पीत है', 'यह नील है'—इस प्रकार का भिन्न २ ज्ञान नहीं हो सकता। इसके उत्तर में विज्ञानवादी का कहना है कि

४. परमाणवोऽपि भागशो विभज्यमानास्तावद्यावत्प्रलय इति। न्या० वा० ता०, पृ० ६५३।

५. यद्यप्यनुभवान्नान्योऽनुभाव्योऽनुभाविताऽनुभवनम् तथापि बुद्ध्यारूढेन बुद्धिपरिकल्पितेनान्तस्थ एवैष प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः प्रमातृव्यवहारश्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। न पारमार्थिक इत्यर्थः।...... तथा हि स्वरूपविज्ञानस्यासत्याकारयुक्तं प्रमेयम्, प्रमेयप्रकाशनं प्रमाणफलम्, तत्प्रकाशनशक्तिः प्रमाणम्। भामती, पृ० ५४१-४२।

६. तथा चैकालयविज्ञानसन्तानपतितेषु कस्यचिदेव ज्ञानक्षणस्य स तादृशः सामर्थ्यातिशयो वासनापरनामा स्वप्रत्ययासादितः, यतो नीलाकारं प्रवृत्तिविज्ञानं जायते न पीताकारम् कस्यचित्तु स तादृशो यतः पीताकारं ज्ञानं न नीलाकारमिति वासनावैचित्र्यादेव स्वप्रत्ययासादिताज् ज्ञानवैचित्र्यसिद्धेर्न तदतिरिक्तार्थ-सद्भावे किञ्चनास्ति प्रमाणमिति पश्यामः। भामती, पृ० ५४७।

बाह्यार्थ के बिना भी वासना की विचित्रता से प्रतीति की विविधता बन सकती है। कैसे ? आलयविज्ञान की क्षणविध्वंसिनी धारा प्रवाहित हो रही है। यही आलयविज्ञान सन्तति है जिससे प्रवृत्ति-विज्ञानों की क्षणिक तरंगे उत्पन्न होती हैं। जब नील-विषयक एक प्रवृत्ति-विज्ञान 'यह नील है' इस रूप में उत्पन्न होता है तो उसके द्वारा आलयविज्ञान के ज्ञानक्षण में एक शक्ति-विशेष उत्पन्न हो जाती है। यही शक्ति-विशेष वासना कहलाती है। उस विज्ञानसन्तति से जो आलयविज्ञानसन्तति के उत्तरोतर क्षण उत्पन्न होते हैं वे उस नील वासना से वासित होते चले जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जैसे एक इत्र की कुछ बून्दों से सुवासित रूमाल के द्वारा अन्य वस्त्रों के आंचल भी सुवासित हो जाते है। आलयविज्ञान के नीलवासना से वासित ज्ञानक्षण से जो प्रवृत्ति-विज्ञान उत्पन्न होते है वे 'यह नील है' इस प्रकार की प्रतीति कराते हैं। इसी प्रकार पीतवासना वासित ज्ञानक्षण से जो प्रवृत्ति-विज्ञान उत्पन्न होता है वह 'यह पीत है'—इस प्रकार ज्ञान करा देता है। बस, वासना की विचित्रता से ही बाह्य-जगत् के समस्त व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है अत: बाह्यार्थ की सिद्धि में कोई प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि वासना तो नीलज्ञान से उत्पन्न होती है। यदि बाह्य नील है ही नहीं तो वासना की उत्पत्ति कैसे होगी ? इसका समाधान करते हुए विज्ञानवादी की ओर से वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

"आलयविज्ञानसन्तति में होने वाला ऐसा ज्ञान जो प्रकट नहीं (असंविदित—unconscious) वासना कहलाता है। उसकी विचित्रता से नील पीत आदि का भिन्न २ अनुभव होता है और पूर्व नील आदि अनुभव की विभिन्नता के कारण विविध प्रकार की वासना होती है। ये विज्ञान तथा वासनाएँ बीज और अंकुर के समान अनादि हैं। इसलिए अन्योन्याश्रय (एक दूसरे पर आश्रित होना) दोष भी नहीं हो सकता।"[७]

अभिप्राय यह है कि वासना और प्रवृत्तिविज्ञानों की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। अनादि होने के कारण 'कौन पहले हुआ ?' यह प्रश्न नहीं किया जा सकता और 'बाह्य नील के बिना नील की वासना कैसे हो गई ?' यह प्रश्न भी निरर्थक ही है। जिस प्रकार बीज से अंकुर होता है और उससे फिर बीज की उत्पत्ति हो जाती हैं। यह बीज तथा अंकुर की अनादि परम्परा चल रही है। इसी प्रकार पूर्व प्रवृत्तिविज्ञान से उत्पन्न होने वाली वासना उत्तरोत्तर नील, पीत आदि ज्ञान की जननी होती है तथा वासना से उत्पन्न नील, पीत आदि ज्ञान उत्तरोत्तर वासना का जनक होता है। प्रवृत्ति-विज्ञान तथा वासना दोनों एक दूसरे के निमित्त हैं तथा एक दूसरे से उत्पन्न होने वाले भी हैं।[८]

---

७. आलयविज्ञान-सन्तान-पतितमेवासंविदितं ज्ञानं वासना, तद्वैचित्र्यान्नीला द्यनुभववैचित्र्यं पूर्वनीलाद्यनुभववैचित्र्याच्च वासनावैचित्र्यम् इति अनादिताऽनयोः विज्ञानवासनयोः तस्मान्न परस्पराश्रयदोषसंभवो बीजाङ्कुरसन्तानवद् इति। भामती, पृ० ५४७।

८. अन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिषिध्यते। ब्रह्मसूत्र शा० भाष्य, पृ० ५२४।

विज्ञानवादी के मतानुसार एक ही विज्ञान ग्राह्य और ग्राहक भेद से प्रतीत होता है। एक विज्ञान में ग्राह्य-ग्राहक भेद अविद्याकल्पित ही है, वास्तविक नहीं। जैसा कि धर्मकीर्ति का उद्धरण देते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवान् इव लक्ष्यते ॥[१]

योगतत्त्ववैशारदी, ४·२३।

"अर्थात् एक ही विज्ञान का स्वरूप भ्रान्ति ज्ञान (अविद्या) के कारण ग्राह्य (विषय, प्रमेय) ग्राहक (प्रमाण तथा प्रमाता) और संवित्ति (प्रमा, ज्ञान, फल) भेदों वाला सा परिलक्षित होता है।"

इस प्रकार विज्ञानवादी के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र परमार्थतत्त्व है। बाह्य जगत् विज्ञान का ही मिथ्या रूप है। अन्तर्जगत् के भी समस्त सुख-दुःख आदि भाव विज्ञान के आकार हैं। उस विज्ञानवाद की सिद्धि के लिये निम्न प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है—

(१) ज्ञान के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?
(२) दृश्यमान जगत् की सत्ता का कैसे खण्डन किया जा सकता है?
(३) सुख-दुःख आदि विज्ञान से अभिन्न कैसे हैं?

इन प्रश्नों का उत्तर कहीं स्पष्टतया और कहीं संकेतरूप में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में मिलता है। उनके आधार पर अग्रिम अनुच्छेदों में विवेचन किया जा रहा है।

३. ज्ञान के अस्तित्व में प्रमाण

विज्ञान से भिन्न बाह्य जगत् का खण्डन करना तभी संभव है जब विज्ञान की सत्ता को प्रमाणित किया जा सके। इसी हेतु विज्ञानवादी ने बाह्य-जगत् का खण्डन करने से पूर्व विज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। उसका कथन है कि बाह्यार्थवादी भी बाह्य वस्तु को जड़ मानता है और यह स्वीकार करता है कि बाह्यवस्तु का ग्रहण, प्रकाशन अथवा प्रकटीकरण ज्ञान द्वारा होता है। किन्तु ज्ञान तभी अर्थ को प्रकट कर सकता है जब वह पहले अपने आप को प्रकट करे, इसलिये विज्ञान का अस्तित्व स्वसंवेदन द्वारा ही सिद्ध होता है। स्वसंवेदन या आत्मसंवेदन का अर्थ यह है कि जो विज्ञानक्षण अर्थ को आभासित करता है वह अपने आपको भी आभासित करता है। विज्ञान की सिद्धि अनुभव से ही होती है, वह स्वयं प्रकाश है, यह बतलाते हुए विज्ञानवादी के सिद्धान्त को वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"अनुभव का प्रकाश न होने पर वस्तुओं का प्रकाश भी न होगा; क्योंकि वस्तुओं का प्रकट होना अनुभव के प्रकट होने पर निर्भर है। स्वयं प्रकट न होते हुए (निलीनः) नीलज्ञान उन नील आदि को भासित करने में समर्थ नहीं। अनुभव से भिन्न विषय का

---

१. प्रमाणवार्तिक २. ३५४ में पाठ इस प्रकार है—
अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

कोई आभास होता नहीं, जिसे यह स्वयं अवभासित न होकर भी इन्द्रिय के समान ग्रहण करे, अपितु अर्थ को प्रकट करना ही है प्रयोजन जिसका ऐसा अनुभव ही अर्थ का प्रकाशन है। यदि वह अनुभव छिपा रहे (प्रकट न हो) तो अप्रकट होने के कारण वह विषयों (रूपादि) को भी प्रकट नहीं करेगा, तब तो न अनुभव ही प्रकट होगा न विषय ही तथा समस्त संसार अन्धकारमय हो जायेगा। इसलिये वस्तुओं का ज्ञान अनुभव के ज्ञान के अधीन मानना चाहिये।[१०]

इस प्रकार ज्ञान स्वयं प्रकाश है उसके लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अब प्रश्न यह है कि यह कैसे माना जाये कि ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने पर ही वस्तु का प्रकटीकरण हो सकता है अन्यथा नहीं। इसके उत्तर में विज्ञानवादी का कथन है—

"जिस प्रकार इंद्रियाँ अप्रकट (अव्यक्त) होते हुए भी वस्तु का प्रत्यक्ष करा देती हैं इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान भी अप्रकट होते हुए विषय को प्रकट कर सकता है; क्योंकि जैसे इन्द्रिय अर्थविषयक ज्ञान उत्पन्न करती हैं इसी प्रकार विज्ञान दूसरे विज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसमें भी समानरूप से प्रश्न हो सकता है (कि एक विज्ञान यदि दूसरे ज्ञान को उत्पन्न करता है तो दूसरा तीसरे को) इससे अनवस्था दोष होने लगेगा। विज्ञान द्वारा किसी वस्तु में (अर्थाधारम्) प्रकटता या ज्ञातता रूपी फल भी उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि जो वस्तु नष्ट हो चुकी अथवा जो भविष्य में होगी उनमें प्रकटता आदि को उत्पन्न करना संभव नहीं। यह कैसे संभव है, कि धर्मी विद्यमान नहीं और उसका धर्म विद्यमान है। इसलिए ज्ञान के स्वरूप की प्रत्यक्षता ही अर्थ की प्रत्यक्षता है, यह स्वीकार करना चाहिये।"[११]

विज्ञानवादी मानता है कि जैसे दीपक अपना तथा घट पट आदि का प्रकटीकरण करता है उसी प्रकार विज्ञान भी अपना तथा अर्थ का प्रकटीकरण करता है। जैसा कि कहा भी है—

"जो उपलब्धि का प्रत्यक्ष नहीं मानता उसके यहां वस्तुओं का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता। यह विज्ञान यदि दूसरे ज्ञान से प्रतीत होता है तो वह अप्रत्यक्ष होता हुआ अर्थ की प्रत्यक्षता भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार दूसरा विज्ञान भी। तब तो अनवस्था हो जायेगी। इसलिए अनवस्था के भय से अपने स्वरूप में वृत्ति स्वीकार करना अर्थात्

१०. असत्यनुभवप्रकाशे विषया न प्रकाशेरन्। तदधीनं हि प्रकाशत्वं तेषाम्। न खलु निलीनो नीलानुभवस्तानलमवभासितुम्। न ह्यनुभवादन्यो विषयावभासः, यमयमनवभासमानोऽपीन्द्रियादिवद् आदधीत, अपितु परप्रकाशनपरमार्थोऽनुभव एव तत्प्रकाशः। तथा च यदि निलीयते तन्निलीनस्वभावत्वाद् विषयानपि नाऽऽभासयेदिति नानुभवो न विषयाः भासन्त इत्यायातम् आन्ध्यम् अशेषस्य जगतः। तस्मादनुभवप्रकाशायत्तप्रकाशत्वमेषितव्यं विषयाणाम्। न्यायकणिका, पृ० २६५।

११. अपि च न तावद् विज्ञानम् इन्द्रियवन्निलीनमर्थं प्रत्यक्षयितुमर्हति। नहि यथेन्द्रियमर्थविषयं ज्ञानं जनयत्येवं विज्ञानमपरं विज्ञानं जनयितुमर्हति। तत्रापि समानत्वादनुयोगस्यानवस्थाप्रसङ्गात्। न चार्थाधारं प्राकट्यलक्षणं फलमाधातुमुत्सहते; अतीतानागतेषु तदसम्भवात्। न ह्यस्ति सम्भवोऽप्रत्युत्पन्नो धर्मी धर्मश्चास्य प्रत्युत्पन्न इति। तस्माज्ज्ञानस्वरूपप्रत्यक्षतैवार्थप्रत्यक्षताऽभ्युपेया। भामती, पृ० ५४४।

विज्ञान अपने स्वरूप का भी प्रत्यक्ष करता है यह स्वीकार करना ही उचित है। और, जैसे दीपक (अपने प्रकाश के लिये) दूसरे दीपक की अपेक्षा नहीं रखता इसी प्रकार ज्ञान भी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि दोनों ज्ञान समान हैं (उनमें अवभास्य अवभासक भाव नहीं बन सकता)।[१२]

उपर्युक्त युक्तियों द्वारा विज्ञानवादी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विज्ञान का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है, वह स्वयं प्रकाश है, यह बात अनुभव से ही सिद्ध हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है विज्ञान का अस्तित्व अनुभव सिद्ध है उसकी सत्ता से कोई इनकार नहीं कर सकता। यदि कोई इस अनुभव में विवाद करे तो उसके लिए अनुमान प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि विज्ञान स्वसंवेदन द्वारा ही सिद्ध है—

"इस प्रकार अनुभव से ही सिद्ध है कि विज्ञान स्वयं प्रकाश है फिर भी जो अपने सिद्धान्त के अभ्यास से मोहयुक्त होकर विरुद्ध धारणा रखते हैं उनके लिए अनुमान भी प्रस्तुत किया जाता है --जिस (वस्तु) का प्रकट होना जिसके अधीन होता है वह (वस्तु) उसके प्रकट होने पर ही प्रकट हो सकती है, जैसे दण्डी, जिसका ज्ञान दण्ड ज्ञान के अधीन है। इसी प्रकार प्रतीति के विषय रूप आदि का प्रकट होना भी ज्ञान (प्रत्यय:— प्रतीति) के प्रकट होने पर निर्भर है---यह स्वभाव हेतु है। यह नहीं कहा जा सकता कि रूप आदि का प्रकट होना, विज्ञान के प्रकट होने पर निर्भर है यह बात असिद्ध है, क्योंकि कहा जा चुका है कि यदि ऐसा न होगा तो समस्त जगत् अन्धकारमय हो जायेगा। विज्ञान के स्वयं प्रकाश मानने में अपने आप में व्यापार मानना पड़ता है— यह विरोध भी नहीं है, क्योंकि संवेदन (प्रकटन या प्रकाशन) रूप व्यापार (ज्ञान के) स्वरूप से भिन्न नहीं जो अपने आप ही कर्ता और कर्म होने में विरोध होगा। वस्तुत: ऐसा विज्ञान ही, जिसका प्रकाश अन्य के अधीन नहीं तथा जिसका स्वरूप प्रकट हो जाता है, आत्म-संवेदन कहा जाता है और स्वभाव से भाव का कोई विरोध नहीं होता।"[१३]

यहाँ वाचस्पति मिश्र ने संक्षेप में किन्तु अत्यन्त विशद रूप में स्वसंवेदन या आत्म-संवेदन का स्वरूप प्रकट किया है। विज्ञान के स्वरूप का प्रकट होना ही स्वसंवेदन है उसमें कर्ता दूसरा हो, दूसरा ही कर्म हो, इस कल्पना की आवश्यकता नहीं, क्योंकि

---

१२. यथाहुः 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति' इति। तच्चेत् ज्ञानान्तरेण प्रतीयेत, तदप्रतीतं नार्थविषयं ज्ञानमपरोक्षयितुमर्हति एवं तत्तदित्यनवस्था। तस्मादनवस्थायाः बिभ्यता वरं स्वात्मनि वृत्तिरास्थिता। अपि च यथा प्रदीपो न दीपान्तरमपेक्षते, एवं ज्ञानमपि न ज्ञानान्तरमपेक्षितुमर्हति समत्वादिति। भामती, पृ० ५५१।

१३. तदेवमनुभवादेव स्वसंवेदनसिद्धौ यो नाम स्वसिद्धान्ताभ्यासाऽऽहितव्यामोहो विप्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानमुपन्यस्यते। यद्यत्प्रकाशायत्तप्रकाशं तत् तस्मिन् प्रकाशमान एव प्रकाशते यथा दण्डप्रकाशायत्तप्रकाशो दण्डी। प्रत्ययप्रकाशाऽऽयत्तप्रकाशश्च प्रत्येतव्यो रूपादिरिति स्वभाव-हेतुः। न च प्रत्ययप्रकाशायत्तप्रकाशत्वं रूपादीनामसिद्धम्। उक्तं हि तदनायत्तत्वे प्राप्तमान्ध्यमेव जगतोऽशेषस्येति। न च स्वसंवेदने स्वात्मनि वृत्तिविरोधः नहि संवेदनस्य स्वरूपादन्या वृत्तिरस्ति, यतः स्वात्मनि कर्तृकर्मभावो विरुध्येत। संवेदनमेव त्वपराधीनप्रकाशमाविर्भूतस्वभावम् आत्मसंवेदनम् आचक्षते। न च स्वभावेन भावो विरुध्यते। न्यायकणिका, पृ० २६५-२६६।

इसमें विज्ञान का स्वभाव या स्वरूप ही तो प्रकट होता है। विज्ञान स्वयं ही अपने आप को साक्षात् करता है इस बात को जो आग्रह बुद्धि वाले अपने अनुभव के आधार पर भी न मानते हों उनके लिये अनुमान प्रमाण जागरित है। सीधा सा अनुमान है—लोक में प्रतिदिन देखा जाता है कि जिस वस्तु की प्रतीति अन्य वस्तु के प्रकाश पर आश्रित होती है वह उस (अन्य) वस्तु के प्रकाशित होने पर ही प्रकाशित हो सकती है अन्यथा नहीं, जैसे—'यह दण्डी (दण्डवाला) है' इस प्रकार का भास तभी होता है जब दण्ड का ज्ञान हो। यह स्वभाव हेतु नाम का बौद्ध-न्याय का व्याप्ति का एक प्रकार है। इससे यह समझ में आता है कि वस्तु-रूप की प्रतीति भी ज्ञान के अधीन है अतः ज्ञान के प्रकाशित हुए बिना रूप आदि की प्रतीति नहीं हो सकती। यह ऊपर कहा जा चुका है कि यदि ज्ञान का प्रकाश अन्य ज्ञान से मानेंगे तो अनवस्था दोष होगा।

ज्ञान के स्वसंवेदन पर विज्ञानवादी ने विशेष बल दिया है। दिग्नाग सम्प्रदाय ने भी स्वसंवेदन को अत्यन्त समारम्भ के साथ सिद्ध किया है। वाचस्पति मिश्र ने प्रायः धर्मकीर्ति के स्वसंवेदन विवेचन के आधार पर ही ज्ञान के स्वसंवेदन का निरूपण किया है। उन्होंने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में प्रत्यक्ष का वर्णन करते हुए भी धर्मकीर्ति का यह उद्धरण प्रस्तुत किया है—

> **प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।**
> **प्रमाणवार्त्तिक २.१२३ तथा न्या० वा० ता०, पृ० १२४।**

इस प्रकार ज्ञान का स्वरूप स्वसंवेदन द्वारा ही सिद्ध होता है, वह प्रकाशरूप है और स्वयं ही प्रकाशित होता है। उसे सिद्ध करने के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं।[१४]

४. प्रमाणों से बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं होती

किसी वस्तु की सत्ता प्रमाणों के द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है। बौद्धदर्शन के अनुसार ये प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष तथा अनुमान। प्रश्न यह है कि क्या प्रत्यक्ष द्वारा बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध होती है, जैसा कि न्याय-वैशेषिक इत्यादि मानते हैं ? अथवा अनुमान द्वारा बाह्यार्थ की सिद्धि संभव है, जैसा कि सौत्रान्तिक का कथन हैं ? विज्ञानवादी की स्थापना है कि इन दोनों में से किसी प्रमाण के द्वारा भी बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।

(क) **प्रत्यक्ष से बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती**—बाह्यार्थवादी दो प्रकार से बाह्य अर्थ का स्वरूप निरूपण करते हैं, एक तो यह कि परमाणुओं या अन्य अवयवों में अवयवी नाम का कोई पदार्थ रहता है और उसके कारण 'यह घट है' आदि प्रतीति तथा व्यवहार होता है, जैसा कि न्याय-वैशेषिक मानते हैं। दूसरे यह कि परमाणुओं के संघात में घट, पट आदि बाह्य वस्तु का आभास हो जाता है, जैसा कि वैभाषिक को अभिमत हैं। इनमें से अवयवी का खण्डन ऊपर[१५] किया जा चुका है। परमाणु-संघात रूप भी बाह्यार्थ नहीं हो सकता इस विषय में विज्ञानवादी का कथन है—

---

१४. मि०, इति प्रकाशरूपा नः स्वयं धीः संप्रकाशते। प्र० वा०, २.४८१।
१५. ऊपर, परि० ३ अनु० ५।

'यह एक घट है' इसकी प्रतीति यदि परमाणुओं में मानते हो तो यह ठीक नहीं, क्योंकि परमाणु तो सूक्ष्म हैं तथा बहुत से हैं उनमें एकता तथा स्थूलता की प्रतीति कैसे हो सकती है। दूसरी बात यह भी है कि अन्य (घट आदि) को भासित करने वाला ज्ञान यदि परमाणु-विषयक होता है फिर तो कोई नियम न रहेगा। किसी भी व्यक्ति की घट पट इत्यादि को भासित करने वाली प्रतीति सर्ववस्तु-विषयक हो जायेगी और फिर तो वह बिना किसी साधना के ही सर्वज्ञ हो जायेगा, अतः यह तो माना नहीं जा सकता। फिर यदि कहा जाये कि स्थूलता परमाणुओं का धर्म नहीं, यह तो प्रतिभास (प्रतीति, विकल्प या कल्पना) का धर्म है तो ये दो शंकाएं होती हैं जिनका समाधान करना असंम्भव है—यह पूछा जा सकता है कि क्या यह स्थूलता ज्ञान का धर्म है ? अथवा यह प्रतीति के समय अर्थ (वस्तु) का धर्म है ?[१६]

ये दोनों बातें ही सम्भव नहीं, यह दिखलाते हुए विज्ञानवादी आगे कहता है—

"यदि पहली बात (अर्थात् स्थूलता ज्ञान का धर्म है) मानते हो तो ठीक है, इस प्रकार विज्ञान अपने आकार का ही आलम्बन करता है, यह स्वीकार कर लिया तथा अनुकूल आचरण करने वाले व्यक्ति के प्रतिकूल कौन होगा। यदि दूसरा मत (अर्थात् स्थूलता प्रतिभास काल में अर्थ का ही धर्म है) है, रूपपरमाणु ही बिना अन्तर के उत्पन्न होकर विज्ञान से गृहीत होते हैं और स्थूलता की प्रतीति हो जाती है। इसमें किसी को भ्रान्ति नहीं है। ऐसा नहीं कि वे रूपपरमाणु न हों, यह भी नहीं कि वे निरन्तर उत्पन्न नहीं हुए हैं और यह भी नहीं कि उनका एक विज्ञान से ग्रहण नहीं होता। इसलिये प्रत्येक परमाणु में न होने के कारण स्थूलता नीलत्व आदि के समान परमाणु का धर्म न हो किन्तु प्रतिभास दशा में उन परमाणुओं में बहुत्व आदि के समान बुद्धिकल्पित (सांवृत्त) स्थूलता बन जायेगी। जैसा कि कहा है ?—

अनेक (परमाणुओं) का एक (ज्ञान) से ग्रहण होने पर कुछ स्थूल रूप गृहीत होता है। वह सांवृतिक (बुद्धिकल्पित) है, प्रातिभासिक है; क्योंकि एक परमाणु में यह स्थूलता संभव नहीं ॥१॥

किन्तु इस स्थूलता का ज्ञान भ्रान्ति नहीं, क्योंकि अनेक परमाणुओं के ग्रहण से होने वाला स्थूलता का ग्रहण सांवृत्तिक है, अन्य कुछ नहीं। और, वस्तु का ग्रहण भ्रम नहीं होता ॥२॥

(विज्ञानवादी कहता है) यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि (रूपपरमाणुओं) में निरन्तरता की प्रतीति भ्रान्तियुक्त है। वे रूप-परमाणु अन्तररहित नहीं हो सकते, क्योंकि गन्ध, रस, स्पर्श परमाणुओं से उनमें अन्तर हो जाता है। इसलिए जैसे अलग २ अन्तर

---

१६. स हि विज्ञानालम्बनत्वाभिमतो बाह्योऽर्थः परमाणुस्तावन्न सम्भवति एकस्थूलनीलाभासं हि ज्ञानं न परमसूक्ष्मपरमाण्वाभासम्। न चान्याभासमन्यगोचरं भवितुमर्हति, अतिप्रसङ्गेन सर्वगोचरतया सर्वसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। न च प्रतिभासधर्मः स्थौल्यमिति युक्तम्, विकल्पासहत्वात् किमयं प्रतिभासस्य ज्ञानस्य धर्म उत प्रतिभासनकालेऽर्थस्य धर्मः। भामती; पृ० ५४२-५४३।

से स्थित वृक्षों में दूर से एक निविड़ बन है यह प्रतीति होती है इसी प्रकार अन्तर से स्थित परमाणुओं में स्थूलता की प्रतीति भ्रान्ति ही है, यह समझ में आता है।"[१७]

भाव यह है कि बाह्यार्थ की प्रतीति भ्रान्तिमात्र है। उसका कोई भी रूप (१) परमाणुरूप (२) परमाणुओं का संघात या (३) इनसे भिन्न कोई अवयवी समझ में नहीं आता, विचारासह है। परमाणु तो सूक्ष्म हैं, उनमें स्थूल घट आदि की प्रतीति हो ही नहीं सकती। यदि यह माना जाये कि निरन्तर परमाणुओं के समुदाय में 'यह एक स्थूल घट है' यह प्रतीति हो सकती है तो विचार करने पर यह बात भी युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती। प्रथम तो रूप परमाणुओं की निरन्तरता ही असंभव है, क्योंकि रूप परमाणुओं के बीच २ में रस, गन्ध, स्पर्श आदि के परमाणु भी स्थित हैं इसलिये रूप परमाणु निरन्तर कहाँ रहे? वे तो सान्तर हैं। फिर उनमें एकत्व और स्थूलता की प्रतीति भ्रान्ति ही है। यह तो इसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति पृथक् २ स्थित वृक्षों को दूर से देखकर एक घना वन समझ लेता है। अवयवी का स्वरूप भी विचार करते ही बालुका की भित्ति के समान बिखर जाता है। अतः यही समझ में आता है कि बाह्य अर्थ घट पट या स्तम्भ आदि किसी प्रकार भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता।

(ख) **अनुमान से भी बाह्य-अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है,[१८] सौत्रान्तिक का कथन है कि कभी नील-ज्ञान होता है कभी पीत-ज्ञान होता है, यह ज्ञानों की विविधता बाह्यार्थ को सिद्ध करती है। बाह्य नील पीत आदि के बिना एक ही आलयविज्ञान में कभी 'यह पीत है' इस प्रकार की कभी 'यह नील है' इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। अतएव नील-पीत आदि ज्ञानों के कदाचित् होने से ही बाह्य जगत् की सिद्धि होती है।[१९] इस अनुमान का खण्डन करते हुए विज्ञानवादी कहता है कि वासनाओं की विचित्रता से ही जब नील, पीत आदि ज्ञानों

---

१७. यदि पूर्वः कल्पः अद्धा, तथा सति हि स्वांशालम्बनमेव विज्ञानमभ्युपेतं भवति। एवं च कः प्रतिकूलीभवत्यनुकूलमाचरति। द्वितीय इति चेत्—तथाहि रूपपरमाणव एव निरन्तरमुत्पन्नाः एकविज्ञानोपारोहिणः स्थौल्यम्। न चात्र कस्यचिद् भ्रान्तता नहि न ते रूपपरमाणवः। न च निरन्तरमुत्पन्नाः। न चैकविज्ञानानुपारोहिणः। तेन मा भून्नीलत्वादिवत् परमाणुधर्मः, प्रत्येकं परमाणुष्वभावात्। प्रतिभासदशापन्नानां तु तेषां भविष्यतित् बहुत्वादिवत् सांवृत्तं स्थौल्यम्। यथाहुः—

> ग्रहेऽनेकस्य चैकेन किञ्चिद् रूपं हि गृह्यते।
> सांवृत्तं प्रतिभासस्थं तदेकात्मन्यसम्भवात्॥ १॥
> न च तद्दर्शनं भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद् यतः।
> सांवृत्तं ग्रहणं नान्यत् न च वस्तुग्रहो भ्रमः॥ २॥

तन्न, नैरन्तर्यावभासस्य भ्रान्तत्वात्। गन्धरसस्पर्शपरमाण्वन्तरिता हि ते रूपपरमाणवो न निरन्तराः। तस्माद् आरात् सान्तरेषु वृक्षेष्वेकघनवनप्रत्ययवद् एष स्थूलप्रत्ययः परमाणुषु सान्तरेषु भ्रान्त एवेति पश्यामः। भामती, पृ० ५४३।

१८. ऊपर, परि० ३ अनु० ७।

१९. ये यस्मिन् सत्यपि कादाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तहेतुसापेक्षाः। भामती, पृ० ५४४।

की विविधता बन सकती है तो बाह्य अर्थ की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार सौत्रान्तिक का बाह्यार्थ सिद्धि में प्रस्तुत किया गया हेतु हेत्वाभास है, सद् हेतु नहीं, जैसा कि कहा है—

स्वसन्तानमात्रनिमित्तत्वेऽपि नीलादिविज्ञानानां कादाचित्कत्वोपपत्तौ सन्दिग्धव्य-तिरेकित्वेन हेतोरनैकान्तित्वात् । न्या० वा० ता०, पृ० ६५६ ।

"अर्थात् नील आदि विज्ञान अपनी सन्तान (आलय विज्ञानसन्तति) के निमित्त से होकर भी कभी होंगे कभी नहीं, यह बन सकता है अतः आपका हेतु सन्दिग्धव्यतिरेकी होने से अनैकान्तिक है।"

बाह्यनिमित्त के बिना आलयविज्ञानसन्तति में ही वासना-विशिष्ट विज्ञानक्षणों से नीलज्ञान पीतज्ञान आदि की विचित्रता हो सकती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। अतः प्रत्यक्ष तथा अनुमान किसी से भी बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती अपितु युक्तियों द्वारा बाह्य वस्तु का अभाव ही सिद्ध होता है।

५. बाह्य जगत् के खण्डन में युक्तियाँ

विज्ञानवादी ने बाह्य वस्तु के खण्डन में अनेक युक्तियाँ तथा तर्क प्रस्तुत किये हैं। वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में उनकी युक्तियों एवं प्रमाणों का अनेक स्थलों पर विवेचन किया गया है। न्यायतात्पर्यटीका, न्यायकणिका और भामती में बड़े विस्तार से बाह्य जगत् के खण्डन का प्रकार दिखलाया गया है। इन समस्त ग्रन्थों में कहीं विस्तार में तथा कहीं संक्षेप में प्रायः समान युक्तियाँ ही प्रस्तुत की गई हैं। फिर भी न्यायकणिका में इसका अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने स्वयं ही लिखा है—

कृतप्रपञ्चश्चायमर्थो न्यायकणिकायाम् । न्या० वा० ता०, पृ० ६६२ ।

उपर्युक्त ग्रन्थों, विशेषकर न्यायकणिका, के आधार पर बाह्यार्थ खण्डन सम्बन्धी युक्तियों को संक्षेप में तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) जो वस्तु जिस ज्ञान से जानी जाती है यह उससे भिन्न नहीं होती, (२) ज्ञान और वस्तु की सदा साथ २ प्रतीति होने से वे दोनों एक ही हैं, (३) प्रत्येक ज्ञान बाह्य वस्तु के आधार के बिना ही होता है।

(१) **ज्ञेय वस्तु ज्ञान से भिन्न नहीं होती**—संक्षेप में विज्ञानवादी का अभिप्राय यह है—'जो वस्तु जिस ज्ञान से जानी जाती है वह उससे अभिन्न होती है' यह व्याप्ति है; जैसे ज्ञान का स्वरूप है। उसका ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है अर्थात् ज्ञान स्वरूप को स्वयं ही प्रकट करता है और वह स्वरूप ज्ञान से भिन्न नहीं होता, यह दृष्टान्त है। ज्ञान और बाह्यार्थ में कोई भेद नहीं, नील-बुद्धि से नील (रूप) भिन्न नहीं, यह साध्य है; अर्थात् यहाँ ज्ञान और अर्थ के भेद का निषेध करना है, अतः यह निषेध्य (निषेध का विषय) है। भेद के विरुद्ध है—अभेद; अर्थात् ज्ञान तथा अर्थ का अभेद (एकता)। अभेद का व्याप्य है—वेद्यत्व या ज्ञेयत्व अथवा कहिये कि अभेद वेद्यत्व में व्यापक है या वेद्यत्व अभेद से व्याप्त है। जहाँ वेद्यत्व है वहाँ अभेद रहता है; क्योंकि यह बात सिद्ध की जा चुकी है[20] कि निराकार या साकार किसी भी विज्ञान के

२०. न्यायकणिका, पृ० २५४-२६०।

द्वारा अपने से भिन्न बाह्य वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता। इन बाह्य वस्तुओं में भी वेद्यत्व है, वे जानी जाती है—यह विरुद्ध-व्याप्तोपलब्धि है; अर्थात निषेध का विषय जो भेद उसके विरुद्ध अभेद के व्याप्त वेद्यत्व की उपलब्धि हो रही है। यह विरुद्धव्याप्तोपलब्धि, अनुपलब्धि हेतु का ही एक प्रकार है। इसके द्वारा यहाँ भेद का निषेध हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि विज्ञान बाह्य वस्तु को आलम्बन नहीं करते तथा विज्ञान से बाह्य वस्तु भिन्न नहीं है।[२१]

(२) **ज्ञान और वस्तु की साथ २ उपलब्धि के कारण दोनों अभिन्न हैं**—सहोपलम्भन रूप (द्वितीय) हेतु बाह्य जगत् के विध्वंस के लिये विज्ञानवादी का ब्राह्मास्त्र है। इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—'जिस वस्तु की किसी 'वस्तु के साथ नियम से उपलब्धि होती है वह उससे भिन्न नहीं होती; जैसे (द्वितीय चन्द्रमा की एक चन्द्रमा के साथ नियम से प्रतीति होती है) एक चन्द्रमा से द्वितीय चन्द्रमा (भिन्न नहीं)। अर्थ (वस्तु) का भी ज्ञान के साथ नियम से ग्रहण होता है अतः यह व्यापक-विरुद्धोपलब्धि है। यहाँ भेद (ज्ञान तथा अर्थ का भेद) निषेध का विषय है, वह सहोपलम्भ के अनियम से व्याप्त है, जैसे भिन्न होते हुए दोनों अश्विनी (नक्षत्र विशेष) नियमपूर्वक साथ २ ही उपलब्ध नहीं होते; क्योंकि कभी २ मेघों से आच्छादित हो जाने पर उनमें से किसी एक की भी उपलब्धि हो जाती है। यह भेद के व्यापक अनियम के विरुद्ध नियम (सहोपलम्भ नियम) दृष्टिगोचर होता है और यह अपने व्याप्य भेद का निवारण करता है। जैसा कि कहा है—(धर्मकीर्ति)[२२]।

नील तथा नील के ज्ञान की साथ २ प्रतीति होने का नियम होने से उनका भेद नहीं (दोनों एक ही वस्तु हैं)। उनका भासमान भेद भ्रान्ति ज्ञान के द्वारा एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा के समान है।[२३]

जो वस्तु जिसके साथ नियम से गृहीत होती है वह उससे भिन्न नहीं होती। बाह्य जगत् की भी ज्ञान के साथ उपलब्धि का नियम है; अर्थात् ज्ञान के साथ ही बाह्यार्थ की उपलब्धि होती है, ज्ञान से भिन्न बाह्य वस्तु की कभी भी प्रतीति नहीं होती। इसीलिये बाह्य जगत् ज्ञान से भिन्न नहीं। यदि यह ज्ञान से भिन्न होता तो कभी ज्ञान के बिना भी इसकी प्रतीति हो सकती। इस प्रकार व्यापकविरुद्धोपलब्धि नामक

---

२१. मि०, यद्वेद्यते येन वेदनेन ततस्तन्न भिद्यते यथा ज्ञानस्य आत्मा, वेद्यन्ते च नीलादय इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः। निषेध्यभेदविरुद्धः खल्वभेदस्तेन व्याप्तं वेद्यत्वं भिन्नस्य साऽऽकारनिराकारविज्ञानप्रवेदनीयस्यानुपपत्तेरिति प्रपञ्चितमधस्तात्। तस्माद् विरुद्धाऽभेदव्याप्तवेद्यत्वोपलब्धिरूपाऽनुपलब्धिरेव भेदाभावसाधनीति स्थिता बुद्धीनां बाह्यानालम्बनत्वसिद्धिः। न्यायकणिका, पृ० २६०, २६१ :

२२. मि०, प्रमाणवार्तिक, २.३८९।

२३. यद्येन सह नियतसहोपलम्भनं तत्ततो न भिद्यते, यथैकस्माच्चन्द्रमसो द्वितीयश्चन्द्रमाः। नियतसहोपलम्भश्चार्थो ज्ञानेनेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। निषेध्यो हि भेदः सहोपलम्भानियमेन व्याप्तो यथा भिन्नावश्विनौ नावश्यं सहोपलभ्येते कदाचिदभ्रापिधानेऽन्यतरस्यैकस्योपलब्धेः। सोऽयमिह भेदव्यापकानियमविरुद्धो नियमः उपलभ्यमानस्तद्व्याप्यं भेदं निवर्तयतीति। तदुक्तम्—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥ भामती, पृ० ५४४।

बौद्धन्यायप्रसिद्ध अनुपलब्धि से ज्ञान तथा अर्थ का अभेद सिद्ध होता है। यहाँ भेद (अर्थ तथा ज्ञान की पृथक्ता) का निषेध करना है। भेद निषेध्य अथवा निषेध का विषय है। वह भेद सहोपलम्भ (साथ साथ प्रतीति होना) के अनियम से व्याप्त है, 'जहाँ सदा साथ प्रतीति का नियम नहीं होता वहाँ भेद होता है।' यह व्याप्ति है। अश्विनी नाम के दो नक्षत्र भिन्न-भिन्न हैं तथा उनका सदा साथ ही ग्रहण नहीं होता, यह दृष्टान्त है। इस व्याप्ति में भेद व्याप्य है और उपलब्धि का अनियम; अर्थात् सदा साथ ही उपलब्धि न होना उसका व्यापक है। किन्तु बाह्य जगत् में ज्ञान की उपलब्धि का नियम देखा जाता है, यह भेद के व्यापक सदा साथ उपलब्धि के अनियम के विरुद्ध है इसीलिए भेद का निवारण करता है, जैसे 'यत्र धूमः तत्राग्निः' (जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है) यहाँ धूम का व्यापक अग्नि है, इसके विरुद्ध अग्नि का अभाव होने पर धूम का अभाव सिद्ध हो जाता है।

यदि सदा साथ-साथ प्रतीति होने के कारण 'नील' तथा 'नीलज्ञान' दोनों में कोई भेद नहीं, दोनों एक ही वस्तु हैं तो शंका यह होती है कि ज्ञान से या विज्ञानस्वरूप ज्ञाता से भिन्न 'यह नील है' इस प्रकार की प्रतीति क्यों होती है?[२४] इसका उत्तर देते हुए ऊपर उद्धृत कारिका के उत्तरार्ध में कहा गया है कि यह भेद प्रतीति भ्रान्ति ही है। जब सहोपलम्भनियम के अनुमान से अर्थ तथा ज्ञान का अभेद सिद्ध हो जाता है तो यह भेद प्रतीति शंख की पीतिमा के समान स्वतः ही भ्रान्ति कोटि में आ जाती है। यह अनुमान बाह्य प्रतीति के प्रत्यक्ष से बलवान् है और उसका बाध कर देता है।[२५]

(३) **ज्ञान किसी बाह्य वस्तु के बिना ही सम्भव है**—इस तृतीय हेतु की व्याख्या करते हुए कहा गया है :—

"जो जो प्रतीति है वह सब बाह्य आलम्बन के बिना होती है जैसे स्वप्न की प्रतीति तथा माया द्वारा होने वाली प्रतीति। यह विवाद के विषय (बाह्य जगत्) की प्रतीति भी वैसी ही है—यह स्वभावहेतु (नाम का बौद्धन्याय प्रसिद्ध हेतु) है। यहाँ बाह्य वस्तु को आलम्बन न करना प्रतीति मात्र से तादात्म्य रखता है, जैसे वृक्षता (वृक्षपना) शिंशपात्व मात्र से तादात्म्य रखती है। इसलिए प्रतीतिमात्र से तादात्म्य रखने वाली आलम्बनरहितता को सिद्ध करने के लिए प्रतीति का होना स्वभावहेतु है।"[२६]

विज्ञानवादी का कथन है कि सभी को अनुभव द्वारा यह विदित है कि बाह्य वस्तु के बिना भी नाना प्रकार की प्रतीति हुआ करती है। जब कोई व्यक्ति अर्धनिद्रा में होता है उसकी बाह्येन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, वह स्वप्न में बाह्य वस्तु के बिना ही विविध प्रकार के दृश्यों को देख लेता है। इसी प्रकार व्यक्ति इन्द्रजालिक या जादूगरों के द्वारा अनेक ऐसी वस्तुओं का दर्शन करता है, जो वास्तव में नहीं होतीं, केवल कला की

---

२४. कथं तर्हि ज्ञानात्मकात् प्रतिपत्तुरर्थस्य भेदबुद्धिर्नीलमेतदिति। न्यायकणिका, पृ० २६१।

२५. बलवद्वेद्यत्वसहोपलम्भनियमानुमानेन बाधिता भ्रान्तिरेव। वही, पृ० २६१।

२६. यो यः प्रत्ययः सर्वो बाह्यानालम्बनः यथा स्वप्नमायादिप्रत्ययः, तथा चैष विवादाध्यासितः प्रत्ययः इति स्वभावहेतुः। बाह्यानालम्बनता हि प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी वृक्षतैव शिंशपात्वमात्रानुबन्धिनीति तन्मात्रानुबन्धिनि निरालम्बनत्वे साध्ये भवति प्रत्ययत्वं स्वभावहेतुः। भामती पृ० ५४४।

करामात होती हैं। इस अनुभव से यह बात स्पष्ट है कि बिना बाह्य आलम्बन के ही विविध प्रकार की प्रतीति हुआ करती है। यह बाह्य जगत् की प्रतीति भी बाह्य वस्तु के बिना ही हो जाती है। यह स्वभावहेतु नाम का बौद्ध न्याय प्रसिद्ध हेतु है। जैसे जो शीशम है, वह वृक्ष है अर्थात् जहाँ शीशमपन है वहां वृक्षता भी अवश्य है, क्योंकि शीशम (शिंशपा) भी एक वृक्ष है। यहाँ वृक्षता शिंशपात्व मात्र से तादात्म्य सम्बन्ध रखती है। इसी प्रकार 'जहाँ प्रतीति होती है वहाँ बिना किसी बाह्य आधार के ही'—इस व्याप्ति में निरालम्बनता (बिना किसी आधार के होना) प्रतीति मात्र से तादाम्य रखती है और प्रतीति होने के कारण निरालम्बनता की सिद्धि होती है; अर्थात् जो भी प्रतीति है वह बाह्य वस्तु के बिना ही सिद्ध हो जाती है। अतएव बाह्य वस्तु किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

६. विज्ञान से भिन्न सुख आदि का अभाव

जैसा कि प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए निरूपण किया जायेगा।[२७] बौद्ध दर्शन सुख आदि का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मानता है तथा उन्हें विज्ञान-स्वरूप ही मानता है।[२८] वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रकट होता है कि सर्वास्तिवाद सुख आदि को चित्तरूप नहीं मानता, अपितु चित्त सम्बन्धी (चैत्त) मानता है। उसके अनुसार जो आभ्यन्तर तत्त्व (elements) हैं उसके दो भेद हैं—चित्त तथा चैत्त। यहाँ चित्त शब्द विज्ञान का पर्याय है तथा चैत्त का अर्थ है—चित्तसम्बन्धी; क्योंकि चित्त में होने वाला (चित्ते भवं चैत्तम्) यह अर्थ बौद्ध दर्शन की भूमि से सामञ्जस्य नहीं रखता। चैत्त सुख आदि हैं। वे सुख आदि उन्हीं हेतुओं से उत्पन्न होते हैं जिनसे चित्त उत्पन्न होता है। वे चार हेतु हैं—आलम्बनप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय, सहकारिप्रत्यय। विज्ञान के जो कारण होते हैं, वे ही सुख आदि के भी होते हैं। इसीलिए सुख आदि चित्ताभिन्नहेतुज—चित्त से अभिन्न हेतुओं द्वारा उत्पन्न होते हैं अतएव ये चैत्त कहलाते हैं।[२९]

आगे चलकर (विज्ञानवादी द्वारा) 'चित्ताभिन्नहेतुजत्व' (चित्त से अभिन्न हेतुओं, द्वारा उत्पत्ति होना) हेतु से ही सुख आदि को विज्ञानस्वरूप सिद्ध किया गया है। जैसा कि सुख को विज्ञानस्वरूप सिद्ध करते हुए बौद्ध की ओर से वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वेन विज्ञानत्वाद् अशक्यं व्यावर्तनम् इति चेत्।
न्या० वा० ता०, पृ० १२३।

"सुखादि विज्ञान से अभिन्न सामग्री से उत्पन्न होते हैं अतः वे विज्ञानरूप ही हैं।"

इस हेतु का खण्डन करते हुए न्याय-वैशेषिक की और से यह युक्ति दी गई है—

"यह (अभिन्नहेतुजत्व) हेतु असिद्ध है; क्योंकि चन्दन के स्पर्शज्ञान की उत्पत्ति में जो सामग्री अपेक्षित है वही चन्दन से उत्पन्न होने वाले सुख की उत्पत्ति में नहीं, यदि ऐसा होता तो

---

२७. आगे, परि० ६ अनु० ५।

२८. सुखादयश्चिततया स्वसंवेदनप्रत्यक्षाः। न्यायकणिका, पृ० ११६ पृ० १२।

२९. एकविधसामग्रीजत्वेन चित्तसम्बन्धो बौद्धसूत्रे चैतशब्दार्थः। वेदान्तकल्पतरु, पृ० ५३३।

जिस शीत से आतुर व्यक्ति को चन्दन और स्पर्शेन्द्रिय के संयोग से शीत स्पर्श का ज्ञान होता है उसे सुख का भी अनुभव होना चाहिए।"[३०]

बौद्ध दर्शन की ओर से इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

अवान्तरसामग्रीभेदेऽपीन्द्रियार्थमनस्कारजत्वाज् ज्ञानजातीयत्वमिति।

न्या० वा० ता०, पृ० १२३।

"(ज्ञान और सुख की) कारण-सामग्री में अवान्तर भेद होने पर भी इन्द्रिय, अर्थ तथा मन की क्रिया से उत्पन्न होने के कारण सुख में ज्ञानजातीयता है (वह ज्ञान का सजातीय है)।"

इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन जिस सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति मानता है उसी से सुख आदि की भी। इसकी समानता के कारण ज्ञान और सुख जैसे कार्यों की भी समानता है। यद्यपि कुछ कारण-भेद भी है तथापि उससे ज्ञान और सुख की सजातीयता में अन्तर नहीं आता; अतः सुख आदि ज्ञान से भिन्न नहीं और ज्ञान के रूप हैं। इसके लिए बौद्ध दर्शन की यह भी युक्ति है कि जो ज्ञान के आकार नहीं हैं वे अवश्य ही स्वसंवेद्य नहीं होते; जैसे घट आदि। किन्तु सुख जब होता है, स्वसंवेदन का विषय ही होता है अतः यह ज्ञान का ही रूप है।[३१] दूसरी बात यह भी है कि स्वप्न में ज्ञानमात्र से ही सुख दुःख का अनुभव देखा जाता है अतः जब इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से सुख आदि की प्रतीति होती है तब भी ज्ञान ही सुख दुःख आदि का कारण है, इन्द्रिय और अर्थ का संयोग तो केवल ज्ञान का कारण ही है।[३२]

इस प्रकार विज्ञानवादी के अनुसार सुख दुःखादि आभ्यन्तर भाव ज्ञान के ही रूप हैं और विज्ञान से भिन्न कोई बाह्य या आभ्यन्तर विषय नहीं। विज्ञान ही पमार्थसत् है।

७. शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय

जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है[३३], विद्वानों की यह धारणा है कि शून्यवाद ही बुद्ध भगवान् को अभीष्ट था। बुद्ध के विविध उपदेशों का तात्पर्य शून्याद्वैत में ही था। वाचस्पति मिश्र ने भी बोधिचित्तविवरण का उद्धरण देते हुए यही बतलाया है— 'भिन्न होते हुए भी बुद्धों के उपदेश शून्याद्वैत में तात्पर्य रखने वाले हैं अतः अभिन्न हैं'।[३४]

विचारणीय यह है कि शून्यवाद का क्या अभिप्राय है? सामान्यतः यह समझा जाता है कि बौद्धों के अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में बाह्य या आभ्यन्तर (विज्ञानरूप) अर्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं; किन्तु एक सम्प्रदाय ऐसा है जो बाह्य

---

३०. अभिन्नहेतुजत्वासिद्धेः। न खलु यैव चन्दनस्पर्शज्ञानस्योत्पत्तौ सामग्री सैव सुखस्यापीति, अस्ति हि शीतार्तस्यापि चन्दनेन्द्रियसंयोगात् शीतस्पर्शज्ञानमिति तद्वदेवास्य सुखमपि भवेत्।
न्या० वा० ता०, पृ० १२३।

३१. परिशुद्धि, पृ० ५२९।

३२. असत्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानमात्रादेव सुखदुःखयोः स्वप्नान्तिके दर्शनात् यत्रापीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्तत्रापि ज्ञानमस्तीति तदेव सुखदुःखयोः कारणं क्लृप्तसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य तु ज्ञानमात्रोपयोगादन्यथासिद्धौ भावाभावाविति। न्या० वा० ता०, पृ० १२४।

३३. ऊपर, परि० २ अनु० १।

३४. भिन्नाऽपि देशनाऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा। भामती, पृ० ५२३।

(भूत, भौतिक) तथा आभ्यन्तर (चित्त और चैत्त) किसी भी तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, वही शून्यवादी है। वास्तव में यह शून्यवाद का आपाततः ग्रहण किया गया अर्थ है, जो विवेचन के लिए नहीं अपितु केवल खण्डन के लिए ग्रहण किया गया था। तत्त्वान्वेषण की दृष्टि से यह विशेष सहायक नहीं हो सकता। 'सर्वं शून्यम्' का वास्तविक अर्थ क्या है? शून्यवाद का क्या तात्पर्य है? इस विषय पर वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट प्रकाश डाला है—

यस्तु माध्यमिको मिथ्याबुद्धिदृष्टान्तेन बाह्यापह्नवं कृत्वा तेनैव दृष्टान्तेन विज्ञानाभावं कृत्वा विचारासहत्वं तत्त्वं भावानां व्यवस्थापयामास।

न्या० वा० ता०, पृ० ६६४।

"अर्थात् जिस माध्यमिक ने स्वप्न आदि मिथ्या बुद्धि के दृष्टान्त से बाह्यार्थ का निषेध करके उसी दृष्टान्त से विज्ञान का अभाव बतला कर बुद्धि और तर्क के समक्ष न ठहर सकना (विचारासहत्वम्) ही भावों का तत्त्व है, यह स्थापना की है।"

माध्यमिक या शून्यवादी बाह्यार्थ एवं विज्ञान दोनों का निषेध करता है। उसका कथन है कि ये भाव (वस्तु) विचार करते ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, बुद्धि की कसौटी पर खरे नहीं उतरते; इसलिए इनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः भावों का तत्त्व 'विचारासहत्व' है; अर्थात् विवेचन करते ही इनका स्वरूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, किसी रूप में भी उसकी स्थिति नहीं रहती। यह 'विचारासहत्व' क्या है?[३५] वाचस्पति मिश्र ने इसकी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है जिससे शून्यवाद पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

विज्ञानवादी को सम्बोधित करते हुए शून्यवादी कहता है "यदि विज्ञान साकार हो सकता है और बाह्य अर्थ स्थूल या सूक्ष्म किसी रूप में भी सम्भव नहीं है तब तो इसी प्रकार अर्थ और ज्ञान (दोनों ही) न 'सत्' रूप में बुद्धि की कसौटी पर खरे उतरते हैं, न 'असत्' रूप में ही; क्योंकि असत् वस्तु का आभास नहीं हो सकता। न ये 'सत्' और 'असत्' उभयरूप में ही हो सकते हैं; परस्पर विरोध होने के कारण सत् और असत् एक साथ नहीं रह सकते। ये पदार्थ अनुभय रूप से अर्थात् सत् और असत् दोनों से भिन्न रूप में भी मानने योग्य नहीं हैं; क्योंकि एक (सत् आदि) का निषेध नियतरूप से दूसरे (असत् आदि) का भाव रूप (विधान) होता है। इसलिए वस्तुओं का तत्त्व विचारासहत्व ही है। जैसा कि कहा है—(लङ्कावतारसूत्र) विद्वान् लोग यह कहते हैं कि वस्तु का यह स्वरूप उसके सामर्थ्य से सिद्ध होता है (वस्तुनोऽव्यभिचारिलिङ्गस्य बलादायातम्), किन्तु ज्यों-ज्यों वस्तुओं पर विचार किया जाता है वे छिन्न-भिन्न होती जाती हैं। वस्तु किसी पक्ष में भी विचार के समक्ष नहीं ठहरती—यह भाव है।[३६]

---

३५. किं पुनरिदं विचारासहत्वं वस्तु यत्तत्त्वमभिमतम्। भामती, पृ० ५५८।

३६. यदि साकारं विज्ञानं न सम्भवति बाह्यश्चार्थः स्थूलसूक्ष्मविकल्पेनासम्भवी, हन्तैवमर्थज्ञाने सत्त्वेन तावद् विचारं न सेहेते। नाप्यसत्त्वेन, असतो भासनायोगात्, नोभयत्वेन, विरोधात् सदसतोरेकत्वानुपपत्तेः, नाप्यनुभयत्वेन, एकनिषेधस्येतरविधाननान्तरीयकत्वात् तस्माद् विचारासहत्वमेवास्तु तत्त्वं वस्तूनाम्।

माध्यमिक का अभिप्राय यह है —विश्व की जो वस्तुएँ बौद्ध या अन्य दार्शनिकों द्वारा मानी गई हैं वे सभी विचारासह हैं ; अर्थात् विचार करने पर उनका तत्त्व समझ में नहीं आता । उन वस्तुओं को चार कोटियों में रक्खा जा सकता है—(१) सत् (२) असत् (३) सदसत् अर्थात् उभयात्मक (४) न सत् न असत् अर्थात् अनुभयात्मक । यदि कहें कि ज्ञान और अर्थ सत् हैं तो विचार करने पर ज्ञात होता है कि वे सत् नहीं हो सकते, जैसा कि ऊपर कहा गया है । यदि कहें कि भाव असत् है, अभावरूप हैं तो यह भी युक्तियुक्त नहीं । जिन भावों का सभी अनुभव करते हैं उनका अभाव कैसे कहा जा सकता है, उनके आधार पर ही तो लोक-यात्रा चल रही है यदि कहें कि सत् भी हैं असत् भी हैं तो भी ठीक नहीं, एक ही वस्तु में दो विरुद्ध धर्म कैसे रह सकते हैं ? अच्छा तो फिर सत् भी नहीं और असत् भी नहीं ; यह कहना चाहिए ? यह कहना भी संगत न होगा; क्योंकि जो सत् नहीं वह असत् होना चाहिए और जो असत् नहीं वह सत् होना चाहिए अर्थात् सत् का अभाव= असत् तथा असत् का अभाव=सत् । इसलिए सत् और असत् दोनों का एक वस्तु में निषेध करना कैसे संभव है । इस प्रकार अर्थ और ज्ञान उपर्युक्त चार कोटियों में से किसी में भी नहीं आ सकते । इन चार कोटियों से भिन्न उनकी व्यवस्था के लिए, कोई कोटि हो नहीं सकती । अतः वस्तुओं का तत्त्व विचारासहत्व है ; अर्थात् वे विचार को सहन नहीं कर सकतीं । उनकी सत्ता विचार की कसौटी पर खरी नहीं उतरती । इसी से विश्व परमार्थसत् नहीं, शून्य ही परमतत्व है । शून्य यानी विचारासहत्व ।

इस प्रकार शून्यवादी ने 'शून्य' (विचारासहत्व) को तत्त्व मानकर उसका बलपूर्वक समर्थन किया है तथा प्रतिपक्षियों के आक्षेपों के उत्तर देते हुए उनके मन्तव्यों का खण्डन किया है । संक्षेप में शून्यतासमर्थक युक्तियों को निम्न भागों मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रमाणवाद का खण्डन ।
(२) कारणवाद का खण्डन ।
(३) भावमात्र का खण्डन ।

इन युक्तियों का वाचस्पति मिश्र की कृतियों के आधार पर क्रमशः बिवेचन किया जायेगा ।

८. प्रमाणवाद का खण्डन

वस्तुवादियों की घोषणा थी कि प्रमाणों के द्वारा ही प्रमेय-सिद्धि होती है 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' । इसी से प्रमाणवाद को उन्होंने विशेष महत्त्व दिया था ।

यथाहु :— इदं वस्तुबलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥ इति० ॥
न क्वचिदपि पक्षे व्यवतिष्ठन्ते इत्यर्थः । भामती, पृ० ५५७ ।
सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० २९) में यह कारिका लङ्कावतार से उद्धृत दिखलाई गई है । यह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक (२.२०९) में भी स्थित है । दोनो स्थलों में 'विविच्यन्ते' के स्थान पर 'विशीर्यन्ते' पाठ है, वही शुद्ध प्रतीत होता है ।

शून्यवादी ने इसी जड़ को काटना अपना प्रथम कर्तव्य समझा और यह प्रतिघोषणा कर दी कि जिन प्रमाणों द्वारा भावों की वास्तविकता सिद्ध की जाती है उन प्रमाणों को ही सिद्ध नहीं किया जा सकता। बस, नागार्जुन ने अपने ग्रन्थों में प्रमाणों का बलपूर्वक खण्डन किया; विशेष रूप से 'विग्रहव्यावर्तनी' और 'प्रमाण-विध्वंसन' नामक ग्रन्थों में। उनके प्रमाण खण्डन की तर्क प्रणाली का न्यायदर्शन में विस्तार से खण्डन किया गया है और आचार्य वाचस्पति मिश्र ने उसका विशद विवेचन किया है। संक्षेप में उसके निम्नलिखित अंग हैं—(क) प्रमाण विचारासह हैं (ख) प्रमाण की सिद्धि किसी प्रकार संभव नहीं (ग) प्रमाणों के द्वारा तीनों कालों में भी अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता। न्यायतात्पर्यटीका में इन सभी बातों पर विचार किया गया है। वहाँ माध्यमिक की ओर से नैयायिक के प्रति ही युक्तियाँ दी गई हैं।

(क) प्रमाण विचारासह हैं—माध्यमिक के इस मत को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

"अयमत्र पूर्वपक्षिणो माध्यमिकस्याभिसन्धिः। यद्यपि मम विश्वविचारासहत्ववादिनः प्रमाणं नाम न किञ्चदस्ति विचारसहं तथापि लोकसिद्धान्येव प्रमाणानि, तैरेव प्रमाणैः पर्यालोच्यमानानि विचारं न सहन्ते। सोयं प्रमाणानामपराधो यानि स्वविरोधेन विलीयन्ते न ममापराध इति। न्या० वा० ता०, पृ० ३६०।

"अर्थात् यहाँ पूर्वपक्षी माध्यमिक का यह आशय है—यद्यपि विश्व को ही विचारासह मानने वाले मेरे मत में प्रमाण नाम की कुछ भी विचारसह वस्तु नहीं, तथापि जो लोकप्रसिद्ध प्रमाण हैं उनका जब उन्हीं प्रमाणों द्वारा विवेचन किया जाता हैं तो वे विचार को सहन नहीं करते (छिन्न-भिन्न हो जाते हैं)। यह प्रमाणों का ही अपराध (दुर्बलता या अवास्तकिता) है, जो अपने विरोध से विलीन हो जाते हैं। इसमें मेरा (शून्य-वादी का) अपराध नहीं।

(ख) प्रमाणों की सिद्धि किसी प्रकार भी नहीं हो सकती यह दिखलाते हुए कहा गया है—

"यहाँ ये विकल्प उठते हैं कि प्रत्यक्ष आदि (प्रमाणों) की सिद्धि किसी साधन से होती है या बिना साधन के? यदि साधन से होती है तो क्या इन्हीं प्रत्यक्ष आदि के द्वारा अथवा किसी दूसरे प्रमाण से। यदि इन्हीं से होती है तो क्या उसी प्रत्यक्ष व्यक्ति से अपना (ग्रहण होता है) अथवा एक प्रत्यक्ष व्यक्ति का अन्य प्रत्यक्ष व्यक्ति से (ग्रहण होता है)। अन्य प्रमाण के द्वारा (प्रत्यक्षादि की उपलब्धि) स्वीकार करने पर (प्रमाणों के) विभाग सूत्र का विरोध होगा और अनवस्था दोष भी होगा। प्रत्यक्षादि (व्यक्ति) के द्वारा दूसरे प्रत्यक्षादि (व्यक्ति) का ग्रहण होने पर अनवस्था होगी। उसी व्यक्ति से (अपना) ग्रहण होने पर अपने में व्यपार होना विरुद्ध बात होगी। उसी कृपाण की धार से अपना ही छेदन नहीं किया जाता। इसलिए प्रमाणों की उपलब्धि साधनरहित है, अर्थात् प्रमाण के ग्रहण

में कोई साधन नहीं है। तब तो प्रमेय के ग्राहक प्रमाणों की भी आवश्यकता नहीं। प्रमाण के समान प्रमेय का ग्रहण भी बिना साधन के ही हो जायेगा।[३७]

भाव यह है कि प्रमाणों की उपलब्धि या सिद्धि कैसे होगी? इसके दो प्रकार हो सकते हैं एक तो यह कि किसी साधन से हो, दूसरा यह कि बिना किसी साधन के ही हो जाये। यदि पहला प्रकार मानें अर्थात् किसी साधन से प्रमाणों की सिद्धि होती है यह स्वीकार किया जाये तो इसके भी दो प्रकार हो सकते हैं—(१) इन प्रमाणों की सिद्धि इनके द्वारा ही हो जाती है अथवा (२) अन्य प्रमाणों के द्वारा; अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों को सिद्ध करने के लिए इनसे भिन्न कोई अन्य प्रमाण मानना पड़ता है। यदि इनमें से प्रथम पक्ष माना जाये, यह स्वीकार किया जाये कि प्रमाणों की सिद्धि इन्हीं के द्वारा हो जाती है तो दो कोटि हो सकती हैं—(क) क्या कोई प्रत्यक्षादि व्यक्ति अपने आप ही अपना ग्रहण कर लेती है; अर्थात् प्रत्यक्ष का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है, अनुमान का अनुमान द्वारा ही और इसी प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष का चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है अथवा (ख) एक प्रत्यक्ष व्यक्ति का दूसरे प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है।

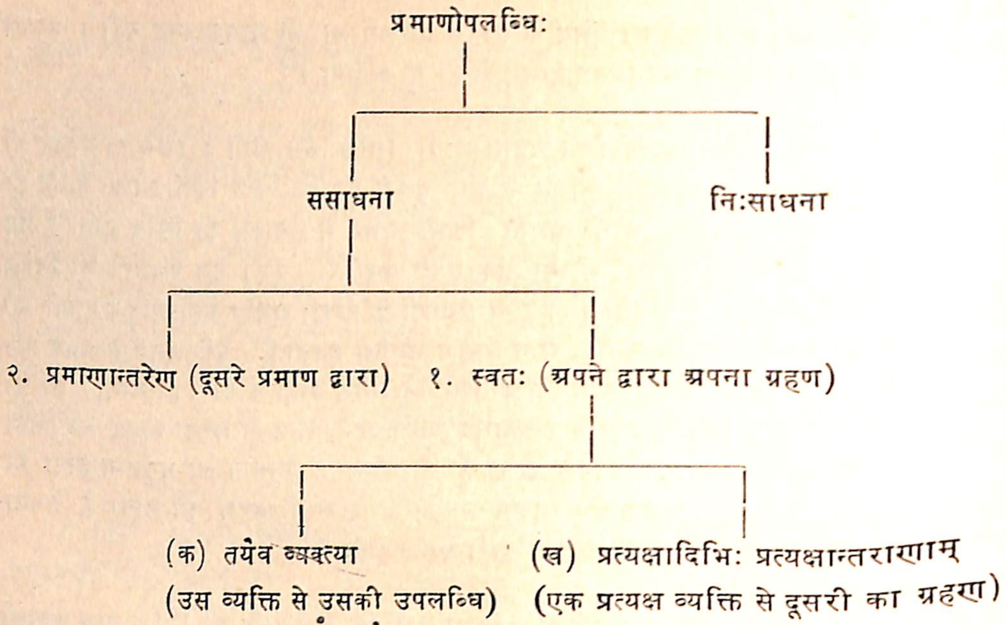
इन पक्षों में से यदि यह स्वीकार किया जाये कि प्रत्यक्षादि की सिद्धि अन्य प्रमाणों से होती है, अर्थात् प्रत्यक्ष की सिद्धि अनुमान से हो जाती है तो दो दोष आते हैं एक तो माने हुए प्रमाणों से भिन्न अन्य प्रमाण मानने पड़ेंगे, दूसरे अनवस्था हो जायेगी, इन स्वीकृत प्रमाणों की सिद्धि के लिये कोई और प्रमाण मानना पड़ेगा फिर उनकी सिद्धि के लिये कोई और। इस प्रकार यह प्रमाणान्तर कल्पना कहीं भी विरत न होगी।

यदि प्रथम पक्ष की (ख) कोटि मानी जाती है अर्थात् एक प्रत्यक्ष का दूसरे प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण हो जाता है तो भी अनवस्था दोष होता है, एक प्रत्यक्ष का दूसरे से ग्रहण होगा, दूसरे का तीसरे से, फिर उसका और किसी से यह अनवस्था होगी। यदि प्रथम पक्ष की (क) कोटि स्वीकार की जाये अर्थात् उस व्यक्ति का उसके द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तो अपने में अपना व्यापार स्वीकार करना पड़ेगा और यह उचित नहीं, भला कोई तीक्ष्ण तलवार भी अपनी धार को स्वयं काट सकती है? कैसा ही निपुण व्यक्ति हो अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। इस प्रकार पहला प्रकार नहीं बन सकता; अर्थात् किसी साधन से प्रमाणों की सिद्धि नहीं हो सकती। तब न चाहते हुए भी दूसरा प्रकार स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना साधन के ही प्रमाणों का ग्रहण हो जाता है। फिर तो बिना साधन के ही प्रमेय का भी ग्रहण हो जाना चाहिये। इन निरर्थक प्रमाणों की क्या आवश्यकता है? इन विविध विकल्पों को इस प्रकार दिखलाया जा सकता है—

---

३७. अत्रैते कल्पा उपप्लवन्ते किं प्रत्यक्षादीनामुपलब्धिः ससाधना निःसाधना वा? यदापि ससाधना तदाऽपि किमेभिरेव प्रत्यक्षादिभिराहो प्रमाणान्तरेण यदाऽप्येभिस्तदापि किं तयैव प्रत्यक्ष-व्यक्त्या, अथैका व्यक्तिर्व्यक्त्यन्तरेणेति। तत्र प्रमाणान्तराभ्युपगमे विभागसूत्रव्याघातः, अनवस्थापातश्च। तत्र प्रत्यक्षादिभिः प्रत्यक्षाद्यन्तराणां ग्रहणे अनवस्थापातः। तयैव व्यक्त्या तु ग्रहणे आत्मनि वृत्तिविरोधः। न हि तयैवासिधारया सैवासिधारा छिद्यते। तस्मादसाधना प्रमाणोपलब्धिः, एवं चेत् कृतं प्रमेयसाधनैः प्रमाणैः, प्रमाणवदसाधनैवास्तु प्रमेयोपलब्धिरिति।

न्या० वा० ता०, पृ० ३६६।



(ग) प्रमाणों के द्वारा तीनों कालों में वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता—यदि मान भी लिया जाये कि प्रमाणों की सत्ता है तो भी उनसे तीनों कालों में प्रमेय का ग्रहण नहीं हो सकता। प्रमाण और प्रमेय के पूर्वापर का क्रम तीन प्रकार से संभव है—(१) या तो प्रमाण पहले हो प्रमेय उसके पश्चात् अथवा (२) प्रमेय पहले हो प्रमाण उसके पश्चात् हो अथवा (३) प्रमाण और प्रमेय दोनों एक साथ (युगपत्) हों। इस पर माध्यमिक कहता है कि;

(१) प्रमेय से पूर्व प्रमाण नहीं हो सकता—

ज्ञानं हि प्रमाणं तद्योगात् प्रमेयमिति चार्थ इति च भवति। तद्यदि प्रमाणं पूर्वं प्रमेयाद् अर्थादुत्पद्यते ततः प्रमाणात् पूर्वं नासावर्थ इति इन्द्रियार्थेत्यादिसूत्रव्याघात:।

न्या० वा० ता०, पृ० ३६०।

"अर्थात् क्योंकि प्रमाण ज्ञान ही है और उसके सम्बन्ध से कोई वस्तु 'प्रमेय' तथा अर्थ कहलाती है। यदि प्रमाण (ज्ञान) प्रमेय अर्थ से पहले उत्पन्न हो जाता है तब प्रमाण से पहले यह अर्थ नहीं हुआ इसलिये 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है, इस सूत्र[३८] में व्याघात दोष होगा।"

नैयायिक के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, और गन्ध आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाण से गृह्यमाण अर्थ ही प्रमेय कहलाता है (प्रमीयते इति प्रमेयम्) और इसी से गन्ध आदि को अर्थ कहते हैं, क्योंकि उनकी इन्द्रियों (प्रमाणों) के द्वारा अर्थना (चाहना) की जाती है।[३९] यदि यह माना जाये कि प्रमेय या अर्थ से पहले प्रमाण की उत्पत्ति होती है तब तो प्रमाण के सम्बन्ध से

---

३८. न्यायसूत्र १.१.४।

३९. इन्द्रियैरर्थ्यमानत्वम् अर्थानां लक्षणम्। न्या० वा० ता०, पृ० २२४।

पहले यह अर्थ नहीं कहला सकता, क्योंकि इन्द्रियादि प्रमाणों के द्वारा जब इसकी चाहना (अर्थना) की जायेगी, तब इसका इन्द्रियादि से योग होगा तभी तो यह अर्थ कहलायेगा। जब अर्थ पहले से नहीं होगा तो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है, यह बात कैसे बनेगी तथा सूत्र में व्याघात होगा—एक बात का दूसरी से विरोध होगा।

(२) यदि पूर्वोक्त दोष के कारण यह मान लिया जाये कि प्रमेय पहले है, प्रमाण इसके पश्चात् होता है, तो इस पर माध्यमिक की ओर से कहा गया है—

अथ पूर्वं प्रमेयं पश्चात् प्रमाणं तत्राह पश्चादिति-यद्यपि स्वरूपं न प्रमाणाधीनं तथापि तस्य प्रमेयत्वं तदधीनं, तदपि चेत् प्रमाणात् पूर्वं न प्रमाणयोगनिबन्धनं स्यादित्यर्थः। न्या० वा० ता० पृ० ३६०।

"यदि पहले प्रमेय है, तत्पश्चात् प्रमाण होता है तो इस पर 'पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः'[४०] (यह सूत्र है)। भाव यह है कि यद्यपि प्रमेय का स्वरूप प्रमाण के अधीन नहीं तथापि उसकी प्रमेयता (प्रमाण-विषयता) तो प्रमाण के अधीन है। वह (प्रमेयता) भी यदि प्रमाण से पहले हो तो प्रमाण के सम्बन्ध से होने वाली नहीं रहेगी।"

प्रमाण से पहले ही प्रमेय होता है, यह द्वितीय विकल्प भी स्वीकार नहीं किया जा जा सकता, क्योंकि प्रमेय का अर्थ है—प्रमाणग्राह्य तथा वह तभी प्रमेय कहलाता है, जब प्रमाणों द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है, इसलिये उसका स्वरूप तो पहले रह सकता है, किन्तु उसकी प्रमेयता प्रमाण से पहले नहीं रह सकती। प्रमाणों से प्रमीयमाण अर्थ ही प्रमेय है, प्रमाण के विद्यमान न होने पर वह प्रमेय कैसे कहला सकता है?

(३) प्रमाण ओर प्रमेय दोनों का एक साथ होना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता—

यौगपद्ये दृष्टव्याघातः, सूत्रव्याघातश्च। न्या० वा० ता०, पृ० ३६०।

"(प्रमाण और प्रमेय दोनों का) एक साथ होना स्वीकार करने पर अनुभव (दृष्ट) का विरोध होता है और सूत्र का विरोध होता है।"

यदि प्रमाण और प्रमेय दोनों का एक साथ होना या एक साथ ग्रहण माना जाये, तो यह अनुभव के विरुद्ध होगा; क्योंकि 'ज्ञान क्रम से होते हैं' इस अनुभव का विरोध होगा। सूत्र का विरोध भी होगा। सूत्रकार ने कहा है 'युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो-लिङ्गम्।' एक साथ दो ज्ञान मानने पर उस सूत्र से विरोध होगा।[४१]

प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि के यही (उपर्युक्त) तीन प्रकार हो सकते हैं किन्तु इन तीनों प्रकारों से प्रमाण द्वारा प्रमेय का ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता।[४२]

---

४०. न्यायसूत्र, २.१.१०।

४१. न्या० वा०, २.१.११।

४२. मि०, वात्स्यायन भाष्य, २.१.११।

इन युक्तियों का उपसंहार करते हुए माध्यमिक की ओर से यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है—

प्रयोगस्तु—प्रत्यक्षादयो न प्रमाणत्वेन व्यवहर्तव्याः, कालत्रयेऽप्यर्थाप्रतिपादकत्वात् । यदेवं न तत् प्रमाणत्वेन व्यवह्रियते यथा शशविषाणं तथा चैतत्तस्मात् तथेति । न्या० वा० ता०, पृ० ३६० ।

अनुमान का प्रयोग तो यह है —

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहलाने योग्य नहीं हैं ।	(प्रतिज्ञा)
क्योंकि ये तीनों कालों में भी अर्थ के प्रतिपादक नहीं हो सकते ।	(हेतु)
जो अर्थ का प्रतिपादक नहीं वह प्रमाण नहीं होता; जैसे शशविषाण ।	(दृष्टान्त)
ये प्रमाण भी ऐसे ही हैं (अर्थ के प्रतिपादक नहीं) ।	(उपनय)
इसलिये ये भी प्रमाण शब्द से व्यवहार के योग्य नहीं ।	(निगमन)

न्यायतात्पर्यटीका का यह प्रमाण-खण्डन नागार्जुनकृत विग्रह-व्यावर्तनी से पर्याप्त मात्रा में मिलता है ।[४३] किन्तु वाचस्पति मिश्र ने नागार्जुन का नामोल्लेख नहीं किया, न ही 'विग्रहव्यावर्तनी' की किसी कारिका को उद्धृत किया है । जैसा कि ऊपर[४४] निरूपण किया गया है, कुछ विद्वानों ने इस प्रकरण के न्यायसूत्रों पर भी नागार्जुन की माध्यमिक कारिका का प्रभाव स्वीकार किया है । सम्भवतः गम्भीर तथा सूक्ष्म गवेषणाओं से इसकी तथ्यता पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा ।

९. शून्यवाद तथा कार्यकारणभाव

शून्यवादी के अनुसार कार्यकारणभाव कल्पित है—सांवृत्तिक है । वाचस्पति मिश्र ने जो बात सामान्यतः बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में कही है वह शून्यवादी सम्प्रदाय पर सर्वांश में लागू होती है—

न वास्तवः कश्चित् कार्यकारणभावो नामास्ति सम्बन्धः प्रतीत्यसमुत्पादमात्रं तत् । न्या० वा० ता०, पृ० ३८७ ।

"अर्थात् कार्यकारणभाव नाम का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं, वह तो केवल प्रतीत्यसमुत्पाद ही है ।"

माध्यमिक के मत में भी प्रतीत्यसमुत्पाद ही कार्यकारणभाव को प्रकट करता है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ हो जाता है—कारण को नष्ट करके कार्य की उत्पत्ति अर्थात् कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति—

'प्रतीत्य पूर्वभावं विकृत्य इत्यर्थः'—न्या० वा० ता०, पृ० ३६७

शून्यवादी के इस कार्यकारणभाव का वाचस्पति मिश्र ने न्यायतात्पर्यटीका (५९०, ५९१) तथा भामती (५३८, ५३९) में उल्लेख किया है । अभाव से ही विश्व की उत्पत्ति होती है, इसका विवेचन करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं :—

---

४३. मि०, विग्रहव्यावर्तनी, कारिका ३०-५२ ।
४४. ऊपर, परि० १ अनु० ७ (पृ० २१) ।

कुछ कहते हैं कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। क्योंकि (बीजादि कारण को) नष्ट किये बिना (अंकुर आदि की) उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए (अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है)। विश्व शून्यता से ही उत्पन्न होता है। यह श्रुति है कि पहले यह सब असत् ही था। इसी से आज भी असत् की ही उत्पत्ति देखी जाती है, सत् की नहीं। यह किस कारण से? क्योंकि अभाव ही उसका कारण है। 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' यह (सूत्रकार का कथन) उपलक्षण मात्र है। असत् से ही उत्पत्ति होती है यह भी समझना चाहिये। इसलिए इस संसार का कारण असत् (अभाव या शून्य) ही है। यह सिद्ध होता है।[४५]"

शून्यतावादी का अभिप्राय यह है कि अनुभव द्वारा जो कार्य-कारण-भाव देखा जाता है उसमें एक बात सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है वह यह कि कारण नष्ट हो जाता है तब कार्य की उत्पत्ति होती है। बीज के गल जाने पर अंकुर निकलता है। ऐसा कभी नहीं होता कि बीज अपने रूप में ज्यों का त्यों बना रहे और अंकुर उत्पन्न हो जाये। अतएव भाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती अपितु अभाव से कार्य की उत्पत्ति होती है। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं कि यह विश्व पहले असत् था अत: यह समझ में आता है कि इसका कारण असत् ही है; इसलिये यह विश्व अभाव से उत्पन्न होता है। इसका कारण अभाव है, शून्य है।

यहाँ नैयायिक की ओर से यह शंका होती है कि कारण का नाश करके कार्य उत्पन्न होता है, यह प्रयोग ही अनुचित है; यहाँ परस्पर व्याघात है[४६]। जो पश्चात् उत्पन्न होने वाला है वह पहले ही कारण का नाश कैसे कर सकता है? दूसरा दोष यह होता है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होना युक्त नहीं[४७]। यदि ऐसा होगा तो प्रत्येक वस्तु किसी वस्तु से भी उत्पन्न होने लगेगी, कारण और कार्य का कोई नियम न रहेगा। इन शंकाओं का समाधान करते हुए शून्यवादी की ओर से कहा गया है—

उपमृद्य प्रादुर्भवतीति भाक्त एष प्रयोगो न मुख्य इत्यर्थः।………उपमृद्य प्रादुर्भावादित्यनेनानन्तर्यं बीजविनाशाङ्कुरोत्पादयोः सूचितं बीजविनाशानन्तर्याच्चाङ्कुरोत्पादस्य बीजविनाशकार्यत्वमिति। न्या० वा० ता०, पृ० ५९१।

"अर्थात् नष्ट करके उत्पन्न होता है, यह गौण (भाक्त) प्रयोग है, मुख्य नहीं, यह अर्थ है। …………नष्ट करके उत्पन्न होने से इस (कथन) के द्वारा बीज-विनाश और अंकुर की उत्पत्ति में एक के पश्चात् दूसरे का होना (आनन्तर्य) सूचित किया गया है। क्योंकि बीज विनाश के अनन्तर अंकुर की उत्पत्ति होती है इसलिये अंकुर की उत्पत्ति बीज-विनाश का कार्य है।"

---

४५. तत्र तावदेके प्राहुरभावाद् भावोत्पत्तिः। कुतः? नानुपमृद्य प्रादुर्भावो यतः तस्मादित्यर्थः। विश्वं हि शून्यताया एव जायते। एवं किल श्रूयते असदेवेदमग्र आसीदिति। अत एवाद्याप्यसत एव जन्म दृश्यते न सतः। तत्कस्य हेतोः? अभावस्तस्य कारणमिति। उपलक्षणं चेदं नानुपमृद्य प्रादुर्भावादिति, असत उत्पादादित्यपि द्रष्टव्यम्। तस्मादसदुपादानं विश्वमिति सिद्धम्।
न्या० वा० ता०, पृ० ५९०-५९१।

४६. उपमृद्य प्रादुर्भवतीति व्याघातः। न्या० वा० ता०, पृ० ५९१।

४७. अपि त्वसतः कारणादुत्पत्तिर्न युक्ता। न्या० वा० ता०, पृ० ५९१।

शब्द का प्रयोग दो प्रकार का होता है—मुख्य तथा भाक्त। अंकुर बीज को नष्ट करके उत्पन्न होता है, इस वाक्य में मुख्य प्रयोग नहीं बन सकता, इसलिये यहाँ औपचारिक, भाक्त या गौण प्रयोग है। ऐसे प्रयोग लोक में प्रचुरता से होते ही हैं जैसे 'भिन्नं कुम्भमनुशोचति'—फूटे हुए घड़े का सोच करता है, 'जनिष्यमाणस्य पुत्रस्य नाम करोति'—जो पुत्र उत्पन्न होगा उसका नामकरण करता है। अतः शब्द प्रयोग में कोई दोष नहीं। दूसरा दोष भी नहीं। बीज को नष्ट करके अंकुर उत्पन्न होता है, इस कथन का अभिप्राय यह है कि बीज नष्ट हो जाता है उसके अनन्तर अंकुर उत्पन्न होता है। क्योंकि बीज नाश के अनन्तर अंकुर उत्पन्न होता है इसी से अंकुर बीज-विनाश का कार्य है। वह बीज का कार्य नहीं। यहाँ कारण-कार्य-भाव नियत है ही। धान बीज-नाश के अनन्तर धान का अंकुर उत्पन्न होता है, गेहूँ बीज-नाश के अनन्तर गेहूँ का अंकुर। इसलिये कोई अव्यवस्था भी नहीं होती। इस प्रकार कारण और कार्य का नियम तो है; अर्थात् कुछ वस्तुओं के नष्ट होने पर अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। यही कारण और कार्य का विच्छिन्न प्रवाह 'शून्यता' कहलाती है।[४८] और, इसी शून्यता से विश्व की उत्पत्ति होती है। यह कार्यकारणभाव विचारासह है—शून्य है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से है ही। इसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं; किन्तु सांवृत्तिक सत्ता तो है।

अब एक प्रश्न उठता है कि यदि शून्यता से ही विश्व की उत्पत्ति होती है, शून्य परमार्थ सत् तत्त्व है, यह विश्व मिथ्या है तो शून्यवादी और जगत् को ब्रह्म का विवर्त्त मानने वाला वेदान्ती दोनों के मत में भेद क्या है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि विचारासहवादी शून्यवादी तथा अनिर्वचनीयवादी ब्रह्मवादी दोनों में कुछ समानता है तथापि महान् अन्तर है। माध्यमिक का शून्य परमार्थसत् होते हुए भी नित्य चेतन स्वरूप ब्रह्म की तुलना में नहीं रक्खा जा सकता। क्षणिकवादी बौद्ध को कूटस्थनित्यता की बात कैसे अच्छी लग सकती है? यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने भी "शून्यताविवर्तो विश्वप्रपञ्चः"[४९]—विश्वप्रपञ्च शून्यता का विवर्त है। अथवा 'शून्यतोपादनस्तद्विवर्तो वा विश्वप्रपञ्चः'[५०]—'शून्यता से उत्पन्न होने वाला या शून्यता का विवर्त यह विश्व प्रपञ्च है' इत्यादि शब्दों का व्यवहार किया है तथापि विवर्तवाद से शून्यवाद अत्यन्त भिन्न है।

१०—भावमात्र का खण्डन

प्रमाणों का खण्डन करते हुए माध्यमिक ने समस्त वस्तुओं की परमार्थसत्ता का निषेध किया है। कार्यकारणभाव का खण्डन या शून्यता से ही विश्व की उत्पत्ति आदि सभी बातें विश्वप्रपञ्च की वास्तविकता का खण्डन करने के लिए ही प्रस्तुत की गई हैं। सब कुछ शून्य ही है, यही माध्यमिक की घोषणा है। वस्तुवादी जिस विश्वप्रपञ्च को विविध युक्तियों से स्थापना करता है, जिसके लिये परमाणु तथा आत्मा की सिद्धि करता है और अवयवी नाम के एक पदार्थ की कल्पना कर लेता है, उस विश्वप्रपञ्च को माध्यमिक तुच्छ तथा शून्यरूप सिद्ध करता है। माध्यमिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में दृश्यमान पदार्थों का निषेध करने के लिये अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। उनमें से कुछ युक्तियों का दिग्दर्शन मात्र

४८. इह हि प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता। विग्रहव्यावर्तनीवृत्तिः; का ०, २२।
४९. न्या० वा० ता०, पृ० ५९३।
५०. वही, पृ० ५९३।

ही वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में कराया गया है। संक्षेप में इन युक्तियों को निम्नरूप से प्रकट किया जा सकता है :—

(क) वस्तुओं को प्रकट करने वाले समस्त शब्द अभाव (तुच्छ) विषयक हैं।

(ख) वस्तुएँ (भाव) न नित्य हो सकती हैं, न अनित्य अतएव शून्यता सिद्ध होती है।

(ग) वस्तुओं का स्वरूप परापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं।

(घ) परमाणु जैसी कोई निरवयव वस्तु नहीं हो सकती।

(क) समस्त शब्दों का वाच्य (विषय) अभाव है—"यह सब प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमिति रूप जगत्, अभाव रूप है तुच्छ है, क्योंकि भावों में एक दूसरे का (घट में पट का तथा पट में घट का, अभाव सिद्ध है।......इन प्रमाण इत्यादि का एक दूसरे से तादात्म्य नहीं तथा ये अभाव ज्ञान के और निषेध (नकार) के विषय हैं, यह अनुभव होता है। इसलिए अभाववाची या निषेधवाची शब्दों का उन (प्रमाण आदि) से सामानाधिकरण्य होता है अतः प्रमाण इत्यादि असत् हैं, जैसे उत्पत्ति से पूर्व (अनुत्पन्न) तथा नष्ट हुआ (प्रध्वस्त) वस्त्र (असत् होता है)।[51]

जब संसार के भावों को देखा जाता है तो अनुभव होता है कि 'गौ अश्वरूप में असत् है', तथा गौ अश्व नहीं'। इसी प्रकार 'अश्व गौ रूप में असत् है,' तथा, अश्व गौ नहीं'।[52] इस अनुभव के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भावों में एक दूसरे का अभाव है; अर्थात् गौ में अश्व का अभाव है, दोनों का तादात्म्य नहीं अपितु अन्योन्याभाव है। तभी तो 'गौ अश्व रूप में असत् हैं' यहाँ गौ (भाव) का असत् के साथ सामानाधिकरण्य होता है। इसी प्रकार 'गौ अश्व नहीं' यहाँ गौ (भाव) का निषेध (न, नहीं) के साथ सामानाधिकरण्य होता है। जब सभी भावों का असत् (अभाव) एवं 'न' (निषेध) के साथ सामानाधिकरण्य है; अर्थात् जो वस्तु गौ आदि शब्दों का विषय है वही 'असत्' और 'न' का भी विषय है, तब सभी भाव असत् हैं, निषेध रूप हैं। इसके लिए दृष्टान्त देते हुए माध्यमिक कहता है कि जब तक पट (वस्त्र) उत्पन्न नहीं होता उसके लिये 'पट नहीं है' (असत्) इस प्रकार का व्यवहार होता है और जब पट उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट हो जाता है तो 'पट नहीं रहा' (निषेध) यह व्यवहार होता है। यहाँ असत् अर्थात् नष्ट पट एवं तुच्छ के लिये पट शब्द का प्रयोग होता है, विद्यमान पट के लिये नहीं। अतएव असत् तथा निषेध-व्यवहार का विषय होने के कारण समस्त भाव तुच्छरूप हैं, शून्य हैं। इसके लिये अनुमान का प्रयोग यह हो सकता है—

प्रयोगश्च सर्वे भावशब्दा असद्विषयाः असत्प्रत्ययप्रतिषेधाभ्यां सामानाधिकरण्यात् अनुत्पन्नप्रध्वस्तपटशब्दवत्। न्या० वा० ता०, पृ० ६१२।

समस्त भावविषयक शब्द अभावविषयक हैं। (प्रतिज्ञा)

---

५१. सर्वमिदं प्रमाणप्रमेयप्रमितिरूपम्, अभावस्तुच्छम्, भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति। प्रमाणादयः खल्वमी परस्परानात्मकतया असदिति प्रत्ययस्य नञश्च गोचरा इत्यनुभूयन्ते अतस्तद्वाचिनां शब्दानां तत्सामानाधिकरण्यं ततः प्रमाणादयोऽसन्तः, अनुत्पन्नप्रध्वस्तपटवत्। न्या० वा० ता०, पृ० ६११।

५२. असत् गौरश्वात्मना, अनश्वो गौः। असन् अश्वो गवात्मना, अगौरश्वः। वात्स्यायनभाष्य ४.१.३७।

क्योंकि उनका असत् वस्तु तथा अभाव (नञ्) के साथ सामानाधिकरण्य होता है। (हेतु)

जैसे, उत्पत्ति से पूर्व नष्ट हुए वस्त्र के लिए प्रयुक्त 'पट' शब्द अभावविषयक होता है। (दृष्टान्त)

(ख) **भाव न नित्य हो सकते हैं न अनित्य**—प्रश्न यह होता है कि जो ये भाव हैं, ये नित्य हैं या अनित्य ? नित्य होने पर अर्थक्रियाकारित्व रूप समस्त सामर्थ्य के अभाव में सत्ता ही सिद्ध नहीं होती; क्योंकि क्रम या अक्रम (युगपत्) न बनने के कारण नित्य वस्तु किसी भी कार्य में उपयोगी नहीं हो सकती। अनित्य होने पर (भाव) यदि विनाश स्वभाव वाले हैं तो जैसे वे द्वितीय आदि क्षण में नहीं हैं इसी प्रकार प्रथम क्षण में भी नहीं होंगे। यदि (सभी क्षणों में) होते हैं तो ये विनाशस्वभाव वाले नहीं अथवा विनाशस्वभाववाले न होकर दूसरे क्षण में भी नष्ट न होंगे। क्योंकि अपने कारणों से उत्पन्न नील सहस्रों कारणों द्वारा भी पीला नहीं किया जा सकता इसलिये न चाहते हुए भी अनित्य वस्तुओं को विनाशस्वभाववाली मानना चाहिये। इस हेतु भावों की शून्यता ही परमार्थसत् है (वास्तविक है); मिथ्या कल्पना से भाव सत् के समान अवभासित होते हैं, यह उचित प्रतीत होता है।[५३]

यदि भावों की सत्ता मानी जाये तो वे दो में से किसी एक प्रकार के हो सकते हैं—या तो वे नित्य हों या अनित्य। भाव नित्य तो हो नहीं सकते; क्योंकि जो वस्तु अर्थ-क्रियाकारी होती है—किसी सार्थक कार्य को करती है—वही सत् 'कही जाती है। नित्य वस्तु न क्रम से ही अर्थक्रिया में समर्थ है, न अक्रम् (युगपत्) से, यह क्षणभंगवाद में विस्तार से कहा गया है।[५४] अर्थक्रिया-समर्थ न होने से नित्य वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। यदि यह माना जाये कि भाव अनित्य ही हैं तो दो विकल्प हो सकते हैं—(१) इन अनित्य भावों का नष्ट हो जाना स्वभाव है (२) अथवा नहीं। यदि पूर्व विकल्प स्वीकार किया जाये; अर्थात् वस्तुएँ नाश स्वभाव वाली हैं, नष्ट होना इनका स्वभाव ही है तो जैसे ये द्वितीय आदि क्षण में नष्ट हो जाती हैं इसी प्रकार प्रथमक्षण में भी नष्ट हो जायेंगी। प्रथमक्षण में भी इनकी सत्ता न रहेगी तथा सर्वथा अभाव हो जायेगा। इससे यदि दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि वस्तु नाशस्वभाव-वाली नहीं अपितु कारणों से उनका नाश हो जाता है तो यह दोष होता है कि दूसरे क्षण में या किसी क्षण में भी उनका नाश न होना चाहिये। वस्तु के स्वभाव को कौन बदल सकता है ? जो नाश स्वभाव वाली नहीं उनका विनाश कैसे हो सकता है ? 'नील' को हज़ारों शिल्पकार मिलकर भी पीत नहीं कर सकते। इसलिये वस्तु को विनाशस्वभाववाली मानना पड़ेगा और वह सभी क्षणों में असत् है तथा शून्यता ही वास्तविक सत्य है। यदि

---

५३. अपि चामी भावा नित्या अनित्या वा नित्यत्वे सर्वसामर्थ्यरहितस्यासत्त्वम् न हि नित्यं क्वचित् कार्यं उपयुज्यते क्रमाक्रमानुपपत्तेरित्युक्तम्। अनित्यत्वे तु विनाशस्वभावाश्चेद् द्वितीयादिक्षण इव प्रथमक्षणेऽपि न स्युः। सत्त्वे वा नामी विनाश-स्वभावाः अतत्स्वभावत्वे वा क्षणान्तरेऽपि न विनश्येयुः। नो खलु नीलं स्वकारणादुपजातं जातु कारणसहस्रैरपि शक्यं पीतं कर्तुमिति विनाशस्वभावकत्वमकामेनापि अनित्यानामेषितव्यम्। तस्माद् भावानां शून्यतैव पारमार्थिकी कल्पनया त्ववस्तुसत्या सन्त इवावभासन्त इति युक्तमुत्पश्यामः।

न्या० वा० ता०, पृ० ६११-६१२।

५४. आगे, परि० ८ अनु० ५।

समस्त वस्तुएं असत् हैं तो प्रतीति कैसे होती है ? मिथ्या या अवस्तुसत् कल्पना से ही पदार्थों की प्रतीति होती है। भाव यह है कि इन भावों की व्यावहारिक सत्ता है, वास्तविक नहीं।

(ग) वस्तुओं का स्वरूप परापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं—माध्यमिक का कथन है कि:—"सभी वस्तुएँ भिन्न स्वभाव वाली हैं और उनकी भिन्नता एक दूसरी की अपेक्षा से है, जैसे कि नील वस्तु पीत आदि की अपेक्षा से भिन्न हैं स्वभाव से नहीं। इसी प्रकार ह्रस्वत्व-दीर्घत्व, परत्व-अपरत्व तथा पिता-पुत्र आदि एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं, यह समझना चाहिए। जो वस्तु परापेक्ष होती है वह स्वाभाविक नहीं होती; जैसे जपाकुसुम की अपेक्षा से होने वाली स्फटिकमणि की लालिमा।"[५५]

जो वस्तुएँ परापेक्ष हैं वे स्वाभाविक नहीं, यह माध्यमिक की युक्ति का सार है। माध्यमिक के अनुसार विश्व के समस्त भावों में परस्परसापेक्षता (Relativity) है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव भिन्न है, जो यह प्रतीति होती है कि यह नील है तो इसका भाव है कि यह पीत से भिन्न है। अतद्व्यावृत्ति ही तो शब्द का विषय है। नील का अर्थ है—नीलेतर अर्थात् पीत से व्यावृत्त (भिन्न)। इस प्रकार सभी वस्तुएँ भिन्न स्वभाव वाली हैं। यह भिन्नता एक दूसरी की अपेक्षा से होती है; जैसे ह्रस्व-दीर्घ इत्यादि अपेक्षाकृत होते हैं, स्वाभाविक नहीं। इसी प्रकार यह 'पर' है यह 'अपर' है, यह 'पिता' है यह 'पुत्र'—ये सब आपेक्षिक धर्म हैं। एक ही व्यक्ति किसी की अपेक्षा से पुत्र और किसी की अपेक्षा से पिता होता है। उसका पितृत्व या पुत्रत्व आदि स्वभाव नहीं होता। इस विवेचन से यह नियम समझ में आता है कि जो 'परापेक्ष होता है वह स्वाभाविक नहीं होता'; जैसे (दृष्टान्त है) स्फटिक मणि के निकट जपाकुसुम रखने से जपाकुसुम की लालिमा की अपेक्षा से स्फटिक में भी लालिमा झलकने लगती है। वह उसकी अपनी लालिमा नहीं। सारांश यह है कि वस्तुओं का अपना कोई स्वभाव नहीं, वे परापेक्ष हैं, निःस्वभाव हैं तथा शून्य हैं।

(घ) परमाणु भी असत है—जिस प्रकार बाह्यार्थ का खण्डन करते हुए विज्ञानवादी ने अवयवी तथा परमाणु सभी का प्रतिषेध किया है, उसी प्रकार शून्यवादी भी बाह्य पदार्थों की विभागपरम्परा को प्रलयपर्यन्त बतलाता है और परमाणु का अभाव सिद्ध करते हुए कहता है—

"अब आनुपलम्भिक, जो मानता है कि 'सर्वं नास्ति' (सब कुछ नहीं है), कहता है—उस परमाणु के भीतर और बाहर आकाश का समावेश होने से (व्यतिभेद) वह निरवयव नहीं हो सकता। सावयव होने पर तो अवयवों से वृत्तिविकल्प (एकदेशेन कात्स्न्र्येन वा वर्त्तते) होने से उस (निरवयवत्व) का अभाव होगा अतः शून्यता ही भावों का सार है"।[५६] यदि कोई शंका करे कि जब विकल्पों का आश्रय परमाणु ही नहीं हैं तो ये विकल्प आश्रय-हीन हैं और परमाणु के अभाव को कैसे सिद्ध कर सकते हैं। इसके उत्तर में कहा गया है

---

५५. सर्व एव हि भावा भिन्नस्वभावा भिन्नत्वं च तेषामन्यापेक्षम्। तथा हि नीलं भिन्नं पीताद्य-पेक्षया न तु स्वभावतः एवं ह्रस्वत्वदीर्घत्वपरत्वापरत्वपितापुत्रत्वादयः परस्परापेक्षया द्रष्टव्याः। यच्च परापेक्षं तन्न स्वाभाविकं यथा जपाकुसुमापेक्षं स्फटिकस्य रक्तत्वमिति। न्या० वा० ता०, पृ०, ६१३, ६१४।

५६. अथेदानीमानुपलम्भिकस्तस्य व्याख्यानं सर्वं नास्तीति मन्वान आह-आकाशव्यतिभेदात्तस्य परमाणोर्निरवयवत्वस्यानुपपत्तिः। सावयवत्वे तु वृत्तिविकल्पात् तदभाव इति शून्यतैव तत्त्वं भावानाम्। न्या० वा० ता०, पृ० ६४८।

कि "बिना आश्रय के होने वाला विकल्प भी जब लोक प्रतीति तथा कल्पना मात्र से उत्पन्न होता है तो परमार्थशून्यता का बोध करा देता है; क्योंकि मिथ्याज्ञानों को भी तत्त्वज्ञान का कारण देखा गया है ; जैसे दूर से वृक्षों में 'यह हाथी है', 'यह हाथी है' इस प्रकार की ज्ञान धारा वृक्षज्ञान का कारण हो जाती है और जैसे रेखानिर्मित नीलगाय, बाह्य नीलगाय के परिचय का हेतु होती है। इस प्रकार बहुत से दृष्टान्त देखे जा सकते हैं, यह भाव है"।[५७]

११. वाचस्पतिमिश्र का विज्ञानवाद और शून्यवाद सम्बन्धी विवेचन

संघर्ष के उस युग में वाचस्पतिमिश्र के समक्ष विज्ञानवादी ही मुख्य प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उपस्थित था। अत एव वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में विज्ञानवाद का निराकरण विशेष रूप से किया गया है, विज्ञानवाद के भी बाह्यार्थभङ्गवाद का; क्योंकि न्याय वैशेषिक के वस्तुवाद की सिद्धि में यही विशेषरूप से बाधक था। इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने बाह्यार्थ-भङ्गवाद का तो विशद विवेचन किया है किन्तु विज्ञानवाद के अन्य मन्तव्यों पर अधिक प्रकाश नहीं डाला। उदाहरणार्थ, विज्ञान से नाना रूप वाले जगत् की उत्पत्ति अथवा मुक्ति या निर्वाण के विषय में विज्ञानवादियों के मन्तव्य आदि पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया।

जब वाचस्पति मिश्र के शून्यवाद विषयक विवेचन पर विचार किया जाता है तब प्रथम तो यह विदित होता है कि वैदिक दर्शन के आचार्यों ने शून्यवाद को बुद्धिग्राह्य मन्तव्य ही नहीं समझा; जैसा कि शङ्कराचार्य ने अत्यन्त प्रौढतापूर्वक कहा है—**'शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिसिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते'**; अर्थात् शून्यवादी का मत तो समस्त प्रमाणों के विरुद्ध है अतः उसके निराकरण की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। वाचस्पति मिश्र का भी यही दृष्टिकोण प्रतीत होता है।[५८] दूसरी बात यह है कि वाचस्पति मिश्र ने शून्यवाद के स्वरूप और उसके अभिमत कार्य-कारण-भाव आदि का विवेचन किया है ; क्योंकि इसके निराकरण से ही वस्तुवाद की सिद्धि का मार्ग स्फीत हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो शून्यवादी के गहन भाव हैं, जिनका विशेषतः उसके निर्वाण एवं साधना मार्ग से सम्बन्ध है, उनका विशद विवेचन वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में नहीं किया गया। प्रस्तुत अध्ययन में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर ही विविध बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के मन्तव्यों पर विचार करना अभीष्ट है अतः इनके विविध पहलुओं पर विस्तारपूर्वक विचार करना न वाञ्छनीय ही है, न संभव ही।

---

५७. अनाश्रितोऽपि विकल्पो यथा लोकप्रतीति-कल्पनामात्रनिर्मितस्तात्त्विकीं शून्यतां गमयति। मिथ्याज्ञानानामपि तत्त्वावगमहेतुत्व-दर्शनात्। यथा दूराद् वनस्पतौ हस्तिप्रत्ययप्रवाहो वनस्पतितत्त्वप्रतिपत्तेर्हेतुः। यथा रेखागवयो वा गवयत्वप्रतिपत्तेरित्यादि बहूत्प्रेक्षितव्यमिति भावः। न्या० वा० ता०, पृ० ६४८।

५८. न चैवंवादिनः प्रमाणमस्ति, असता च प्रमाणेन विचारासहत्वं भावानां व्यवस्थापयन् श्लाघनीयप्रज्ञो देवानां प्रिय इति। न्या० वा० ता०, पृ० ६६५।

परिच्छेद—५

प्रमाण-विवेचन

१. वाचस्पति मिश्र तथा बौद्धदर्शन का प्रमाण-विवेचन

दिग्नाग सम्प्रदाय ने प्रमाण-विवेचन पर बहुत अधिक बल दिया है। दिग्नाग ने 'प्रमाणभूताय'[1] के रूप में ही बुद्ध को नमस्कार किया है और प्रमाणसमुच्चय में प्रमाणों का विस्तृत विवेचन किया है। धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्त्तिक तथा न्यायबिन्दु आदि अनेक ग्रन्थों में मुख्यतया प्रमाणों का निरूपण करते हुए ही बौद्ध दर्शन के मन्तव्यों का वर्णन किया है। बौद्ध दर्शन के इन ग्रन्थों में न्याय-वैशेषिक आदि के प्रमाणविषयक विविध मन्तव्यों की आलोचना की गई है। इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में भी बौद्ध न्याय के प्रमाण आदि की आलोचना की गई है। इस आलोचना में बौद्ध दर्शन की प्रमाणविषयक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ा है।

वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका[2] में न्यायाभिमत प्रमाणों के स्वरूप आदि का विवेचन करते हुए ही बौद्ध दर्शन के आक्षेपों तथा लक्षणों को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की है। न्यायकणिका[3] में बुद्ध की सर्वज्ञता की आलोचना करते हुए प्रासङ्गिक रूप से बौद्ध दर्शन के प्रमाणों का विवेचन किया है। ये दोनों ही ग्रन्थ बौद्ध दर्शन के प्रमाण-निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त भामती[4] टीका में भी यत्र-तत्र प्रमाण-सम्बन्धी विवेचन किया गया है।

बौद्ध-दर्शन के प्रमाणों के विषय में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों से विशेषकर निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है——

(१) प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की अवास्तविकता।
(२) प्रमाण-स्वरूप।
(३) प्रमाणों के प्रकार।
(४) प्रमाणों के विषय।
(५) प्रमाण-व्यवस्था।
(६) प्रमाण और प्रमाणफल का अभेद।

२. प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की अवास्तविकता

बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक भूत-भौतिक एवं चित्त-चैत्त आदि बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इनके मत में

---

१. प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे······प्रमाणसमुच्चय १–१।
२. न्या० वा० ता०, पृ० १८, २०, २००, २०५।
३. न्यायकणिका, पृ० १६३, २५४।
४. भामती, पृ० ५४१, ५४२।

प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की यथार्थता किसी प्रकार बन सकती है। किन्तु विज्ञानवादी जो विज्ञानमात्र को ही परमार्थसत् मानता है उसके मत में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कल्पित ही है, पारमार्थिक नहीं। इसी प्रकार माध्यमिक सम्प्रदाय जो शून्य को ही परमार्थसत् कहता है उसके मत में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार वस्तुसत् कैसे हो सकता है ? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है,[५] माध्यमिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में प्रमाणों का बलपूर्वक खण्डन किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने प्रमाण-परीक्षा सम्बन्धी न्यायवार्त्तिक की व्याख्या करते हुए विशेषकर शून्यवादी की प्रमाण-विध्वंसन सम्बन्धी युक्तियों का उल्लेख किया है। अन्य स्थलों में यत्र-तत्र विज्ञानवादी का दृष्टिकोण भी दिखलाया है। विज्ञानवादी के एतद्विषयक मत को प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—

"तब विज्ञानवादी विरोध में कहता है कि प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार वास्तविक नहीं; किन्तु अनादिवासना से उत्पन्न कल्पना के कारण होता है ; जैसे स्वप्न में विषय (वस्तुतः) नहीं होते, किन्तु केवल कल्पना के द्वारा प्रतीति हो जाती है (यही दशा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की भी है)।"[६]

विज्ञानवादी के मत में विज्ञानमात्र ही वस्तुसत् है। वही विज्ञान विकल्पों के कारण प्रमाण तथा प्रमेय रूप में भासित होने लगता है।[७] प्रमाण और प्रमेय विज्ञान के ही कल्पित आकार हैं। इनकी प्रतीति का कारण है—विकल्प और विकल्पों का कारण है—अनादि वासना। इन वासनाओं का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। इनसे ही अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं और विकल्पों के आधार पर विज्ञान का आकार-विशेष प्रमाण कहलाता है और वही प्रमेय भी ; जैसे स्वप्न में बाह्य विषय नहीं होते फिर भी वासना के कारण वे दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार वस्तुसत् नहीं तथापि विकल्पों के आधार पर वह हो जाता है। अतः प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार कल्पना-जन्य है।

इस विषय में माध्यमिक के मत को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

"जो अनियत है अर्थात् सदा एक सा नहीं रहता वह वास्तविक या परमार्थसत् नहीं, जैसे—रज्जु में आरोपित सर्प। उसी रस्सी को एक समय में ही (तदैव) कोई सर्प समझ लेता है कोई माला (हारा)।[८] एक ही व्यक्ति उसे कभी सर्प समझ कर फिर माला समझ लेता है। इसी प्रकार प्रमाणप्रमेय व्यवहार भी है (कोई वस्तु कभी प्रमाण कहलाती है कभी प्रमेय)। इसलिए प्रमाण-प्रमेय व्यवहार परमार्थसत् नहीं।"[९]

माध्यमिक का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु परमार्थसत् होती है, वह सदा सब को एक सी ही प्रतीत होनी चाहिए; क्योंकि उसका स्वरूप एक है इसलिए वह देवदत्त और

---

५. ऊपर, परि० ४ अनु० ८।

६. ततः प्रत्यवतिष्ठते विज्ञानवादी—न खलु वास्तवः प्रमाणप्रमेयभावः किं त्वनादिवासनानिबन्धकल्पनाधीनः। यथा न स्वप्ने सन्ति विषया अथ च प्रतिभान्ति कल्पनामात्रेण।

न्या० वा० ता०, पृ० ६५५।

७. ऊपर, परि० ४ अनु० २।

८. 'हारा' (कश्चिद् हारा इति) मालावाची स्त्रीलिङ्ग शब्द है। देखिये, काशिका, ३.३.१०४।

९. यदनियतं न तत्परमार्थसत् यथा रज्ज्वारोपितं सर्पत्वम्, तामेव हि रज्जुं तदैव कश्चित् सर्प इति कल्पयति कश्चिद्धारेति। स एव कदाचित् सर्प इति कल्पयित्वा पश्चाद्धारेति कल्पयति, तथा च प्रमाण-प्रमेयभावस्तस्मान्न परमार्थसत् इति। न्या० वा० ता०, पृ० ३६४।

यज्ञदत्त दोनों को एक सी प्रतीत होनी चाहिये तथा देवदत्त को भी सदा एक सी ही। प्रमाणों में यह बात नहीं देखी जाती। 'नेत्र' इत्यादि जब ज्ञान का साधन होते हैं तो वे प्रमाण कहलाते हैं किन्तु जब स्वयं उनका ही ज्ञान किया जाता है तो वे प्रमेय हो जाते हैं। अतः उन्हें वस्तुतः न प्रमाण कह सकते हैं न प्रमेय। इस प्रकार प्रमाणता और प्रमेयता का नियत रूप नहीं। फिर प्रमाण-प्रमेय-भाव परमार्थसत् कैसे हो सकता है? इसलिए प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कल्पित है, वस्तुसत् नहीं।

इस प्रकार विज्ञानवादी तथा शून्यवादी के मत में प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार कल्पित है। इसकी परमार्थतः सत्ता नहीं केवल लोकयात्रा के निर्वाह के लिये प्रमाणप्रमेयभाव स्वीकार किया जाता है और इसी दृष्टि से प्रमाणों का विवेचन किया गया है।

३—प्रमाण-स्वरूप

वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में वैभाषिक, सौत्रान्तिक तथा धर्मकीर्ति के प्रमाण-स्वरूप का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में प्रमाण के लक्षण पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—

केचिदाहुरनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति। विषयसारूप्यं साकारस्य विज्ञानस्येत्यन्ये। विज्ञानस्यैवानाकारस्यात्मानात्मप्रकाशनसामर्थ्यमित्यपरे। उपलब्धिसाधनमिति वृद्धाः।
न्या० वा० ता०, पृ० २०।

"अर्थात् कुछ कहते हैं कि अज्ञात अर्थ का ज्ञापक प्रमाण कहलाता है। दूसरों का कथन है कि साकार विज्ञान का जो विषय के साथ सारूप्य है, वही प्रमाण है। अन्य कहते हैं कि निराकार विज्ञान का जो अपने स्वरूप (आत्मा) तथा अर्थ (अनात्म) को भासित करने का सामर्थ्य है, वही प्रमाण है। अनुभवी जनों (वृद्धों) का मत है कि ज्ञान का साधन हा प्रमाण है।"

यहाँ अज्ञात अर्थ का ज्ञापक प्रमाण है—यह मीमांसक का मत माना जाता है। यद्यपि धर्मकीर्ति के अनुसार भी अनधिगत (अज्ञात) पद की सार्थकता है।[१०] किन्तु उदयनाचार्य ने इसे मीमांसक का लक्षण ही बतलाया है।[११] द्वितीय मत सौत्रान्तिक का माना जाता है।[१२] तृतीय मत वैभाषिक आदि का है।[१३] चतुर्थ मत स्पष्टतः ही न्याय-वैशेषिक का है, जिसे वाचस्पति मिश्र ने वृद्धों (अनुभवशीलों) का कथन बतलाया है।

(१) **वैभाषिक का प्रमाण-लक्षण**—उपर्युक्त कथन के आधार पर वैभाषिक के अनुसार प्रमाण का लक्षण है—'निराकार विज्ञान में जो निजस्वरूप के साथ अन्य अर्थात् अर्थ को भासित करने का सामर्थ्य है, वही प्रमाण है।'

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वैभाषिक के मतानुसार (१) विज्ञान निराकार है। (२) वह निजस्वरूप को भासित करता हुआ वस्तु को प्रकट करता है। (३) निराकार विज्ञान का आत्मसंवेदन सहित अर्थ-प्रकाशन ही प्रमाण कहलाता है। इस कार्य-विशेष को करने के कारण विज्ञान की ही प्रमाण संज्ञा हो जाती है।

---

१०. मि०, अतएव अनधिगतविषयं प्रमाणम्। न्यायबिन्दुटीका, पृ० ४ पं० १३।
११. परिशुद्धि, पृ० १५२।
१२. इति सौत्रान्तिकाः। वही, पृ० १५४।
१३. इति निराकारवादिनो वैभाषिकादयः। वही, पृ० १५५।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है,[१४] वैभाषिक बाह्य अर्थ की सत्ता को स्वीकार करता है। उसके मतानुसार बाह्यार्थ क्षणिक है और विज्ञान भी क्षणिक है तथा विज्ञान निराकार है। जब क्षणिक विज्ञान का बाह्यार्थ के क्षण के साथ सामञ्जस्य (Co-ordination) हो जाता है तो वह निराकार विज्ञान अपने स्वरूप सहित बाह्य अर्थ को प्रकट करता है। विज्ञान का यह बाह्यार्थ को प्रकट करने का सामर्थ्य ही प्रमाण कहलाता है।[१५] वैभाषिक की विषय-ग्रहण-प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।[१६]

(२) **सौत्रान्तिक का प्रमाण-लक्षण**—साकार विज्ञान का जो विषय के साथ सारूप्य है वही प्रमाण है। यह सौत्रान्तिक का मन्तव्य है। सौत्रान्तिक का अभिप्राय यह है कि अर्थ की प्रतीति कराना ही प्रमाण का फल है; जो इस अर्थ-प्रतीति का व्यवस्थापक है, वही प्रमाण है। इन्द्रियाँ तो ज्ञान की व्यवस्थापक हैं नहीं, क्योंकि नेत्र से उत्पन्न होने के कारण ही नील-पीत-ज्ञान की व्यवस्था नहीं बनती अपितु ज्ञान की नीलाकारता या पीताकारता के कारण 'यह नील का ज्ञान है', अथवा 'यह पीत का ज्ञान है' यह व्यवस्था होती है। इसलिए अर्थ की विषयाकारता (सारूप्य) ही ज्ञानों की व्यवस्थापक है। वह ज्ञान नीलाकार है इसीलिए नील की प्रतीति का व्यवस्थापक है। यह बात अवश्य है कि हमारे ज्ञान में इस आकार को उत्पन्न करने वाली बाह्य वस्तु ही है। इस प्रकार साकार विज्ञानक्षण तथा विषयक्षण का सारूप्य ही प्रमाण है।

उदयनाचार्य ने न्यायतात्पर्यटीका की 'विषयसारूप्यं साकारस्य विज्ञानस्येत्यन्ये' इस उक्ति की व्याख्या धर्मकीर्ति के समान शब्दों में की है।[१७] वहाँ न्यायबिन्दु की यह उक्ति भी प्रस्तुत की गई है—

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तद्वशेनार्थप्रतीतिसिद्धेः।[१८]

वाचस्पति मिश्र ने इस स्थल पर दिग्नाग या धर्मकीर्ति के मत का पृथक् निर्देश नहीं किया। किन्तु न्यायकणिका में नामोल्लेख-पूर्वक धर्मकीर्ति का प्रमाण-लक्षण उद्धृत किया है।

(३) **धर्मकीर्ति का प्रमाण-लक्षण**—न्यायकणिका में धर्मकीर्ति का प्रमाण-लक्षण इस प्रकार उद्धृत किया गया है—प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्। (पृ० १९३ पं० ६); अर्थात् अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। 'अविसंवादी' शब्द का क्या अर्थ है यह भी न्यायकणिका में स्पष्ट कर दिया गया है—अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम् (पृ० १९३ पं० ६); अर्थात् अविसंवादन का अर्थ है—यथोपदर्शित अर्थक्रिया की योग्यता।[१९] न्यायकणिका में ही अन्य स्थल पर 'अविसंवादन' को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है—

उपदर्शितार्थप्रापणसामर्थ्यमेव प्रापकत्वम् अविसंवादकत्वम्।

न्यायकणिका, पृ० १९३ पं० १६।

---

१४. ऊपर, परि० ३ अनु० १।

१५. मि०, भारतीयदर्शनशास्त्र, पृ० ४८ तथा CCB., p. 45.

१६. आगे, परि० ६, अनु० २।

१७. देखिये, न्यायबिन्दु, पृ० १८-१९।

१८. परिशुद्धि, पृ० १५२, १५४ इससे यह भी विदित होता है कि उदयनाचार्य धर्मकीर्ति को सौत्रान्तिक मानते थे।

१९. स्थितिः=प्रमाणयोग्यता। प्र० वा० १.३।

"अर्थात् उपदर्शित अर्थ को प्राप्त कराने का सामर्थ्य ही प्रापकत्व है वही अविसंवादकत्व कहलाता है ।"

धर्मकीर्ति के मतानुसार वह ज्ञान प्रमाण है जो अपने द्वारा उपदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखता है; अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु का बोध कराया जाता है यदि वह उसी रूप में प्राप्त हो जाती है तो वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है। प्रमाण की प्रापकता यही है कि वह प्रदर्शित अर्थ में प्रवृत्ति करा देता है अथवा कहिये कि जिस वस्तु में प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति का विषय कहलाता है और उसका बोध कराने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।[२०]

प्रमाण का यह लक्षण धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक[२१] से उद्धृत किया गया है।न्यायबिन्दुटीका में भी इस प्रकार का विवेचन उपलब्ध होता है।[२२]

४. प्रमाण-भेद निरूपण

(क) **प्रमाण के दो भेदः**—ज्ञान के साधन प्रमाण हैं। ये प्रमाण कितने प्रकार के हैं, इस विषय में भारतीय दर्शनों के विविध मत हैं। संक्षेप में लोकायतिक या चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य-योग प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। न्याय उपमान को जोड़कर चार प्रमाण मानता है और प्रभाकर (मीमांसक) अर्थापत्ति सहित पांच। कुमारिल भट्ट अनुपलब्धि (अभाव) को पृथक् प्रमाण मानते हुए ६ प्रमाण स्वीकार करते है[२३]।

वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में बौद्ध दर्शन के प्रमाण-प्रकार पर प्रकाश डाला है। बौद्ध दर्शन को दो ही प्रमाण अभिमत हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। "इन से भिन्न कोई प्रमाण नहीं जो (ज्ञान) प्रमाण है उसका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है, जिस ज्ञान का इनमें अन्तर्भाव नहीं होता वह प्रमाण ही नहीं।[२४]"

यहाँ दिग्नाग सम्प्रदाय के अनुसार प्रमाणों का विवेचन किया गया है। जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है[२५], दिग्नाग सम्प्रदाय के अनुसार दो ही प्रमेय हैं—(१) विशेष या स्वलक्षण तथा (२) सामान्यलक्षण। इनमें से जो स्वलक्षण है वह प्रत्यक्ष का विषय है तथा सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है।[२६] बौद्ध दर्शन की युक्ति है— क्योंकि दो प्रकार का ही प्रमेय है, इनसे भिन्न कोई प्रमेय नहीं है अतः प्रमाण भी दो प्रकार का ही हो सकता है, इससे कम या अधिक नहीं—'न सामान्यविशेषाभ्यामन्यदस्ति प्रमेयान्तरम्।' न्या० वा० ता०, पृ० १८।

---

२०. मि०, प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव। न्यायबिन्दुटीका, पृ० ४।

२१. प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्; अर्थ क्रियास्थितिः।
अविसंवादनम्..............॥ प्र० वा०, १.३।

२२. देखिये, न्यायबिन्दुटीका, पृ० ४ पं० ६।

२३. मि०, (मो०) तर्कभाषा, पृ० ३, ४।

२४. न चाभ्यामन्यत् प्रमाणमस्ति प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात्। अनन्तर्भावे वा प्रमाणत्वानुपपत्तेः। न्या० वा० ता०, पृ० १८।

२५. ऊपर, परि० २ अनु० ४।

२६. विशेषविषयं प्रत्यक्षं सामान्यविषयम् अनुमानमिति। न्या० वा०, पृ० ४।

वाचस्पति मिश्र का यह विवेचन धर्मकीर्ति के आधार पर है। धर्मकीर्ति ने इसी प्रकार न्यायबिन्दु में प्रमाणों का विभाजन किया है।[२७] प्रमाण-वार्त्तिक में भी इसी प्रकार की भाषा एवं युक्तियों द्वारा प्रमाणों की दो संख्या (द्वित्व) का समर्थन किया है।[२८]

५. उपमान प्रमाण का खण्डन

न्यायदर्शन का मत है कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न उपमान नाम का एक प्रमाण है। कोई व्यक्ति, जिसने नीलगाय नहीं देखी, जंगल में जाता है और किसी जंगल में रहने वाले व्यक्ति से सुनता है कि गाय जैसी ही नीलगाय होती है (यथा गौस्तथा गवय:)। फिर वह जंगल में गाय जैसे पशु को देखकर यह जान लेता है कि 'इस पशु को नीलगाय कहते हैं' या 'इस प्रकार का पशु नीलगाय कहलाता है।' इस प्रकार न्याय के अनुसार संज्ञा ('नीलगाय' शब्द) और संज्ञी (जंगल में देखा गया पशु-विशेष) के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमिति है—उपमान प्रमाण द्वारा किया गया ज्ञान है।[२९]

बौद्ध दर्शन उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानता। दिग्नाग ने न्याय द्वारा प्रतिपादित उपमान के स्वरूप का खण्डन किया था। इसी प्रकार धर्मकीर्ति ने भी। दिग्नाग के मत को दिखलाते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

तदीदृशमुपमानफलमविद्वान् सादृश्यज्ञानं सादृश्यविशिष्टज्ञानं वोपमानफलमिति भ्रान्तो भदन्तो दिग्नाग आक्षिपति। न्या० वा० ता०, पृ० २००।

"अर्थात् इस प्रकार के (संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानरूप) उपमान प्रमाण के फल को न समझने वाला भदन्त दिग्नाग सादृश्यज्ञान (गौ और गवय की समानता की प्रतीति) अथवा सादृश्यविशिष्ट वस्तु का ज्ञान (गौ के समान यह पशु है) ही उपमान का फल है—इस प्रकार की भ्रान्ति में पड़कर आक्षेप करता है।"

न्यायवार्त्तिक तथा न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका से विदित होता है कि दिग्नाग ने समझा था कि सादृश्यप्रतीति ही उपमान का फल है और वह सादृश्यप्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से या वाक्य द्वारा ही हो सकती है अतः उपमान पृथक् प्रमाण नहीं।[३०] दिग्नाग के मत का उपसंहार करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

तस्मान्न सादृश्यप्रतीतिफलमुपमानं प्रत्यक्षाद् वाक्याद्वा व्यतिरिच्यते इति सूक्तम्।
न्या० वा० ता०, पृ० २०१।

"इसलिए जिसका फल सादृश्य की प्रतीति करना है ऐसा उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष या वाक्य (आगम) से भिन्न नहीं; यही कहना उपयुक्त है।"

यहाँ यह कहा जा सकता है कि वात्स्यायन भाष्य में प्रतिपादित उपमान के स्वरूप को देखकर दिग्नाग का उपर्युक्त आक्षेप संगत नहीं प्रतीत होता।

रेन्डिल का मत है कि जिसका दिग्नाग ने खण्डन किया है वह अवश्य ही सूत्रकार का सिद्धान्त रहा होगा। न्यायसम्प्रदाय ने कालान्तर में उसकी ऐसी व्याख्या कर दी जो अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होने लगी।[३१]

---

२७. द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्। प्रत्यक्षमनुमानञ्च। न्यायबिन्दुटीका, पृ० ७-८।
२८. मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्। प्र० वा० २.१।
२९. समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः। न्यायसूत्र, वा० भाष्य, १.१.६।
३०. प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपमानं भिद्यते। न्या० वा०, पृ० ५८।
३१. देखिये. रेन्डिल; FFD., *p*.

वस्तुत : ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग के जिस कथन की ओर संकेत किया है उसमें पूर्वमीमांसा के उपमान स्वरूप का खण्डन किया गया है। किन्तु फिर भी यह विचारणीय ही है कि दिग्नाग ने वात्स्यायन के उपमान स्वरूप की ओर क्यों नहीं ध्यान दिया।

६, शब्द प्रमाण का खण्डन

न्याय आदि शब्द या आगम को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। दिग्नाग ने इस शब्द प्रमाण का बलपूर्वक खण्डन किया है। दिग्नाग के मत को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

अत्र शब्दं प्रमाणान्तरम् असहमानो दिग्नागस्तल्लक्षणं विकल्प्य आक्षिपति आप्तोपदेश इति। न्या० वा० ता०, पृ० २०४।

"अर्थात् शब्द को पृथक् प्रमाण न मानने वाला दिग्नाग शब्द के लक्षण में विकल्प करके आक्षेप करता है आप्तोपदेश इत्यादि द्वारा।"

उद्योतकर के अनुसार दिग्नाग ने शब्द प्रमाण के न्यायोक्त लक्षण का विरोध करते हुए दो विकल्प प्रस्तुत किये हैं—एक तो यह कि आप्तों का उपदेश शब्द है। (आप्तोपदेशः शब्दः) इसका अर्थ यह हो सकता है कि आप्त पुरुष यथार्थवक्ता होते हैं अतः वे जो कहते हैं उससे उसी वस्तु की प्राप्ति होती है। दूसरा यह कि शब्द से जो वस्तु बतलाई जाती है वही वस्तु प्राप्त होती है (अर्थस्य तथाभावः), अतः शब्द प्रमाण है। इनमें में यदि पहिला अर्थ अभीष्ट है तो वह अनुमान का ही विषय है। यदि दूसरा अर्थ अभिमत है तो वह प्रत्यक्ष का विषय है। इस प्रकार शब्दप्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान से पृथक् नहीं सिद्ध होता।[३२]

दिग्नाग के मतानुसार शब्द प्रमाण का अनुमान में कैसे अन्तर्भाव हो जाता है यह दिखलाते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

यन्निर्दोषसत्वीयं वचनं तत्सर्वमर्थवत्, यथा बुद्धस्य क्षणिकनैरात्म्यादिविषय उपदेशः तथा चायं विवादाध्यासित उपदेश इति। यथोक्तं भदन्तेन-आप्तवाक्याविसंवादसामान्यादनुमानता, इति।[३३] न्या० वा० ता०, पृ० २०५।

अनुमान का प्रकार यह है :—'जो निर्दोष व्यक्ति (सत्व) का वचन होता है वह यथार्थ होता है जैसे बुद्ध का क्षणिक नैरात्म्य आदि का उपदेश है। इसी प्रकार यह विवाद का विषय उपदेश भी है। (अतः यह भी यथार्थ है) भदन्त (दिग्नाग) ने कहा भी है। आप्त वचनों की यथार्थता में समानता के कारण शब्दप्रमाण अनुमान ही है।"

भाव यह है कि जिस प्रकार वैशेषिक दर्शन शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत मानता है पृथक् प्रमाण नहीं मानता, इसी प्रकार बौद्धदर्शन भी शब्द प्रमाण को अनुमान के ही अन्तर्गत मानता है। इसके मतानुसार निर्दोष व्यक्तियों के वचन प्रमाण तो हैं, किन्तु उनकी प्रामाणिकता अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होती है। शाब्द-ज्ञान के अनुसार अर्थ की

---

३२. मि०, न्या० वा०, पृ० ६०।

३३. विद्याभूषण ने इस उक्ति को प्रमाण-समुच्चय के द्वितीय परिच्छेद की उक्ति निर्धारित किया है किन्तु यह उक्ति इसी रूप में प्रमाणवार्त्तिक (३. २१३) में भी विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाणसमुच्चय के कुछ अंश प्रमाणवार्त्तिक में अविकल रूप में लिये गये हैं।

प्राप्ति कराने के कारण आप्तवाक्य की प्रामाणिकता जानी जाती है। इसी से बौद्धदर्शन में तथागत के वचनों को प्रमाण माना गया है।

७. प्रमाणों का विषय

प्रमाणों का विषय क्या है? इस सम्बन्ध में बौद्धदर्शन में कुछ नवीन उद्भावना की गई है। बौद्धदर्शन का मन्तव्य है कि प्रमाण ग्रहण करने योग्य (उपादेय) अथवा त्यागने योग्य (हेय) पदार्थ को प्रदर्शित करते हैं। इससे मनुष्य की उस अर्थ में प्रवृत्ति होती है—वह उपादेय अर्थ को प्राप्त करने के लिये तथा हेय अर्थ को त्यागने के लिये प्रयत्न करता है। ये प्रमाण किसी अर्थ में प्रवृत्ति कराते हैं, यही इनकी प्रापकता है। जैसा कि न्यायकणिका में बतलाया गया है—

प्रवृत्तिविषयोपदर्शनं हि प्रवर्तकत्वं प्रापकत्व च प्रमाणानाम्। न्यायकणिका, पृ० २५७, पं० ७।

बौद्धदर्शन के अनुसार उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तथा हेय (त्यागने योग्य) दो प्रकार के ही अर्थ हैं[३४]। उपेक्षणीय अर्थ को बौद्धदर्शन पृथक् नहीं मानता अपितु उसका 'हेय' अर्थ में ही समावेश कर देता है। बौद्धों के इस मन्तव्य का खण्डन सा करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में उपेक्षणीय अर्थ की पृथक् सिद्धि का समारम्भ किया है, किन्तु वहाँ बौद्ध का नाम-निर्देश नहीं किया।[३५] प्रमाण उपादेय या हेय अर्थ का प्रदर्शक है इसी से वह प्रापक भी कहलाता है।

धर्मोत्तर के अनुसार प्रमाणों का विषय दो प्रकार का है—(१) ग्राह्य और अध्यवसेय। जिसके आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह ग्राह्य विषय है और जो पदार्थ प्रापणीय है—प्राप्त करने योग्य है वही अध्यवसेय विषय है। ये दोनों (ग्राह्य तथा अध्यवसेय विषय) नितान्त पृथक् है। धर्मोत्तर के इस मन्तव्य को वाचस्पति मिश्र ने संक्षेप में इस प्रकार दिखलाया है—

"प्रमाणों का दो प्रकार का विषय है—ग्राह्य और अध्यवसेय; जैसे प्रत्यक्ष का ग्राह्य एक क्षण (स्वलक्षण) है और अध्यवसेय प्रवृत्ति का विषय सन्तान है। उसी प्रकार अनुमान विकल्प का भी ग्राह्य विषय सामान्य (सामान्यलक्षण) है जो अन्यव्यावृत्तिरूप है, अध्यवसेय तो प्रवृत्ति का विषय है जो अर्थक्रिया में समर्थ है।"[३६] प्रत्यक्ष[३७] और अनुमान[३८] के इन दोनों प्रकार के विषयों का विस्तृत विवेचन यथावसर किया जायेगा।

---

३४. न हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति। न्यायबिन्दुटीका, पृ० ६।

३५. देखिये, न्या० वा० ता०, पृ० १०३ पं० २२।

३६. द्विविधो हि विषयः प्रमाणानां ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तद्यथा प्रत्यक्षस्य ग्राह्यः क्षणः एकोऽध्यवसेयश्च प्रवृत्तिविषयः सन्तानः ......। तथाऽनुमानविकल्पस्यापि ग्राह्य सामान्यमन्यव्यावृत्तिरूपम, अध्यवसेयस्तु प्रवृत्तिविषयोऽर्थक्षमः। न्यायकणिका, पृ० २५७।

३७. आगे, परि० ६ अनु० २।

३८. आगे, परि० ७ अनु० ५।

वाचस्पति मिश्र का यह विवेचन धर्मोत्तराचार्य की न्यायबिन्दुटीका से अधिकांश में मिलता है।[३९]

इससे विदित होता है कि दिग्नाग सम्प्रदाय में प्रमाणों का दो प्रकार का विषय माना गया था—ग्राह्य और अध्यवसेय। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों का ही यह दो प्रकार का विषय होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष का ग्राह्य स्वलक्षण है उसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य सामान्यलक्षण है। प्रत्यक्ष का अध्यवसेय क्षणसन्तान है तथा अनुमान का अध्यवसेय है—अर्थक्रियासमर्थ स्वलक्षण। किन्तु बौद्ध न्याय के अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थसत् है। अतः उसके ग्रहण की दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु का साक्षात् ग्राहक है और अनुमान प्रमाण वस्तु का परम्परया ग्राहक है। सम्भवतः इसीलिये श्चेरबात्स्की ने प्रत्यक्ष को direct या sensation कहा है और अनुमान को Indirect या conception कहा है।[४०]

यहाँ बौद्धदर्शन में वस्तु का ग्रहण बाह्यार्थवादी नैयायिक आदि के समान नहीं होता, वरन् प्रतीत्यसमुत्पाद के साधारण नियम के अनुसार होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तु स्वरूप पर साक्षात्रूप से आश्रित होता है, अनुमान नहीं। इसी भेद को प्रकट करने के लिये स्वलक्षण को प्रत्यक्ष का 'ग्राह्य' कहा जाता है और अनुमान का 'अध्यवसेय'।[४१]

८. प्रमाण-व्यवस्था

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध दर्शन के अनुसार दो प्रकार का विषय है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है तथा सामान्यलक्षण का ग्रहण अनुमान द्वारा ही होता है। अनुमान से कभी भी स्वलक्षण का ग्रहण नहीं होता तथा प्रत्यक्ष से सामान्यलक्षण का ग्रहण नहीं होता। इसी व्यवस्था को दार्शनिक भाषा में प्रमाण-व्यवस्था के नाम से पुकारा जाता है। बौद्धदर्शन प्रमाण-व्यवस्था को मानता है। इसके विरुद्ध न्यायवैशेषिक प्रमाणसंप्लव को स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में प्रमाणसंप्लव और प्रमाणव्यवस्था को लेकर प्राचीन समय से ही विवाद रहा है। वात्स्यायन भाष्य से पूर्वकाल में ही यह विवाद प्रचलित हो चुका था। न्यायभाष्यकार ने प्रमाणसंप्लव तथा प्रमाण-व्यवस्था इन दोनों पक्षों की संभावना करते हुए[४२] विषय-भेद से दोनों को स्वीकार किया है। न्यायभाष्य का कथन है—"दोनों प्रकार (प्रमाणों का संप्लव तथा व्यवस्था) देखे जाते हैं, जैसे 'आत्मा है', यह आत्मोपदेश से प्रतीत होता है। इस विषय में अनुमान भी है; क्योंकि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुःख-दुःख और ज्ञान आत्मा के ज्ञापक

---

३९. द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयो ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते। प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति। अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः। प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः। अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सन्तान एव। सन्तान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः। क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात्। तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि। स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतस्ततः स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य। अनर्थस्तु ग्राह्यः। न्यायबिन्दुटीका; पृ० १६।

४०. BL. Vol. I, p. 71, L. 12.

४१. BL. Vol. I, p. 71. L. 17.

४२. किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते अथ प्रतिप्रमेयं व्यवतिष्ठन्ते इति।

न्यायभाष्य, १.१.३।

(लिङ्ग) हैं। योगी को योगज प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा और मन के संयोग-विशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है। इसी प्रकार 'यहाँ अग्नि है' इस आप्तवाक्य से अग्नि का ज्ञान होता है, समीप जाता हुआ व्यक्ति धूम को देखकर उसी अग्नि का अनुमान करता है और निकट आकर प्रत्यक्ष से अग्नि को देखता है।' (इन उदाहरणों में प्रमाणों का संप्लव दिखाई देता है)। किन्हीं २ दृष्टान्तों में प्रमाणों की व्यवस्था भी देखी जाती है; जैसे स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे। यहाँ लौकिक मनुष्य को स्वर्ग का न तो प्रत्यक्ष ही होता है न अनुभव ही। इसी प्रकार जहाँ मेघगर्जन को सुनने मात्र से ही शब्द के हेतु का अनुमान किया जाता है, वहाँ न प्रत्यक्ष ही होता है न आगम ही। जो वस्तु प्रत्यक्षरूप से हाथ पर रक्खी दिखाई देती है उसमें न अनुमान किया जाता है न शब्द प्रमाण की आवश्यकता होती है।"[४३]

न्यायभाष्य में प्रमाण-संप्लव तथा प्रमाण-व्यवस्था दोनों को विषय-भेद अथवा कालभेद से स्वीकार किया गया है; क्योंकि दोनों ही लोक-प्रसिद्ध हैं। वहाँ प्रमाण-संप्लव तथा प्रमाण-व्यवस्था का स्वरूप भी अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु स्पष्टरूप में दिखलाया गया है। प्रमाण-संप्लव का अर्थ है—किसी प्रमेय अर्थ का कई प्रमाणों द्वारा ग्रहण होना [प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवो (सङ्करो) ऽभिसंप्लवः, न्यायभाष्य, १.१.३]। प्रमाण-व्यवस्था का अर्थ है—प्रमेय अर्थ में अनेक प्रमाणों का न जा सकना (असम्भवो व्यवस्था, न्यायभाष्य, १.१.३)।

दिग्नाग ने प्रमाण-व्यवस्था को ही स्वीकार करते हुए प्रमाण-संप्लव का विरोध किया था।[४४] उद्योतकराचार्य ने न्यायवार्तिक में दिग्नाग के मत को प्रस्तुत करते हुए दिखलाया है—"प्रमाण-संप्लव सम्भव नहीं, क्योंकि प्रमाण विशिष्ट विषय वाले हैं। प्रत्यक्ष विशेष-(स्वलक्षण) विषयक होता है और अनुमान सामान्य-विषयक होता है। जो सामान्य (सामान्यलक्षण) तथा विशेष (स्वलक्षण) है वही ज्ञेय या प्रमेय (अधिगन्तव्य) है और प्रत्यक्ष सामान्य-विषयक नहीं होता तथा अनुमान द्वारा विशेष (स्वलक्षणों) का ग्रहण नहीं होता।"[४५]

इसको स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने दिखलाया है कि बौद्धदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण स्वलक्षण का ही ग्रहण करता है सामान्यलक्षण का नहीं—

"अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष अर्थ-विषयक (ही) होता है और वही अर्थ प्रत्यक्ष का विषय है जिसके होने से ज्ञान तदाकार[४६] होता है (अन्वय) तथा न होने से नहीं होता (व्यतिरेक) किन्तु सामान्य तो समस्त अर्थक्रिया के सामर्थ्य से रहित है, वह

---

४३. न्यायभाष्य, १.१.३।

४४. यद्यपि उद्योतकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र ने भी प्रमाण-संप्लव का विरोध करने वाले का नाम-निर्देश नहीं किया तथापि उनके विवरण से यह प्रतीत होता है कि यह दिग्नाग का मत उद्धृत किया गया है। श्चेरबात्स्की ने भी प्रमाण-व्यवस्था को दिग्नाग के मन्तव्य के रूप में निरूपित किया है। मि०, BL. Vol. II, pp. 301-302.

४५. संप्लवानुपपत्तिर्विशिष्टविषयत्वात्। न्या०वा०, पृ० ४।

४६. ज्ञानप्रतिभासम् इति ज्ञानाकारम्। वर्धमानाचार्य, न्यायनिबन्धप्रकाश, पृ० १४०।

ऐसा नहीं हो सकता। स्वलक्षण ही इस प्रकार का हो सकता है वही वस्तुतः सत् है।... इसलिये प्रत्यक्ष स्वलक्षण-विषयक होता है[४७]।"

जो वस्तु अर्थक्रिया में समर्थ है उसका ही प्रत्यक्ष से भास हो सकता है और दिग्नाग के अनुसार ऐसी वस्तु स्वलक्षण ही है अतः स्वलक्षण का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है। सामान्यलक्षण तो मिथ्या है, विकल्पजन्य है उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण संभव ही नहीं।

अनुमान प्रमाण केवल सामान्यलक्षण का ही ग्रहण कर सकता है स्वलक्षण का नहीं, इस बात को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

न च स्वलक्षणमनुमानस्यापि गोचरः। तद्धि गृहीतप्रतिबन्धलिङ्गहेतुकं, प्रतिबन्धश्च तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणः स्वलक्षणविषयोऽशक्यग्रह इति सामान्यधर्मावाश्रयते। न्या० वा० ता०, पृ० १८।

"अर्थात् यह स्वलक्षण अनुमान का भी विषय नहीं हो सकता, वह (अनुमान) तो उस लिङ्गहेतुक होता है जिसमें प्रतिबन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण किया जाता है[४८] और प्रतिबन्ध (व्याप्तिः) तादात्म्यनिमित्तक या तदुत्पत्तिनिमित्तक होता है[४९]। स्वलक्षणविषयक प्रतिबन्ध का ग्रहण किया नहीं जा सकता। इसलिये वह (प्रतिबन्ध) सामान्यधर्म (तादात्म्य और तदुत्पत्ति) का ही आश्रय लेता है।"

दिग्नाग सम्प्रदाय के अनुसार प्रतिबन्ध या व्याप्ति का ग्रहण सामान्य धर्मों में होता है अतः अनुमान का विषय सामान्यलक्षण ही है। स्वलक्षण जो अन्तिम विशेष धर्म है उसके साथ प्रतिबन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण हो ही नहीं सकता अतः वह अनुमान का विषय नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बौद्धदर्शन के अनुसार स्वलक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण का ही ग्राह्य है, स्वलक्षण का कभी भी अनुमान से ग्रहण नहीं हो सकता। इसी प्रकार सामान्यलक्षण अनुमान का ग्राह्य है, उसका कभी भी प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। किन्तु जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है प्रत्यक्ष का अध्यवसेय विषय क्षण-सन्तान होता है तथा अनुमान का अध्यवसेय विषय स्वलक्षण होता ही है। ग्राह्य विषय की दृष्टि से ही यह प्रमाण व्यवस्था है। धर्मोत्तराचार्य ने कहा भी है—'**तदत्र ग्राह्यं विषयं दर्शयता प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषय उक्तः**[५०]'। यहाँ ये दो ही प्रमेय हैं और ये दो ही प्रमाण हैं। इन प्रमाणों के विषय व्यवस्थित हैं एक के क्षेत्र में दूसरा जा नहीं सकता। यही प्रमाण-व्यवस्था है। ऐसा कोई अन्य प्रमेय भी नहीं है जहाँ प्रमाणों का संप्लव हो सके।

तदस्य न स्वलक्षणं गोचरः। प्रत्यक्षमपि न सामान्यगोचरमित्यावेदितम्। न चाभ्यामन्यत्प्रमाणमस्ति...न सामान्यविशेषाभ्यामन्यदस्ति प्रमेयान्तरं यत्रैते तत्संप्लोष्येते इत्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० १८।

"इस (अनुमान) का स्वलक्षण विषय नहीं। प्रत्यक्ष भी सामान्य-विषयक नहीं होता यह कहा जा चुका है और इन दोनों (प्रत्यक्ष तथा अनुमान) से भिन्न प्रमाण नहीं है......

४७. अर्थसामर्थ्यसमुत्थं हि प्रत्यक्षमर्थगोचरम्। स एव चार्थः प्रत्यक्षगोचरो यो ज्ञानप्रतिभासमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकौ अनुकारयति। न च सामान्यं निरस्तसमस्तार्थक्रियासामर्थ्यमेवं भवितुमर्हति। स्वलक्षणं तु स्यात् तदेव परमार्थसत्...तस्मात् स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्। न्या० वा० ता०, पृ० १७।

४८. गृहीतः प्रतिबन्धो येन तद् गृहीतप्रतिबन्धं लिङ्गं तद् हेतुः यस्य तथाभूतम् अनुमानम्।

४९. तादात्म्यं लक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः। तदुत्पत्तिलक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः। न्यायबिन्दुटीका, पृ० ५७।

५०. न्यायबिन्दुटीका, पृ० १६ पं० ८।

तथा सामान्य और स्वलक्षण (विशेष) से भिन्न प्रमेय नहीं है जहाँ ये दोनों (प्रत्यक्ष और अनुमान) उस विषय में साथ २ प्रवृत्त हो जायेंगे अर्थात् प्रमाण-संप्लव हो सकेगा ।"

६. प्रमाण और प्रमाणफल की एकता

न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा इत्यादि बाह्यार्थवादी दार्शनिक-सम्प्रदाय प्रमाण और प्रमाण-फल को पृथक् २ मानते हैं। उनके मतानुसार किसी ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति (प्रमाणफल) की भिन्न २ स्थिति होती है; जैसे कोई व्यक्ति वन में लकड़ी काटता है तो वह व्यक्ति छेत्ता (काटने वाला) है, वृक्ष छेद्य है, कुल्हाड़ी काटने का साधन है, उस कुल्हाड़े का प्रहार रूप व्यापार होता है और तब वृक्ष काटना (छिदा) रूप फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार ज्ञान का साधन प्रमाण (प्रमितिकरणम्) है और फल उससे बिल्कुल भिन्न है। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष ज्ञान का करण तीन प्रकार का माना गया है—(१) इन्द्रिय (२) इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष (३) ज्ञान।

(१) जब प्रमाता को 'यह कुछ है' इस प्रकार का निर्विकल्पक ज्ञान होता है तो इस ज्ञान का करण इन्द्रिय है, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार है; अर्थात् इन्द्रिय रूप करण का घट आदि अर्थ के साथ सन्निकर्ष (विशेष सम्बन्ध) होने पर ही निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ घट का निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण का फल (प्रमा) है।

(२) जब निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् नाम (घट) जाति (घटत्व) आदि से विशिष्ट 'यह घट है' इत्यादि सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है तो वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष का करण है, अतएव वही प्रमाण है। उसके पश्चात् होने वाला निर्विकल्पक ज्ञान (जो सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में कारण है) ही अवान्तरव्यापार है तथा 'यह घट है' इस प्रकार का सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है।

(३) जब सविकल्पक प्रत्यक्ष के पश्चात् इस प्रकार की बुद्धि होती है कि इस वस्तु का मुझे ग्रहण करना है (उपादानबुद्धि), इस वस्तु का त्याग करना है (हानबुद्धि) अथवा इस वस्तु की ओर से उदासीन रहना है (उपेक्षाबुद्धि); तो वहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही ज्ञान का करण होता है, सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है तथा हान-उपादान और उपेक्षाबुद्धि प्रमाण का फल माना जाता है[५१]। बौद्ध दर्शन में हान तथा उपादान दो प्रकार की बुद्धि ही मानी गई है। उसकी दृष्टि से दो प्रकार का ही अर्थ है—उपादेय तथा हेय, इसका ऊपर निरूपण किया गया है।[५२]

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक इत्यादि ने प्रमाण तथा प्रमाणफल में वास्तविक भेद दिखलाया है। किन्तु बौद्धदर्शन के अनुसार, प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कल्पित ही है, वास्तविक नहीं तथा प्रमाता या आत्मा नाम की कोई अलग वस्तु भी नहीं अतएव यहाँ प्रमाता आदि का वास्तविक भेद कैसे हो सकता है? यहाँ इन्द्रिय की साधनता और अर्थ की ग्राह्यता भी वास्तविक नहीं, अपितु अर्थ और इन्द्रियक्षण का क्षणिक समवधान या सहवर्तन (Co-ordination) मात्र ही होता है। उसके कारण ही प्रमाण और फल का व्यवहार हो जाता है। यह प्रमाण और फल का व्यवहार साधन-साध्य भाव के कारण नहीं होता अपितु व्यवस्थापक

५१. केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृ० ५, ६।
५२. ऊपर, परि० ५ अनु० ७।

और व्यवस्थाप्य भाव के कारण हुआ करता है। विज्ञान में अर्थ का सारूप्य ही नील आदि ज्ञान का व्यवस्थापक है और नील आदि ज्ञान व्यवस्थाप्य हैं। यह व्यवस्थापक तथा व्यवस्थाप्य भाव एक ही वस्तु (विज्ञान) में भी सम्भव है इसलिये प्रमाण तथा प्रमाणफल में कोई भेद नहीं।[५३] वाचस्पति मिश्र ने इस प्रमाण तथा फल के बौद्धाभिमत अभेद का न्यायकणिका तथा भामती में विस्तार से विवेचन किया है। भामती टीका में वे लिखते हैं -

यद्यप्यनुभवान्नान्योऽनुभाव्योऽनुभविताऽनुभवनं च, तथापि बुद्ध्यारूढेन बुद्धिपरिकल्पितेनान्तस्थ एवैष प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः प्रमातृव्यवहारश्चेत्यपि द्रष्टव्यम्, न पारमार्थिक इत्यर्थः......तथाहि —स्वरूपं विज्ञानस्यासत्याकारयुक्तं प्रमेयं, प्रमेयप्रकाशनं प्रमाणफलं, तत्प्रकाशनशक्तिः प्रमाणम्। भामती, पृ० ५४१-५४२।

इन पंक्तियों में विज्ञानवादी सम्प्रदाय के अनुसार प्रमाता, प्रमेय आदि की एक विज्ञानरूपता दिखलाई गई है। उसके अनुसार अनुभवरूप जो विज्ञान है जिसे प्रमाण कहा जा सकता है, अनुभाव्य अर्थात् प्रमेय, अनुभविता अर्थात् प्रमाता और अनुभवन अर्थात् प्रमिति उस विज्ञान से भिन्न नहीं है। इन सब की परमार्थतः एकता ही है। किन्तु बुद्धिकल्पित भेद मात्र है और उसी के आधार पर प्रमाता आदि व्यवहार हो जाता है। एक ही विज्ञान में इन नानारूपों का व्यवहार वैसे सम्भव है? विज्ञानवादी के मतानुसार विज्ञानमात्र ही परमार्थसत् है। उसी में मिथ्या अर्थ की कल्पना कर ली जाती है और मिथ्या अर्थ से युक्त यह विज्ञान ही प्रमेय रूप में भासित होता है। उस विज्ञान के द्वारा जो प्रमेय का भास होता है वही प्रमिति है—प्रमाण का फल है। उसका प्रमेय को प्रकट करने का सामर्थ्य ही प्रमाण नाम से व्यवहृत होता है। इस प्रकार एक विज्ञान में ही प्रमाता इत्यादि चारों रूप निष्पन्न हो जाते हैं। ये प्रमाता इत्यादि वस्तुतः परस्पर भिन्न भिन्न नहीं।

विज्ञानवादी के मत में ही नहीं, बाह्यार्थवादी वैभाषिक और सौत्रान्तिक के मतानुसार भी प्रमाण और प्रमाणफल का भेद वास्तविक नहीं कल्पित मात्र है, इसका निरूपण करते हुए वाचस्पति मिश्र विज्ञानवादी की ओर से युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—

"वैभाषिक और सौत्रान्त्रिक दोनों बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं तब भी प्रमाण और फल का विभाग तो बुद्धिपरिकल्पित ही होगा; क्योंकि यह नियम है कि करण का व्यापार तथा फल दोनों एक अधिकरण में ही हुआ करते हैं, जैसे कुल्हाड़े का प्रहार जिस खदिर आदि वृक्ष पर होता है उसी वृक्ष में छेदन रूप फल भी हुआ करता है। ऐसा नहीं होता कि परशु-प्रहार तो खदिर वृक्ष पर हुआ करे और पलाश वृक्ष का छेदन हो जाये। इस प्रकार प्रमाण तथा फल का एक अधिकरण में होना अनिवार्य है। यह तभी हो सकता है जबकि प्रमाण और फल दोनों ज्ञान में ही स्थित हों। और, यदि दोनों ज्ञानस्थ हैं तो उनमें भिन्नता नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान-स्वलक्षण या ज्ञान-क्षण में कोई अंश तो होते नहीं, (क्षण या स्वलक्षण तो देश-काल के विस्तार से शून्य परमार्थसत् वस्तु है)। इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान का एक अंश प्रमाण होगा और दूसरा अंश प्रमाण का फल होगा। फिर तो यही मानना पड़ेगा कि वही ज्ञान उस समय फल कहलाता है जब उसमें अज्ञान की व्यावृत्ति रूप ज्ञानत्व अंश की कल्पना कर ली जाती है। वह विज्ञान तब प्रमाण कहलाता है जब कि उसमें असामर्थ्य की व्यावृत्ति के

---

५३. न्यायबिन्दुटीका, पृ० १९।

रूप में स्व (ज्ञान) तथा स्वभिन्न वस्तु को भासित करने के सामर्थ्य-अंश की कल्पना कर ली जाती है। भेद केवल इतना ही रहता है कि वैभाषिक के मतानुसार प्रमेय बाह्य अर्थ है। प्रमाण तथा फल तो वही विज्ञान है अतः उसके अनुसार भी प्रमाण तथा फल में भेद नहीं।

इसी प्रकार सौत्रान्तिक के मत में भी प्रमाण और फल का वास्तविक भेद नहीं। उसके मतानुसार (साकार) ज्ञान में जो अर्थ का सारूप्य है वही प्रमाण है। नीलभिन्न आकार की व्यावृत्ति करके ज्ञान में नीलाकारता का आभास ही सारूप्य है (जिसका आकार है—यह नील है, नील भिन्न नहीं)। क्योंकि यह सारूप्य ही ज्ञान की नीलाकारता इत्यादि की व्यवस्था का हेतु है, इसलिये यह प्रमाण कहलाता है। यह ज्ञान का ही आकार है, ज्ञान से भिन्न नहीं। जो विज्ञान में ज्ञानभिन्न (अज्ञान) वस्तुओं की व्यावृत्ति के रूप में ज्ञानरूपता होती है वही फल है; क्योंकि उसकी ही व्यवस्था की जाती है वह व्यवस्थाप्य है। जैसा कि (दिग्नाग ने)[५४] कहा है—नहि वित्तिसत्ता इत्यादि अर्थात् केवलविज्ञान की विद्यमानता को ही किसी अर्थ का ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो सर्वत्र समान रूप से ही है, किन्तु बाह्य वस्तु (तत्) उस ज्ञान को (तां वित्तिम्) अपने रूप से युक्त करती हुई सारूप्य को प्राप्त कराती है[५५]?। इस प्रकार सौत्रान्तिक के मत में विज्ञान का अर्थसारूप्य ही प्रमाण है और उसमें अज्ञान की व्यावृत्ति रूप ज्ञानत्व ही फल है। ये दोनों विज्ञान रूप ही हैं अतएव प्रमाण तथा फल में कोई अन्तर नहीं।"

वाचस्पति मिश्र का प्रमाण तथा फल का अभेदनिरूपण धर्मोत्तराचार्यकृत न्यायाबिन्दुटीका[५६] से अत्यधिक मात्रा में समानता रखता है।[५७] इस विवेचन से स्पष्ट ही है कि बौद्धदर्शन के अनुसार प्रमाण तथा फल में भेद नहीं 'तदेव ज्ञानं प्रमाणं तदेव प्रमाणफलम्' (न्यायबिन्दुटीका, पृ० १९) श्चेरबात्स्की ने वसुबन्धु, दिग्नाग तथा जिनेन्द्रबुद्धि इत्यादि बौद्धाचार्यों के मतों को उदृधत करते हुए इस प्रमाण और फल

---

५४. श्चेरबात्स्की के अनुसार यह दिग्नाग की उक्ति है–BL. Vol. II; P. 359. यहाँ वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग की इस कारिका को सौत्रान्तिक के सिद्धान्त का विवेचन करने के लिए उद्धृत किया है।

५५. बाह्यवादिनोरपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः काल्पनिक एव प्रमाणफलव्यवहारोऽभिमत इत्याह—सत्यपि बाह्येऽर्थे इति (शांकरभाष्य)। भिन्नाधिकरणत्वे हि प्रमाणफलयोस्तद्भावो न स्यात्। न हि खदिरगोचरे परशौ पलाशे द्वैधीभावो भवति। तस्मादनयोरेकाधिकरण्यं वक्तव्यम्। कथं च तद् भवति। यदि ज्ञानस्थे एव प्रमाणफले भवतः। न च ज्ञानं स्वलक्षणम् अनंशम् अंशाभ्यां वस्तुसद्भ्यां युज्यते। तदेव ज्ञानम् अज्ञानव्यावृत्तिकल्पितज्ञानत्वांशं फलम्। अशक्तिव्यावृत्तिपरिकल्पितात्मानात्मप्रकाशनशक्त्यंशं प्रमाणम्। प्रमेयं त्वस्य बाह्यमेव। एवं सौत्रान्तिकसमयेऽपि ज्ञानस्यार्थसारूप्यमनीलाकारव्यावृत्या कल्पितनीलाकारत्वं प्रमाणं व्यवस्थापनहेतुत्वात्। अज्ञानव्यावृत्तिकल्पितं च ज्ञानत्वं फलं व्यवस्थाप्यत्वात्। तथा चाहुः—नहि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत् तद्घटयेद्-इति।

भामती, पृ० ५४२।

५६. देखिये, न्यायबिन्दुटीका, पृ० १९।

५७. यहाँ सौत्रान्तिक के मत को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने न्यायबिन्दुटीका का आश्रय लिया है इससे इस बात की झलक मिलती है कि वाचस्पति मिश्र धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर को सौत्रान्तिक मानते थे।

की एकता तथा 'सारूप्य' का विस्तार से विश्लेषण किया है[५८]। उन्होंने न्यायकणिका[५९] में निरूपित बौद्ध-सम्प्रदायों तथा मीमांसक इत्यादि के एतद्विषयक मतों का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है।[६०] भामती के उपर्युक्त अवतरण में प्रमाण तथा फल की अभिन्नता को बौद्ध ग्रन्थों के समान ही संक्षेप में किन्तु विशदरूप से प्रदर्शित किया गया है।

---

५८. BL. Vol. I, pp. 67-69.

५९. न्यायकणिका, पृ० २५४-२५९।

६०. BL. Vol. II, Appendix IV.

परिच्छेद-६

प्रत्यक्ष-प्रकरण

१. प्रत्यक्ष का लक्षण

प्रत्यक्ष क्या है ? इस विषय में सभी दर्शनों ने विविध मत प्रस्तुत किये हैं। बौद्ध दार्शनिकों के मतों में भी पारस्परिक भेद है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायाभिमत प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या करते हुए न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में कुछ बौद्ध दार्शनिकों के मतों का निर्देश किया है। न्यायकणिका में सर्वज्ञता की आलोचना करते हुए भी प्रत्यक्ष के विविध लक्षणों की परीक्षा की है। उन्होंने विशेष रूप से वसुबन्धु, दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षणों का निरूपण किया है।

(क) **वसुबन्धु का प्रत्यक्ष-लक्षण**--न्यायवार्तिक की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं--तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तावत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति --अपरे पुनरिति। न्या०वा ता०, पृ० १५० पं० ७। अपरे पुनः वर्णयन्ति--'ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्।' न्या० वा०, पृ० ४० पं० १६।

"(वार्त्तिककार) न्याय के प्रत्यक्ष--लक्षण का समर्थन करके समीक्षा करने के लिए वसुबन्धु के प्रत्यक्ष-लक्षण को प्रस्तुत करते हैं--'अपरे पुनः···प्रत्यक्षम् इत्यादि ग्रन्थ से।' दूसरे कहते हैं कि जिस अर्थ का जो ज्ञान होता है यदि उससे ही वह होता है अन्य अर्थ से नहीं तो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।"

वसुबन्धु के लक्षण की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं--

"यत् (जो) और तत् (वह, सो) का नित्य सम्बन्ध है (ये दोनों सदा साथ रहते हैं, इसलिये 'ततः' शब्द को देखकर 'यतः का अध्याहार कर लिया जाता है और यह अर्थ हो जाता है) अतः जिस अर्थ का जो विज्ञान कहा जाता है यदि उस अर्थ से ही वह उत्पन्न होता है अन्य अर्थ से नहीं तो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। शुक्ति (सीपी) में 'यह रजत है' इस प्रकार का ज्ञान 'रजत का ज्ञान' कहा जाता है वहाँ व्यपदिश्यमान (जिसका व्यपदेश या कथन किया जा रहा है) वस्तु रजत कही जायेगी किन्तु वह ज्ञान रजत से भिन्न वस्तु अर्थात् शुक्ति से उत्पन्न हुआ है। अतः ऊपर के लक्षण के अनुसार इस ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं का जा सकता; क्योंकि यह जिस रजत का कहा जा रहा है उससे उत्पन्न नहीं हुआ, वह रजत तो वहाँ है ही नहीं। इस प्रकार के प्रत्यक्षाभास में यह लक्षण नहीं जायेगा; यह तो प्रसिद्ध ही है, इसलिए वार्त्तिककार इसे छोड़कर अनुमान में भी यह लक्षण नहीं जायेगा; यह दिखलाते हैं--इससे अनुमान की व्यावृत्ति हो जाती है; क्योंकि वह उसी वस्तु अग्नि आदि से ही नहीं होता। जहाँ अग्नि है वहाँ तो उससे होता है और जहाँ एक बार दिखलाई देकर अग्नि शान्त हो जाती है और धूम भी समाप्त हो जाता है

वहाँ अन्य से ही वह ज्ञान होता है; अर्थात् ज्ञान के व्यपदेशक अग्नि के न रहने पर भी स्मर्यमाण धूम से वह होता है।[1]

वसुबन्धु के प्रत्यक्ष लक्षण में स्थित पदों द्वारा अनुमान आदि की व्यावृत्ति कैसे हो जाती है, इसका विवेचन करते हुए कहा गया है —

ततोऽर्थादित्यत्रार्थविशेषणं तत इति, तत्सङ्गतश्चैवकारोऽयोगव्यवच्छेदे वर्त्तते यथा चैत्रो धनुर्धर एवेति। तेन यत्रैव तदयोगः तदप्रत्यक्षमित्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० १५०।

"ततोऽर्थाद्—यहाँ पर 'ततः' शब्द अर्थ का विशेषण है और उससे अन्वित 'एव' शब्द—अयोगव्यवच्छेद; अर्थात् असम्बन्ध-निवारण के अर्थ में हैं। जैसे 'चैत्र धनुर्धर ही है' इस वाक्य में चैत्र नामक व्यक्ति का धनुर्धरत्वरूप विशेषण से असम्बन्ध (अयोग) नहीं है, इससे निश्चित सम्बन्ध है—यह प्रकट होता है। इस प्रकार जहाँ व्यपदिश्यमान अर्थ का ज्ञान से नियत सम्बन्ध नहीं होता, वह प्रत्यक्ष नहीं, यह अर्थ है।"

वसुबन्धु के लक्षण की व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने लिखा है कि इससे संवृत्ति-ज्ञान की भी व्यावृत्ति हो जाती है।[2] इसको स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—"यदि जिसके द्वारा ज्ञान का व्यपदेश किया जाता है वह प्रत्यक्ष है; अर्थात् 'विज्ञानं प्रत्यक्षं' इतना ही लक्षण किया जाता, इसमें 'ततः' शब्द का ग्रहण न होता तो 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलाने लगता; क्योंकि यह घट ज्ञान कहा ही जाता है किन्तु यह उस घट से (उत्पन्न) नहीं होता। क्योंकि घट नाम की वस्तु तो बुद्धि से परीक्षा करने पर समझने के अयोग्य (विचारासह) है अतः वह परमार्थसत् नहीं, सांवृत्तिक (मिथ्याकल्पित) है तथा वह विज्ञान के प्रति कारण नहीं। अतः सांवृत्तिक ज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण न चला जाये इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण में 'ततः' शब्द रक्खा गया है।"[3]

घटबुद्धि संवृत्तिज्ञान (मिथ्याकल्पित) है, बौद्धदर्शन के इस मन्तव्य का निरूपण करते हुए न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में बतालाया गया है—"परमार्थसत् भिन्न भिन्न रूप आदि परमाणु ही बिना अन्तर के एकत्रित हो जाते हैं और उन्हीं का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। उनके निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पश्चात् 'यह घट है' इस प्रकार की सविकल्पक बुद्धि होती है। यह सविकल्पक बुद्धि रूप आदि परमाणुओं के नानात्व को अपने रूप से

---

१. यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् यस्यार्थस्य यद् विज्ञानं व्यपदिश्यते यदि तत एव तद् भवति नार्थान्तराद् व्यपदेशासम्बन्धिनस्तत् प्रत्यक्षम्। अतएव व्यपदेशासम्बन्धिनोऽर्थान्तरात् शुक्तिरूपाज्जायमानं रजतेन व्यपदिश्यमानं शुक्तिज्ञानं न प्रत्यक्षं, व्यपदेशकादनुत्पत्तेः व्यापदेशकरजतस्य तत्राभावात् एतस्य प्रत्यक्षाभासस्य व्यावृत्तिः सुप्रसिद्धेति तामुपेक्ष्यानुमान-व्यावृत्तिमाह—एतेनेति। कुतः? न हि तत एव व्यपदेशकादेव वह्नेः तद् विज्ञानमनुमानं भवति, किन्तु यत्र वह्निरस्ति तत्र ततश्च यत्र तु दृष्टमात्र एव वह्नेरुपरमाद् उपरतो धूमस्तत्र अन्यतश्च तद् भवति स्मर्यमाणाद् धूमाद् असति तद्व्यपदेशके वह्नौ।

न्या० वा० ता०, पृ० १५०।

२. यत्पुनरेतत् संवृत्तिज्ञानमनेनापक्षिप्तमिति। न्या० वा०, पृ० ४१ पं० १।

३. यदि हि यस्य व्यपदिश्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं ततो घट इत्यपि ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्येत तदपि घटस्य व्यपदिश्यते न तु ततो घटाद् भवति तस्य हि विचारासहतया परमार्थसत्त्वाभावेन संवृत्तिसतो विज्ञानं प्रति कारणत्वाभावात्, तेन तन्निवारणार्थं तत इत्युक्तम्। न्या० वा० ता०, पृ० १५१।

ढक लेती है और उन्हीं रूप आदि को एक जल लाना आदि क्रिया करने के कारण अभिन्न सा दिखला देती है। इसी से घट की सविकल्पक बुद्धि संवृत्ति कही जाती है।"[४]

वसुबन्धु के इस लक्षण पर आक्षेप करते हुए न्यायवार्त्तिककार कहते हैं—"यदि शब्दों के अनुसार ही इस सूत्र का अर्थ मान लिया जाये तो भी इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि ग्राह्य अर्थ और ग्राहक ज्ञान एक साथ नहीं रहते।"[५]

इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

"यतो भवति ज्ञानं स ग्राह्योऽर्थः कारणं ग्राहकं च ज्ञानं कार्यं, तयोरयुगपद्भावात् वर्तमानाभं ज्ञानमतीते न प्रत्यक्षं स्यात्। तत्समानकालयोस्तु कार्यकारणभावाभावात्[६] ततोऽर्थादिति नास्तीति भावः। न्या० वा० ता०, पृ० १५२।

"अर्थात् जिससे ज्ञान होता है वह ग्राह्य अर्थ ही ज्ञान का कारण है और उसका ग्राहक ज्ञान उसका कार्य है। वे दोनों एक साथ नहीं रहते (क्योंकि ज्ञान के क्षण में अर्थ नष्ट हो जाता है) इसलिए वर्तमान रूप में भासित होने वाला ज्ञान नष्ट हुई वस्तु के विषय में होगा तथा वह मिथ्या होगा और मिथ्या होने के कारण प्रत्यक्ष न कहलायेगा। समानकालीन वस्तुओं का तो कार्यकारण भाव ही नहीं हो सकता। इसलिए 'उसी अर्थ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह (लक्षण) नहीं हो सकता।"

बौद्धों की ओर से इस आक्षेप का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र बतलाते है—"पदार्थ क्षणिक हैं इसलिए समान क्षण (एकः कालः) में ही कारण का नाश तथा कार्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार ज्ञान का कारण जो अर्थ है वह ज्ञान से भिन्न काल में (पूर्वक्षण में) रहता है तथापि वह ज्ञान का ग्राह्य है क्योंकि उसकी ग्राह्यता का अभिप्राय यह है कि वह अपने समानाकारक ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त ग्राह्यता का कोई अभिप्राय नहीं, जैसा कि (धर्मकीर्ति ने) कहा है:—"यदि यह शंका है कि जो अर्थ भिन्न काल में रहता है वह ज्ञान का ग्राह्य कैसे हो सकता है तो समाधान यह है कि अर्थ की ग्राह्यता का अभिप्राय है–ज्ञान का हेतु होना, और जो अर्थ किसी विज्ञान में अपना आकार अर्पित करने की क्षमता रखता है वही ज्ञान का हेतु कहलाता है। इस लिये वस्तु से होने वाला ज्ञान मिथ्या नहीं है; क्योंकि अर्थ के द्वारा किया हुआ नीलाकार इत्यादि ज्ञान में विद्यमान (वर्तमान) रहता है अतएव ज्ञान की वर्तमानता उचित ही हैं, यह भाव है।"[७]

---

४. रूपादिपरमाणव एव निरन्तरोत्पादाः परमार्थसन्तो भिन्नाः स्वविज्ञानस्याविकल्पस्य जनकाः, तेषां तु नानात्वं स्वेन रूपेण संवृण्वती निर्विकल्पकपृष्ठभाविनी घट इति सविकल्पिका बुद्धिस्तानेव रूपादीनेकोदकाहरणादिक्रियाकारिणोऽभेदिन इव दर्शयन्ती संवृत्तिरित्युच्यते। न्या० वा० ता०, पृ० १५१।

५. यद्यप्येतत् सूत्रं यथाश्रुति भवति तथापि ग्राह्यग्राहकज्ञानयोरयुगपद्भावात् ज्ञानमप्रत्यक्षं स्यात्। न्या० वा०, पृ० ४१।

६. बनारस संस्करण में 'कारणाभावाभावात्' पाठ है, जो शुद्ध नहीं।

७. क्षणिकत्वाद् भावानां कारणस्य नाशः कार्यस्योत्पादः इत्येकः कालः। तथाऽपि कारणस्य ग्राह्यता भिन्नकालस्यापि, स्वसदृशज्ञानजननमेव हि तस्य तज्ज्ञानं प्रति ग्राह्यत्वं नान्यत्। यथा ऽऽह—
भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥
न चैतावता मिथ्यात्वमर्थाहितस्य नीलाकारस्य ज्ञानवर्तिनो वर्तमानत्वादिति भावः। न्या० वा० ता०, पृ० १५२-१५३। 'ज्ञानाकारार्पणक्षमम्' शुद्ध पाठ है। मि०, प्र० वा०, २.२४७।

इस प्रकार वसुबन्धु के अनुसार 'ततोऽर्थाद् विज्ञानम्' यह प्रत्यक्ष का लक्षण है। श्चेरबात्स्की का कथन है कि वसुबन्धु ने 'वाद-विधि' नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का यह लक्षण किया था।[८] दिग्नाग ने इस लक्षण की कटु आलोचना की थी क्योंकि यह वस्तुवादियों के 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षं' से बहुत मिलता है। सम्भवतः वसुबन्धु ने अपने लक्षण के इस दोष का अनुभव किया था और 'वाद-विधान' नामक अपनी द्वितीय कृति में इस दोष का परिहार भी कर दिया। किन्तु वाद-विधान नामक ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण इस विषय में निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता।[९]

यहाँ यह भी विचारणीय है कि वाचस्पति मिश्र ने सौत्रान्तिक के मत का विवेचन करते हुए न्यायकणिका में दो बार 'भिन्नकालं' इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है। किन्तु यहाँ वसुबन्धु के प्रत्यक्ष-लक्षण के प्रसंग में इस कारिका को उद्धृत कर दिया है। वसुबन्धु के विषय में प्रसिद्धि यह है कि वह अपने प्रारम्भिक समय में वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुयायी रहे किन्तु बाद के जीवन में अपने भाई असंग के प्रभाव से योगाचार हो गये।[१०] फिर उनके लक्षण का विवेचन करते हुए सौत्रान्तिक के मन्तव्य को क्यों प्रस्तुत किया गया है? यह विचारणीय ही है।

(ख) **दिग्नाग का प्रत्यक्ष-लक्षण**—वाचस्पति मिश्र न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में लिखते हैं—

सम्प्रति दिग्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति-अपर इति। न्या० वा० ता०, पृ० १५३।

"अर्थात् वार्त्तिककार (उद्योतकर) अब दिग्नाग के प्रत्यक्ष-लक्षण को प्रस्तुत करते हैं—अपर इति।"

उद्योतकर ने दिग्नाग के इस लक्षण का यह रूप प्रस्तुत किया है—

अपरे तु मन्यन्ते—प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति। अथ केयं कल्पना? नामजातियोजनेति। यत् किल न नाम्नाऽभिधीयते न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते विषयस्वरूपानुविधायि परिच्छेदकमात्मसंवेद्यं तत्प्रत्यक्षमिति। न्या० वा०, पृ० ४१।

"दूसरों का मत है कि कल्पनारहित ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह कल्पना क्या है? नाम, जाति (आदि) की योजना ही कल्पना है। जो न नाम (संज्ञा) से कहा जाये, न जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाये, ऐसा विषय के स्वरूप का अनुसरण करने वाला, विषय का

---

८. BL. Vol. I. pp. 174-175.

९. (i) दिग्नाग का कथन है—नाचार्यस्य वादविधिः। प्रमाणसमुच्चय, १.१४।

(ii) दिग्नाग के इस कथन के अनेक अर्थ लिये गये हैं जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार इसका अभिप्राय है कि यह वसुबन्धु का परिपक्वावस्था (प्रौढ़ावस्था) का लक्षण नहीं हो सकता। यह लक्षण उस समय का है जब वह वैभाषिक रहे होंगे। श्चेरबात्स्की के अनुसार दिग्नाग का अभिप्राय यह है कि वसुबन्धु का यह लक्षण विज्ञानवाद (idealism) की दृष्टि से संगत नहीं। देखिये BL. Vol. I. p. 174.

(iii) प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति के अनुसार तो इस कथन से 'वादविधि' की सदोषता अभिव्यक्त होती है—अत्र वादविधिः आचार्यवसुबन्धुनेति लोकप्रसिद्धिः। इयं तु शास्त्रकारकृतशास्त्रान्तराणां निर्दुष्टत्वमपेक्ष्य। दोषविशिष्टायाः वादविधेस्तत्कर्तृत्वासम्भवः (इति) आह—नाचार्यस्य वादविधिरिति। तेन दोषविशिष्टत्वेन। तथा चान्यथांशकथनादित्यनेन वादविधेर्दोषविशिष्टत्वं व्यज्यते। प्रमाणसमुच्चय-वृत्तिः, १.१४।

१०. रेन्डिल; FFD., p. 12,

व्यवस्थापक (परिच्छेदक) स्वसंवेद्य (जिसका अनुभव अपने द्वारा ही किया जाता है) ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।"

वार्त्तिककारोक्त दिग्नाग के इस लक्षण की व्याख्या करते हुए न्यायवार्त्तिकतात्पर्य-टीका में बतलाया गया है—

"लक्षणवादी[11] का उत्तर है—नाम इत्यादि (शब्द अनेक प्रकार के होते हैं जैसे यदृच्छाशब्द, गुणशब्द, जातिशब्द, क्रियाशब्द, द्रव्यशब्द) यदृच्छा शब्दों में किसी नाम से विशिष्ट अर्थ को कहा जाता है; जैसे 'यह डित्थ है।' जातिशब्दों में जाति से विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाता है; जैसे—'यह गौ है।' गुणशब्दों में गुण से विशिष्ट का; जैसे—'यह शुक्ल है' तथा क्रियाशब्दों में क्रिया से विशिष्ट का; जैसे—'यह पाचक है।' द्रव्यशब्दों में द्रव्य से विशिष्ट का कथन किया जाता है, जैसे 'यह दण्डवाला है,' 'यह सींग वाला (विषाणी) है।' इस प्रकार की कल्पना जिस ज्ञान में अर्थ से या स्वरूप से नहीं है वह कल्पना से रहित है, वही प्रत्यक्ष है। इसी से कहा गया है—जिसका अर्थ से या स्वरूप से नाम द्वारा कथन नहीं किया जाता, न ही जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाता है (वह प्रत्यक्ष है)। लक्षण में व्यभिचार दोष न हो जाये इसलिए 'विषयस्वरूपानुविधायि' इस पद द्वारा विषय को ज्ञान का कारण बतलाया है। विषय का परिच्छेदक या व्यवस्थापक बतलाकर इस (ज्ञान) की प्रमाणरूपता कही गई है। तथा 'आत्म-संवेद्य' पद द्वारा इसकी विज्ञानरूपता प्रकट की गई है (अर्थात् यह विज्ञानरूप ही है)। यह स्वसंवेद्य है अर्थात् इसका अपने आप ही अनुभव किया जाता है, इसका ग्राहक दूसरा नहीं; इसीलिए यह कल्पनारहित है। जैसा कि कहा भी है[12]—'जो प्रत्यक्ष है वह कल्पनारहित होता है उसके इस कल्पनारहित स्वरूप की सिद्धि आत्मसंवेदन रूप प्रत्यक्ष से ही होती है (यदि उसमें कल्पना का योग होता तो अनुभव से प्रतीत हुआ करता यह भाव है)।'"[13]

दिग्नाग के प्रत्यक्षलक्षण का उल्लेख न्यायकणिका (पृ० १९२) में भी किया गया है। वहाँ लक्षण का स्वरूप है—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमन्यनिर्दिष्टलक्षणम्'। वर्तमान काल में उपलब्ध प्रमाणसमुच्चय में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।'

इस प्रकार न्यायवार्त्तिक एथा तात्पर्यटीका में उद्धृत लक्षण इसका पूर्वांशमात्र है तथा न्यायकणिका में उद्धृत लक्षण इसका रूपान्तर है। यह भी सम्भव है कि यह दिग्नाग के किसी अन्य ग्रन्थ से लिया गया हो।

---

११. यहाँ लक्षणवादी दिग्नाग ही है। देखिए; रेन्डिल, FFD., P. 9. L. 18.

१२. 'प्रत्यक्षम्' इत्यादि कारिकार्ध धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक (२.१२३) का है: किन्तु वाचस्पति मिश्र ने इसे दिग्नाग के लक्षण की व्याख्या के प्रसंग में उद्धृत किया है।

१३. लक्षणवादिन उत्तरं नामेति। यदृच्छाशब्देषु हि नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थेति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति। सेयं कल्पना यत्र ज्ञाने नास्त्यर्थतः स्वरूपतो वा तत्कल्पनयाऽपोढं, तत्प्रत्यक्षं, तदिदमाह-यत् किल न नाम्नाऽभिधीयते अर्थतः स्वरूपतश्च न जात्यादिभिः व्यपदिश्यते। अव्यभिचाराय विषयकारणत्वमाह-विषयस्वरूपानुविधायीति। प्रमाणत्वमाह-परिच्छेदकं व्यवस्थापकम्। ज्ञानतामस्य दर्शयति-आत्मसंवेद्यं, स्वसंवेदनादेव तस्य कल्पनारहितत्वमपि। यथाऽऽह "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति" इति। न्या० वा० ता०, पृ० १५३-१५४।

(ग) धर्मकीर्ति का प्रत्यक्ष-लक्षण—वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण का इस प्रकार निर्देश किया है—

न खलु प्रत्यक्षं कल्पनापोढमन्यनिर्दिष्टलक्षणमिति प्रणयतो दिग्नागस्यैव कल्पनापोढमात्रं प्रत्यक्षलक्षणमपि तु तदेवाऽभ्रान्तत्वसहितं प्रत्यक्षलक्षणमिति मन्यते स्म कीर्तिः। यथाह—प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति। न्यायकणिका, पृ० १९२ पं० १४।

"अर्थात् 'प्रत्यक्षं कल्पना०' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करने वाले दिग्नाग के मत में ही 'कल्पनारहित ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं है, अपितु धर्मकीर्ति भी ऐसा मानते थे कि 'अभ्रान्त' (भ्रान्तिरहित) विशेषणसहित यही (कल्पनापोढम्) प्रत्यक्ष का लक्षण है; जैसा कि कहा है—'कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं'"।

इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

इदं खल्वनुमानादिभ्यो विकल्परूपेभ्यः प्रत्यक्षतां निवर्तयति व्यवस्थापयति च सुखादिषु ज्ञानरूपतया स्वसंवेदनसिद्धेष्वपोढेषु कल्पनायाः प्रत्यक्षत्वं, सङ्गृह्णाति च सर्वज्ञविज्ञानमखिलं कल्पनानिर्मुक्तमित्यर्थः। न्यायकणिका, पृ० १८४।

"अर्थात् इस (लक्षण) के द्वारा विकल्प रूप जो अनुमान आदि हैं उनमें प्रत्यक्ष का लक्षण घटित नहीं होता है और ज्ञान रूप में जो स्वसंवेदन द्वारा जाने जाते हैं, ऐसे सुख इत्यादि में प्रत्यक्ष का लक्षण घटित हो जाता है; क्योंकि उनका अनुभव कल्पना से रहित है। साथ ही यह लक्षण कल्पनाओं से निर्मुक्त सर्वज्ञ के ज्ञान को भी संगृहीत कर लेता है अर्थात् उसमें भी प्रत्यक्ष का लक्षण घटित हो जाता है।"

कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने दिखलाया है:— "यह कल्पना क्या है, जिससे रहित को प्रत्यक्ष कहा जाता है? यदि ऐसी प्रतीति, जिसमें शब्द का आभास होता है अर्थात् जो शब्द के आकार में होती है, कल्पना है, तो शब्द-विषयक श्रावण ज्ञान जिसका स्फुट आभास होता है वह भी प्रत्यक्ष के भीतर नहीं आयेगा (अव्याप्ति)। तब ऐसी प्रतीति कल्पना कहलाती है जिसका आकार (प्रतिभास) वाचक शब्द (अभिलाप) से सम्बन्ध के योग्य होता है अर्थात् जिस प्रतीति में वाचक शब्दों का संसर्ग किया जा सकता है वही प्रतीति कल्पना कहलाती है। अभिप्राय यह है कि वह वस्तु शब्द के संसर्ग से युक्त (संसृष्ट) होती है जिसमें शब्द का संकेत किया जाता है। ऐसी वस्तु वही है जो देश, काल एवं अवस्था से अनुगत प्रतीत होती है। परमार्थसत् जो स्वलक्षण है वह तो देश काल अवस्था से अनुगत नहीं हो सकता। जाति इत्यादि तो परमार्थसत् हो नहीं सकती, क्योंकि वे विचार करने पर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं (विचारासहत्वात्)। इसलिए जो ज्ञान का आकार या मिथ्यावस्तु बाह्य रूप में प्रतीत होता है, उसमें शब्द का संकेत होता है और वही शब्द-संसर्ग के योग्य है तथा शब्दसंकेत को जानने वाले (व्युत्पन्न) जनों को जो वाचक शब्द के संसर्ग सहित (तद्विषया) प्रतीति होती है वह कल्पना है।"[१४]

---

१४. केयं कल्पना यस्या अपोढत्वमुच्यते प्रत्यक्षत्वम्? यदि शब्दाभासा शब्दाकारप्रतीतिः, श्रौत्रं ज्ञानं शब्दविषयं विशदाभमप्रत्यक्षं प्रसज्येत। अथाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना? अयमर्थः अभिलाप-संसर्गयोग्यः प्रतिभासः आकारो यस्याः प्रतीतेः सा कल्पना। एतदुक्तं भवति—स एवाभिलापसंसृष्टो भवति यत्रायमभिलापः कृतसङ्केतः। स एव च तथा यो देशकालावस्थानुगतः प्रतिभासते। न च वस्तुसतः स्वलक्षणस्यानुगतिः सम्भाविनी। न च जात्यादयो वस्तुसतः सम्भवन्ति विचारासहत्वात् ......। तस्मात् ज्ञानाकारो वा अलीकं वा बाह्यत्वेनावसितं संकेतसम्भवाद् भवति शब्दसंसर्गयोग्यं तद्विषया व्युत्पन्नानां च प्रतीतिः कल्पनेति। न्यायकणिका, पृ० १८४-१८६।

दिग्नाग के अनुसार कल्पना से रहित प्रतीति ही प्रत्यक्ष कहलाती थी; किन्तु धर्मकीर्ति ने इसमें 'अभ्रान्तम्' विशेषण और जोड़ दिया। दिग्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण में ऐसा कोई शब्द नही दिया गया था। डा० ज्वालाप्रसाद का विचार है कि "यहां अभ्रान्ति शब्द देने से स्पष्ट रूप में यह विदित होता है कि धर्मकीर्ति ने न्यायसम्प्रदाय के प्रभाव में आकर ही यह शब्द जोड़ा है।"[१५] यह 'अभ्रान्त' पद प्रत्यक्ष के लक्षण में आवश्यक है या नहीं, इस विषय में दिग्नाग के अनुयायियों में मतभेद रहा है जिसका उल्लेख श्चेरबात्स्की ने किया है।[१६]

धर्मकीर्ति का यह प्रत्यक्षलक्षण न्यायबिन्दु के आधार पर दिया गया है। न्यायबिन्दु में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार है—'तत्र कल्पनाऽपोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। न्यायबिन्दु, पृ० ८। प्रमाणवार्तिक में प्रत्यक्ष का लक्षण भिन्न प्रकार का है—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति। प्र० वा०, २.१२३।

दिग्नाग और धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षणों को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने उनके लक्षणों का अन्तर भी स्पष्ट किया है। यहाँ इनके दो भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। एक तो यह कि धर्मकीर्ति ने प्रथमत: सम्यक् ज्ञान का प्रकरण आरम्भ किया और सम्यक् ज्ञान के दो भेद करके प्रत्यक्ष का लक्षण प्रस्तुत किया। दिग्नाग ने ऐसा नहीं किया था[१७] अत: दिग्नाग के प्रत्यक्ष-लक्षण में उद्योतकर ने दोष दिखलाये थे।[१८] दूसरा अन्तर यह है कि दिग्नाग के मत में 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं' केवल इतना ही लक्षण था। धर्मकीर्ति ने इसमें 'अभ्रान्त' पद जोड़कर प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् इतना लक्षण कर दिया। स्पष्ट ही है कि वाचस्पति मिश्र का यह विवेचन प्रमाण-तत्त्व के तुलनात्मक विवेचन में अत्यन्त सहायक है। इस प्रकार प्रत्यक्ष लक्षण के इस विवेचन से दिग्नाग सम्प्रदाय के कई मन्तव्यों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) स्वलक्षण वस्तुसत् है, उसकी देशकाल में अनुगति सम्भव नहीं।

(२) सामान्यलक्षण वस्तुसत् नहीं। देश काल तथा अवस्था से अनुगत सामान्य ही है। उस में ही शब्द का संकेत किया जाता है।

(३) नाम, जाति आदि के संसर्गयोग्य प्रतीति कल्पना कहलाती है। कल्पना रहित ज्ञान (धर्मकीर्ति के मत में भ्रान्तिशून्य सम्यक् ज्ञान) ही प्रत्यक्ष है।

(घ) प्रत्यक्ष के अन्य लक्षण—न्यायकणिका में सर्वज्ञता की समीक्षा करते हुए वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र द्वारा उद्धृत कुछ अन्य बौद्धाचार्यों के प्रत्यक्ष लक्षणों को भी प्रस्तुत किया है। उनमें कहीं भी आचार्यों का नाम निर्देश नहीं किया गया। जैसे कि प्रत्यक्ष का एक लक्षण इस प्रकार दिखलाया गया है—

लक्षणान्तर प्रत्यक्षस्य शङ्कते अथानुभवाकारप्रवृत्तं प्रत्यक्षम्, अतोऽन्वेत्येवातीतानागतविषयं सर्वज्ञज्ञानम्। यथोक्तं मानसमप्यनुभवाऽऽकारप्रवृत्तमिति। न्यायकणिका, पृ० १९५।

"अर्थात् प्रत्यक्ष के अन्य लक्षण की शंका करता है—अनुभव के आकार से प्रवृत्त होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है इसलिए अतीत तथा अनागतविषयक सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष में

---

१५. Dr. Jwala Prasad : Indian Epistemology, P. 212.

१६. BL. Vol. I, pp. 155-160.

१७. न हि यथा सम्यग्ज्ञानमधिकृत्य प्रत्यक्षादिलक्षणं कृतं कीर्तिना तथा दिग्नागेन। न्या० वा० ता०, पृ० १५४।

१८. न्यायवार्त्तिक, पृ० ४१।

आ ही जाता है। जैसा कि कहा भी है—मानस ज्ञान भी अनुभव के आकार से प्रवृत्त होने वाला है, अतः प्रत्यक्ष है।"

प्रत्यक्ष का यह लक्षण बौद्धदर्शन के प्रत्यक्ष निरूपण के प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है। इसी से यह कहा जा सकता है कि यह किसी बौद्ध आचार्य का लक्षण होगा; किन्तु यह किस आचार्य या ग्रन्थ का लक्षण है ? इस बात का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता।

२. प्रत्यक्ष-प्रक्रिया तथा प्रत्यक्ष का विषय

किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय का विशेष रूप सामान्यतः उसके प्रत्यक्ष की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है। इससे विदित हो जाता है कि वह दर्शन बाह्यार्थवादी (Realist) है या ज्ञानवादी (Idealist) है[१९]। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में विविध मत पाये जाते हैं। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय इस विषय में बिलकुल बाह्यार्थवादी दृष्टिकोण रखता है। वह प्रत्यक्ष ग्रहण के लिए अनेक सन्निकर्षों की कल्पना करता है। आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से तब अर्थ सन्निकृष्ट इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है; यही संक्षेप में उसका मत है[२०]। सांख्य-योग सम्प्रदाय के अनुसार बुद्धितत्त्व इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा विषयाकार में परिणत हो जाता है[२१]। वेदान्त सम्प्रदाय यद्यपि बाह्यार्थ की सत्ता को परमार्थसत् नहीं मानता तथापि उसकी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में भी चित्तवृत्ति का घटाकार रूप में होना स्वीकार किया गया है। 'यह घट है' इस प्रकार की घटाकार से आकारित घटविषयक चितवृत्ति होती है जो उसमें होने वाले अज्ञान को दूर करती हुई स्व (चित्तवृत्ति) में स्थित चिदाभास के द्वारा जड़ घट को भी भासित करती है[२२]।

बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में भी पारस्परिक भेद है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका तथा न्यायतात्पर्यटीका में बौद्ध सम्प्रदायों की प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का यत्र-तत्र निर्देश किया है। किन्तु वहाँ प्रत्येक सम्प्रदाय की प्रत्यक्ष की प्रक्रिया तथा प्रत्यक्ष का विषय स्पष्ट नहीं दिखलाया गया, उसकी झलक मात्र ही वहाँ मिलती है। न्यायकणिका (२५४) तथा न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (६५६) में विज्ञानवादी की ओर से शंका करते हुए वैभाषिक, सौत्रान्तिक तथा विज्ञानवादी के विषय-ग्रहण का प्रकार दिखलाया गया है।

(क) **वैभाषिक के मतानुसार विषय-ग्रहण की प्रक्रिया**—जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है,[२३] वैभाषिक के मत में ज्ञान निराकार[२४] है। साकार ज्ञानवादी सौत्रान्तिक

---

१९. मि०, CCB. pp. 44.45.

२०. तथाहि-आत्मा मनसा संयुज्यते। मन इन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेन। ततोऽर्थसंन्निकृष्टेनेन्द्रियेण ....ज्ञानं जन्यते। तर्कभाषा, पृ० ६ पं० १-४।

२१. इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारण-प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। योगभाष्य १.७।

२२. वेदान्तसार, पृ० १२ पं० १-८।

२३. ऊपर, परि० ५ अनु० ३१।

२४. ज्ञान को निराकार मानने वाले न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा आदि भी हैं ; तथापि न्यायकणिका और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के कुछ स्थलों में वैभाषिक की ओर ही संकेत है, यह प्रतीत होता है। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में वैभाषिक निराकारज्ञानवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं जैसा कि प्रमाणवार्तिक की मनोरथनन्दिवृत्ति (२.१३) में भी कहा गया है—निराकारबुद्धि-वादिवैभाषिकमते इत्यादि।

ने उसके मत में अनेक दोष दिखलाये हैं। बाह्य वस्तु निराकार ज्ञान का विषय कैसे होती है? वैभाषिक की ओर से इसका सिद्धान्तपक्षीय उत्तर यही कहा जा सकता है कि एक सामग्री या तुल्य सामग्री से सम्बद्ध होने के कारण अर्थ और ज्ञान का ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है। वाचस्पति मिश्र ने इसका उल्लेख तो किया है[२५], किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने इसकी स्पष्ट व्याख्या की हो। जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में इसका विशद विवेचन किया है। जयन्त भट्ट का कथन है—"बौद्धमत में पदार्थ क्षणभङ्गुर हैं उनमें उपादान तथा सहकारी कारण की अपेक्षा से अन्य क्षणसन्तान उत्पन्न होते रहते हैं (एक क्षणपुञ्ज से दूसरे क्षणपुञ्ज की उत्पत्ति होती रहती है) तभी लोकयात्रा का निर्वाह सम्भव है अतः क्षणिक अर्थ और ज्ञान का ग्राह्य-ग्राहक-भाव इस प्रकार बन सकता है कि ज्ञानक्षण की उत्पत्ति में पूर्वज्ञान उपादान कारण है, अर्थ सहकारी कारण है तथा अर्थक्षण की उत्पत्ति में अर्थ उपादान कारण है ज्ञान सहकारी कारण है। इस प्रकार ज्ञान और अर्थ से ज्ञानक्षण की उत्पत्ति होती है तथा अर्थ और ज्ञान से अर्थक्षण की उत्पत्ति होती है और दोनों तुल्य सामग्री या एक सामग्री के अधीन है। इसी से कोई ज्ञान किसी अर्थ के विषय में प्रमाण होता है; क्योंकि यह उस अर्थ से नियत सम्बन्ध रखने वाला है[२६]"।

वैभाषिकों की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया को श्चेरबात्स्की ने अभिधर्मकोश के अनुसार इस प्रकार स्पष्ट किया है—"रूप (विषय) का एक क्षण, दर्शनेन्द्रिय (चक्षु) का एक क्षण तथा शुद्ध चेतना (चित्त) का एक क्षण—इन तीनों का एक साथ एक स्थान पर जब समवधान होता है तब रूपज्ञान (रूप का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) होता है।"[२७]

अर्थ की इस विषयता को स्पष्ट करते हुए निराकार ज्ञानवादी की ओर से यह भी बतलाया गया है कि विज्ञान के स्फुरण के साथ २ अर्थ का भी प्रकाशन हुआ करता है। विज्ञान से भिन्न अर्थ प्रकटन कुछ और नहीं अपितु विज्ञान का प्रकटन ही अर्थ का प्रकटीकरण है।[२८] ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर है—स्वाभाविक विशेषता के कारण ही ऐसा हो जाता है—जो रूप आदि हैं वे अपने कारणों से ऐसे उत्पन्न होते हैं कि न अपने ही प्रकाशक हैं न किसी अन्य के; किन्तु ज्ञान तो अपने कारणों से ऐसा उत्पन्न होता है कि वह अपना तथा अपने से भिन्न अर्थ का प्रकाशन करने में समर्थ होता है।[२९]

इस प्रकार वैभाषिक के मतानुसार क्षणिक ज्ञान के साथ क्षणिक अर्थ का समवधान होने पर ज्ञान के प्रकाश के साथ २ अर्थ का भी प्रकाशन हो जाता है, यही विषय का ग्रहण है।

(ख) **सौत्रान्तिक के अनुसार विषय-ग्रहण की प्रक्रिया**—सौत्रान्तिक का कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञान जिस अर्थ (विषय) से उत्पन्न होता है उसके सारूप्य को ग्रहण कर

---

२५. एकसामग्रीप्रतिबन्धेन वा वर्तमानविषयत्वे...। न्यायकणिका, पृ० २५४। न्या० वा० ता०, पृ० ६५६।

२६. क्षणभङ्गिषु पदार्थेषु सहकार्युपादानकारणापेक्षक्षणान्तरसन्ततिजननेन च लोकयात्रामुद्वहत्सु ज्ञानजन्मनि ज्ञानमुपादानकारणम् अर्थः सहकारिकारणम्, अर्थजन्मनि चार्थ उपादानकारणं ज्ञानं सहकारिकारणमिति, ज्ञानं च ज्ञानार्थजन्यमर्थश्चार्थज्ञानजन्यो भवतीत्येवमेकसामग्र्यधीनतया तमर्थमव्यभिचरतो ज्ञानस्य तत्र प्रामाण्यमिति। न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० १४।

२७. CC B.P. 45.

२८. न विज्ञानादन्योऽर्थप्रकाशः किन्तु विज्ञानप्रकाश एव सः। न्यायकणिका, पृ० २५५।

२९. वही, पृ० २५५।

लेता है तथा वह अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय कहलाता है और इन्द्रिय इत्यादि (प्रत्यक्ष के विषय) नहीं; जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बताया है—

तत्सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां च विषयत्वेन नेन्द्रियादिषु तत्प्रसङ्गः।

न्यायकणिका, पृ० २५६।

'प्रत्यक्ष द्वारा अर्थ का ग्रहण होता है' इसका सौत्रान्तिक के मत में यह अभिप्राय है कि अर्थ के द्वारा ज्ञान में जो अपना आकार समर्पित किया जाता है उस आकार (सारूप्य) का ही ज्ञान द्वारा ग्रहण किया जाता है। यथार्थ में यह अर्थसारूप्य का ग्रहण होता है किन्तु भाक्तरूप से अर्थ का ग्रहण कहलाता है।[३०] इस प्रकार सौत्रान्तिक के मतानुसार प्रत्यक्ष द्वारा अर्थ का साक्षात् ग्रहण नहीं होता, अपि तु परम्परया बोध होता है तथापि बाह्य वस्तु साकार ज्ञान का विषय कही जाती है।[३१]

सौत्रान्तिक मत में बाह्यार्थ की ग्राह्यता यही है कि वह ज्ञान में स्वाकार को समर्पित करता है इससे भिन्न कुछ नहीं। वाचस्पति मिश्र ने 'भिन्नकालम्' इत्यादि धर्मकीर्ति की कारिका को उद्धृत करते हुए इस प्रकार की ग्राह्यता का अनेक स्थलों पर विवेचन किया है। धर्मकीर्ति ने अन्यत्र भी यह बतलाया है कि ज्ञान का हेतु होना ही बाह्य अर्थ की ग्राह्यता है।[३२]

'भिन्नकालम्' इत्यादि कारिका की व्याख्या करते हुए उदयनाचार्य ने स्पष्टतया बतलाया है कि सौत्रान्तिक मत में बाह्य अर्थ वस्तुतः अनुमेय है औपचारिकरूप से वह प्रत्यक्ष कहा जाता है—

अनेन हि न प्रतिभासनतयाऽर्थो ग्राह्यते, इति व्यवह्रियते, किन्नाम? आकारार्पकतयेति दर्शितम्। आकार एव त्ववभासनतया ग्राह्यः। परिशुद्धि, पृ० ६४७, ६४८।

"अर्थात् ज्ञान में भासित होने के कारण अर्थ को ग्राह्य नहीं कहा जाता, किन्तु आकार को अर्पित करने के कारण। ज्ञान में आकार ही अवभासित होता है तथा वही ग्राह्य भी है।"

इस प्रत्यक्षप्रक्रिया का सारांश यह है कि अर्थ के आकार का प्रत्यक्ष होता है। उस आकार के द्वारा अर्थ का अनुमान हो जाता है—अर्थ अनुमेय है। फलितार्थ (औपचारिक)रूप में ही यह कहा जाता है कि अर्थ का प्रत्यक्ष होता है।[३३]

(ग) **विज्ञानवादी के अनुसार विषय-ग्रहण की प्रक्रिया**—विज्ञानवादी के अनुसार बाह्य अर्थ का अभाव है। ज्ञान स्वप्रकाश है और वह अपने प्रकाशन के साथ साथ अर्थ का भी प्रकाशन करता है; क्योंकि अर्थ भी ज्ञान से भिन्न नहीं है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने विज्ञानवादी की ओर से शंका करते हुए बतलाया है—**यद्युच्येत न ज्ञानादतिरिक्तोऽर्थप्रकाशो ज्ञानप्रकाशश्च, किन्तु ज्ञानमेव स्वसंवेदनमर्थस्य स्वात्मनश्चेति।**

न्या० वा० ता०, पृ० ६६२।

---

३०. अर्थाहिताकारवेदनमेव चार्थवेदनम्।.........तथाप्युक्तं स्यादर्थवेदनमिति। न्यायकणिका, पृ० २५६।

३१. साकारज्ञानगोचरोऽर्थः। न्यायकणिका, पृ० २५६।

३२. हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन। तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते॥ प्र० वा०, २.२२४।

३३. यदाहुः प्रत्यक्षसिद्धेनाकारेणार्थोऽनुमीयते इति फलतः प्रत्यक्षोऽर्थः। परिशुद्धि, पृ० ६४६।

इस प्रकार ज्ञान के स्वसंवेदन के आधार पर ही अर्थ की प्रत्यक्षता मानी जाती है। अनादिकाल से विज्ञान धारा में जो वासनाएँ चली आ रही हैं उन के कारण ही 'यह पीत है', 'यह नील है' इस प्रकार की भिन्न भिन्न बुद्धि हो जाती है। जैसा कि ऊपर विस्तार-पूर्वक निरूपण किया गया है,[३४] विज्ञानवादी के मत में विज्ञान ही भ्रान्ति के कारण ग्राह्य और ग्राहक रूप में भासित होता है।

वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में इसका अधिक विवेचन नहीं किया गया। बौद्ध-दर्शन के कुछ ग्रन्थों में इसका स्पष्ट स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि मोक्षाकर गुप्त ने तर्क भाषा में बतलाया है कि इस विषय में विज्ञानवादियों के दो मत हैं। प्रथम मत तो यह है कि विज्ञान ही ग्राहक तथा ग्राह्यरूप हो जाता है, वही शरीर आदि विषय (ग्राह्य) रूप में प्रतीत होता है। उसका स्वसंवेदन होता है। परमार्थसत् विज्ञान में ही ग्राह्य-ग्राहक भाव की कल्पना कर ली जाती है। द्वितीय मत यह है कि विज्ञान स्फटिक मणि के समान निर्मल है—किसी प्रकार के आकार से वह प्रभावित नहीं होता। उसमें ये आकार अविद्या से भासित हो रहे हैं। ग्राह्य–ग्राहक भाव नहीं है, केवल अविद्या से भासित होता है।[३५]

३. इन्द्रियों का अप्राप्यकारित्व

चक्षुः इत्यादि इन्द्रियाँ अर्थ का ज्ञान कैसे कराती हैं ? इस विषय में न्याय-वैशेषिक का मत है कि इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है उससे ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके ही उसे प्रकट करती हैं, यह नियम है।[३६] न्याय-सूत्रकार ने भी 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं···प्रत्यक्षम्' इस सूत्र में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख करके इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का वर्णन किया है।

बौद्ध दर्शन इन्द्रियों को प्राप्यकारी नहीं मानता। उद्योतकर ने प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हुए उल्लेख किया है—'चक्षु और श्रोत्र अप्राप्यकारी हैं, ऐसा कुछ लोग (बौद्ध) मानते हैं और उसमें युक्ति देते हैं—'अप्राप्यकारी चक्षु; सान्तरग्रहणात् पृथुतरग्रहणाच्च', अर्थात् सान्तर अथवा दूर देश में स्थित (सान्तर=अन्तर से स्थित, विप्रकृष्ट या दूर स्थित) वस्तु का ग्रहण होता देखा जाता है। चक्षु द्वारा उस अर्थ की प्राप्ति तो होती नहीं; क्योंकि भूतविशेष ही इन्द्रिय है। जो यह कृष्णतारा रूप भूतविशेष है, वही बाह्य भूत विशेष अर्थात् प्रकाश (आलोक) से अनुगृहीत होकर चक्षु कहलाता है।[३७] किन्तु प्रसन्नान्ध[३८] के कृष्ण तारा होने पर भी, उसे रूप का दर्शन नहीं होता अतः रूपोपभोग-निमित्तक कर्म भी चक्षु के स्वरूप में कारण माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि भूतविशेष, कर्म की अपेक्षा से रूप का दर्शन करता हुआ चक्षु कहा जाता है।[३९] भूतविशेष से अनुगृहीत चक्षु विषय को प्राप्त नहीं कर सकता अपितु दूर से विषय का ग्रहण होता है अतः चक्षु

---

३४. ऊपर, परि० ५ अनु० ६।

३५. (मो०) तर्कभाषा, पृ० ३८।

३६. इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यकारित्वनियमात्। तर्कभाषा, पृ० ६।

३७. न्या० वा०, पृ० ३३।

३८. ऐसा अन्धा व्यक्ति जिसके नेत्रों की बाह्य आकृति यथावत् होती है किन्तु दर्शनशक्ति नहीं होती।

३९. एतदुक्तं भवति—भूतविशेषः कर्मापेक्षो रूपं च चक्षाणश्चक्षुरित्युच्यते। कर्मक्षयात् तु प्रसन्नान्धस्य न रूपं चष्ट इति न चक्षुः। न्या० वा० ता०, पृ० ११७।

अप्राप्यकारी है। इस प्रकार सान्तरस्य ग्रहणं सान्तरग्रहणं अर्थात् दूर की वस्तु का ग्रहण होना इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व में हेतु है।[४०] यहाँ सान्तर (विप्रकृष्ट, दूर) शब्द वस्तु (अर्थ) का विशेषण है--सान्तरस्य अर्थस्य ग्रहणात्। दूसरे (?) तो 'सान्तर' को ग्रहण का विशेषण करके हेतु का प्रतिपादन करते हैं।[४१] प्राप्यकारी घ्राण आदि इन्द्रियों में 'यह वस्तु दूर की है' (अथवा निकट की) इस प्रकार का ग्रहण नहीं देखा जाता, किन्तु चक्षु में देखा जाता है अतः यह अप्राप्यकारी है।[४२] यह व्यतिरेकी हेतु है।

इसके पश्चात् न्यायवार्त्तिक में इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व को सिद्ध करने के लिए कई और भी हेतु दिये गये हैं। जिन की न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में व्याख्या की गई है।

दूसरा हेतु है—'पृथुतरग्रहणाच्च'। इसकी व्याख्या करते हुए उद्योतकर कहते हैं—राष्ट्र, वन आदि महत् वस्तुओं का चक्षु से ग्रहण होता है और (प्राप्यकारी होने पर) यह युक्त नहीं।[४३] इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—क्योंकि दो वस्तुओं में रहने वाला संयोग संयोगी के अल्पभाग (एक देश) में ही होता है महान् में नहीं, जैसे रथ का संयोग आकाश में सर्वत्र नहीं होता।[४४] इसलिये राष्ट्र तथा वन आदि के जितने भाग का चक्षुः गोलक से संयोग होगा उतने का ही ग्रहण होना चाहिये।[४५]

तीसरा हेतु है—'दिग्देशव्यपदेशाच्च'। यदि चक्षु प्राप्यकारी होवे तो दिशा और देश का व्यपदेश न हो; अर्थात् यह वस्तु इस दिशा में देखी, इस प्रकार का व्यवहार न हो; क्योंकि प्राप्यकारी घ्राण आदि के ग्रहण में यह निर्देश नही होता।[४६]

चतुर्थ हेतु है—'सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणाच्च।' जो गतिमान् होता है वह अपनी गति से निरन्तर चलता हुआ समीप की वस्तु को शीघ्र प्राप्त कर लेता है और दूर की वस्तु को देर से प्राप्त करता है; किन्तु (नेत्रों के द्वारा) शाखा (समीपस्थ) और चन्द्रमा (दूरस्थ) का तुल्यकाल में ही ग्रहण होता है इसलिये चक्षु अप्राप्यकारी है।[४७]

भाव यह है कि यदि चक्षुः प्राप्यकारी है तो नयनरश्मियाँ गोलक को छोड़ कर विषय के समीप जायेंगी। जो विषय दूर होगा उस तक पहुंचने में अधिक समय लगेगा और जो समीप होगा उसके निकट शीघ्र ही पहुंच जायेंगी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता नहीं। चक्षुः तो समीप और दूर की वस्तु को तुल्य समय में ही ग्रहण कर लेती है। अतः चक्षु अप्राप्यकारी है।

---

४०. तदेवं वस्तुनः सान्तरस्य ग्रहणमप्राप्यकारित्वे हेतुरुक्तम्। वही, पृ० ११७।

४१. (सान्तरम् इति ग्रहणं सान्तरग्रहणं तस्मात्)। केचित्तु सान्तरम् इति ग्रहणविशेषणं हेतुं कुर्वन्ति। न्या० वा० ता०, पृ० ११७।

४२. न्या० वा०, पृ० ३४।

४३. वही, पृ० ३४।

४४. संयोग स्वभाव से ही वस्तु के एक देश में हुआ करता है—सः द्व्याश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च, तर्कभाषा, पृ० २८।

४५. द्व्याश्रयो हि संयोगोऽल्पमेव संयोगिनमनुरुध्यते न महान्तम्। न जातु रथादिसंयोगा नभो व्यश्नुवते मा भूत्सर्वत्र रथादीनां तत्संयोगादीनां चोपलब्धिः। तेन यावन्मात्रं राष्टवनादेर्गोलकेन व्याप्तं तावन्मात्रस्य ग्रहणप्रसङ्गः। न्या० वा० ता०, पृ० ११७।

४६. न्या० वा०, पृ० ३४।

४७. वही, पृ० ३४।

यहाँ इन्द्रियों की अप्राप्यकारिता के सम्बन्ध में बौद्ध मत को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग का यह वचन उद्धृत किया है—'**सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च**'।[४७क] इस वचन का तात्पर्य रूप ही वार्तिककार के ये दोनों हेतु हैं—'अप्राप्यकारि चक्षुः सान्तरग्रहणात् पृथुतरग्रहणाच्च'।

दिग्नाग के इस वचन को उद्धृत करने के पश्चात् तात्पर्यटीकाकार ने अप्राप्यकारित्व की सिद्धि में दिग्नाग की कुछ अन्य युक्तियाँ भी इस प्रकार प्रस्तुत की हैं—"यदि कहो कि इन्द्रिय के बाहर जाने से सान्तर ग्रहण हो सकता है तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि चक्षु अपने स्थान (गोलक) से बाहर नहीं जाती; किन्तु अपने गोलक में ही अर्थात् शरीर के नियत स्थान में ही चक्षु इन्द्रिय कहलाती है। उसी स्थान पर उसकी चिकित्सा आदि की जाती है। यदि यह मान भी लिया जाये कि चक्षुरिन्द्रिय अपने गोलक से बाहर भी जाती है तो भी यह (चक्षु) बाहर विषय-दर्शन की शक्ति नहीं रखती।[४८] यदि बाहर होती हुई भी चक्षुवृत्ति विषय-दर्शन की शक्ति रखती तो एक बार आँखें खोलकर फिर आँख बन्द कर लेने पर भी रूप का दर्शन होना चाहिये; क्योंकि चक्षु खोल लेने पर बाहर भी इन्द्रिय है ही।[४९]

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि उद्योतकर ने जो चार हेतु प्रस्तुत किये हैं उनमें से प्रथम दो तो कारिका में शब्दों द्वारा ही कथित हैं किन्तु शेष दो हेतु 'च' शब्द के द्वारा स्वयं दिगनाग ने अपनी वृत्ति में बतलाये होंगे अथवा किसी अन्य टीकाकार ने इस प्रकार की व्याख्या की होगी जो अब उपलब्ध नहीं है।

वाचस्पति मिश्र के इस ग्रन्थ के अनुशीलन से एक बात और स्फुरित होती है वह यह कि प्रमाण-समुच्चय में इस प्रसंग में दो कारिकाएँ इस प्रकार रही होंगी—

सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च।
अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं तच्चिकित्सादियोगतः॥
सत्यपि च बहिर्भावे न शक्तिर्विषयेक्षणे।
यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनाद्॥

श्री H. R. R. आयंगर द्वारा पुनः संकलित (Restored) प्रमाणसमुच्चय के प्रथम परिच्छेद में केवल एक कारिका दी गई है जो इस प्रकार है—

सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च।
अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषये क्षणे॥

विचारणीय यह है कि वाचस्पति मिश्र ने जो दूसरी कारिका उद्धृत की है क्या वह प्रमाणसमुच्चय की कारिका नहीं है अथवा काल के प्रभाव से नष्ट हो गई है? तथा तिब्बती प्रमाणसमुच्चय में भी विद्यमान नहीं है।

४७क. यथोक्तं दिग्नागेन—सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च। न्या० वा० ता०, पृ० ११८।

४८. रेंगिडल ने विषयेक्षणे' के स्थान पर 'विषये -क्षणे' ये दो शब्द माने हैं।

४९. बहिर्वर्तित्वादिन्द्रियस्योपपन्नं सान्तरग्रहणमिति चेद् अत उक्तम्—'अधिष्ठानाद्बहिर्नाक्षं' किं त्वधिष्ठानदेश एवेन्द्रियम्। कुतः 'तच्चिकित्सादियोगतः'
'सत्यपि च बहिर्भावे न शक्तिर्विषयेक्षणे।
यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनाद्॥'
यदि च स्यादुन्मील्य निमीलितनयनोऽपि रूपं पश्येत्। उन्मीलनादस्ति बहिरिन्द्रियमिति।
न्या० वा० ता०, पृ० ११८।

४. इन्द्रियों का स्वरूप

इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं अथवा नहीं इसके साथ ही यह प्रश्न होता है कि बौद्ध मत में इन्द्रियों का स्वरूप क्या है ? न्याय-भाष्य में इन्द्रियों के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा गया है—"इस समय प्रमेय क्रम से विचार किया जाता है कि इन्द्रियाँ अव्यक्त से उत्पन्न होने वाली हैं या भूतों से उत्पन्न होने वाली हैं ।[५०] इस की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि वह (वात्स्यायन भाष्य का कथन) उपलक्षण मात्र है । जब इन्द्रियों को भौतिक माना जाता है तब भी यह संशय होता है कि 'जो यह (कृष्णसार) आँख का कृष्णतारा दिखलाई देता है क्या वही इन्द्रिय है अथवा उसमें स्थित तेज (रश्मियाँ आदि) इन्द्रिय है ।[५१]

यहाँ पहला संशय अर्थात् इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न होती हैं, या भूतों से सांख्य और नैयायिक के मतभेद से होता है और दूसरा संशय; अर्थात् भौतिक होने पर भी कृष्णतारा मात्र चक्षु है या उसमें रहने वाला तेज-विशेष, यह संशय बौद्ध और नैयायिकों के मतभेद के कारण होता है -[५२]

सांख्य के मतानुसार-अव्यक्त अथवा प्रकृतिरूप मूल कारण से महत् या बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहंकार नामक तत्त्व तथा अहंकार से एकादश इन्द्रियां (१ मन+५ ज्ञानेन्द्रियाँ+५ कर्मेन्द्रियाँ) । भाष्य में आव्यक्तिकानि; अर्थात् अव्यक्त से उत्पन्न होने वाली कहने का तात्पर्य-अहंकार से उत्पन्न होने वाली बतलाने का ही है; क्योंकि अव्यक्त ही मूल कारण है ।[५३]

सांख्य का मत है कि अहंकार विभु अर्थात् व्यापक है, अत: उससे उत्पन्न होने के कारण ही इन्द्रियाँ महत् तथा अणु का ग्रहण करती हैं साथ ही काच, अभ्र आदि से चक्षु आदि का व्यवधान भी नहीं होता ।

न्याय के मत में इन्द्रियाँ भौतिक हैं—पृथिव्यादि पाँच भूतों से उत्पन्न हैं । किन्तु जो गोलक रूप में दिखलाई देती हैं, वही इन्द्रियाँ नही हैं अपितु गोलक में स्थित भूत-विशेष इन्द्रियाँ हैं; अर्थात् कृष्ण-तारे में स्थित तेज -विशेष ही चक्षु कहलाती है । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी हैं । अतएव इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, हम उन का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान नहीं कर सकते; वरन् अनुमान द्वारा ही उनकी प्रतीति होती है; जैसा कि केशव मिश्र ने कहा भी है— 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् इन्द्रियम् ।[५४]

बौद्ध दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ भौतिक हैं । जो यह बाहर से प्रतीत होती है यही इन्द्रिय है अर्थात् चक्षु में कृष्णतारा ही इन्द्रिय है; क्योंकि कृष्णतारा होने पर ही दर्शन होता है, अत: कृष्ण-तारा ही चक्षु है ।[५५] सम्भवत: यह विवेचन वैभाषिक के आधार पर किया गया है: किन्तु इसका मूल-स्रोत क्या है ? यह विदित नहीं ।

५०. वात्स्यायन भाष्य, पृ० २५८ ।

५१. न्या० वा० ता०, पृ० ५२०-५२१ ।

५२. तत्र पूर्वः सांख्यनैयायिकयोर्विप्रतिपत्तेः । उत्तरस्तु सौगतनैयायिकयोरिति । न्या० वा० ता०, पृ० ५२१ ।

५३. आव्यक्तिकानि आहङ्कारिकाणि । न्या० वा०, पृ० ३७३ । अहङ्काराद्धि बुद्धिविकाराद् वैकारिकादेकादशेन्द्रियाणि जायन्त इति हि सांख्याः आव्यक्तिकत्वं त्वव्यक्तस्य मूलकारणत्वादुक्तम् । न्या० वा० ता०, पृ० ५२१ ।

५४. तर्कभाषा, पृ० २२ ।

५५. कृष्णसारे सत्युपलम्भात् कृष्णसारमेव चक्षुरिति बौद्धाः । न्या० वा० ता०, पृ० ५२१ ।

यदि कृष्णसार मात्र ही चक्षु है तथा चक्षु अप्राप्यकारी है; अर्थात् विषय को प्राप्त किये बिना ही उसका ग्रहण कर लेती है तो दो प्रकार की शंकाएँ हो सकती हैं—प्रथम यह कि यदि इन्द्रिय वस्तु के पास न जा कर तथा वस्तु के अपने पास आये बिना ही (अप्राप्त) अर्थ को ग्रहण करती है तब दीवार, चटाई आदि के आवरण इसका क्या बिगाड़ सकते हैं जिससे कि उनसे आवृत वस्तु को यह ग्रहण न करे। फिर तो दीवार आदि के पार की वस्तु भी दिखलाई देनी चाहिये।[५६] नैयायिक के मतानुसार तो चक्ष विषय के पास जा कर (प्राप्य) वस्तु को ग्रहण करती है अतः जो स्पर्श-युक्त अपारदर्शक (प्रसादरहित) दीवार आदि हैं उनसे दृष्टि रुक जाती है और वस्तु को प्राप्त नहीं करती तथा अप्राप्य का ग्रहण नहीं करती। दूसरी शंका यह है कि दूर की वस्तु दिखलाई नहीं देती और समीप की दिखलाई देती है। जब दूर की वस्तु और समीप की वस्तु दोनों ही समान रूप से अप्राप्त हैं तो दूर की वस्तु की भी उपलब्धि होनी चाहिये अथवा निकट की वस्तु भी न दिखाई देनी चाहिये।[५७] नैयायिक के मत में तो चक्षु प्राप्त वस्तु को ग्रहण करती है अतः चक्षु दूर जाने में शक्तिहीन होकर (दूर की) अप्राप्त अतैजस घट आदि वस्तु का ग्रहण नहीं करती। और दीप्तिमान् (तैजस) वस्तु का रूप किसी अन्य तेज से अभिभूत हो जाता है तो उसे भी नहीं ग्रहण करती; जैसे कि मध्याह्न में सूर्य के तेज से अभिभूत हो जाने के कारण उल्का के प्रकाश को ग्रहण नहीं करती। जो तेज किसी से अभिभूत नहीं; उसे (दूर होते हुए भी) ग्रहण करती ही है; जैसे सूर्यमण्डल को।[५८]

इन दोनों शंकाओं के उत्तर में बौद्ध कहता है—(विषयीभावात्) जो चक्षु का विषय होता है उसकी उपलब्धि होती है जो विषय नहीं होता उसकी उपलब्धि नहीं होती। व्यवहित और दूरी पर स्थित अर्थ चक्षु के विषय नहीं होते। इसलिए उनका ग्रहण नही होता।[५९] इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र बौद्धों का भाव प्रकट करते हुए लिखते हैं—"अपने कारणों से एक ऐसा योग्य इन्द्रियक्षण उत्पन्न हो जाता है तथा अर्थ क्षण भी जिनका प्राप्त हुए बिना ही ग्रहण ग्राह्य सम्बन्ध हो जाता है। जो वस्तु व्यवधान से रहती हैं या दूर हैं ये वैसी नहीं हो पाती अतः अप्रतीयमान प्राप्ति (सन्निकर्ष) की कल्पना करने से क्या लाभ ?[६०]

बौद्धों के मत में इन्द्रिय और अर्थ दोनों ही क्षणभङ्गुर हैं। इन्द्रिय में तथा अर्थ में प्रतिक्षण पूर्व २ का विनाश तथा अग्रिम (उत्तर) की उत्पत्ति होती रहती है अतः स्वकारणों की महिमा से इन्द्रियों का योग्य क्षण उत्पन्न हो जाता है और इसी प्रकार अर्थ का भी

---

५६. इन्द्रियं यद्यगत्वाऽनागतमर्थं गृह्णीयात् किमस्य कुड्यकटाद्यावरणमपकुर्यात्। येन तदावृतं न गृह्णीयात्। न्या० वा० ता०, पृ० १२१ पं० १-३।

५७. दूरे नोपलभ्यते, अन्तिके चोपलभ्यते, अप्राप्तेरविशेषेण दूरेऽभ्युपलम्भः स्यात् अनुपलम्भे वाऽन्तिकेऽपि न स्यात्। न्या० वा० ता०, पृ० १२१ पं० ६-११।

५८. प्राप्तौ तु दूरं गच्छत् प्रक्षीणं सत् प्राप्तमर्थं न गृह्णाति अतैजसं तैजसमप्यभिभूतं न गृह्णाति यथोल्काप्रकाशं मध्यन्दिने, अनभिभूतं तु मार्तण्डमण्डलं गृह्णात्येवेति। न्या० वा० ता०, पृ० १२१ पं० ११-१४।

५६. न्या० वा०, पृ० ३६ पं० ३-५।

६०. योग्यो हि तादृश इन्द्रियक्षणः स्वकारणादुपजातः परिणतो वाऽर्थक्षणश्च ययोरप्राप्तयोरेव ग्रहणग्राह्यभावः, व्यवहितविप्रकृष्टौ च न तौ तादृशौ तत्किमप्रतीयमानप्राप्तिकल्पनया। न्या० वा० ता०, पृ० १२१ पं० १५-१७।

तब इन्द्रिय अर्थ का ग्रहण कर लेती है। इस अवस्था को ही विषयीभाव कहा जाता है; अर्थात् जो अर्थ इन्द्रिय का विषय हो जाता है, उसका ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन को सन्निकर्ष की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस विषय में उद्योतकर का कथन है कि सम्बन्ध के अतिरिक्त विषयीभाव और क्या हो सकता है? केवल नाममात्र का भेद है। न्याय जिसे (सन्निकर्ष) सम्बन्ध कहता है बौद्धदर्शन उसे विषयीभाव कह देता है। इसमें कोई भेद नहीं।[६१] इसका उपसंहार करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि सम्बन्ध के बिना विषयीभाव नहीं बन सकता, यह कह दिया गया है।[६२]

५. प्रत्यक्ष के चार भेद

बौद्ध दर्शन के विकसित रूप दिग्नाग सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष के चार भेद माने गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में इन भेदों का उल्लेख किया है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया कि बौद्ध-दर्शन को प्रत्यक्ष के कितने भेद अभीष्ट हैं तथापि सर्वज्ञता पर विचार करते हुए कई प्रकार के प्रत्यक्ष का स्वरूप दिखलाया गया है; जैसे—

(क) **इन्द्रिय-प्रत्यक्ष**—प्रसंग यह है कि बौद्ध-दर्शन के मतानुसार सर्वज्ञ ही हित-कामना से प्राणियों को कर्तव्य में नियुक्त करता है। प्रतिपक्षी कहते हैं कि किसी मानव में इस सर्वज्ञता की सम्भावना नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्यक्ष के किसी प्रकार द्वारा भी समस्त वस्तुओं का ज्ञान सम्भव नहीं। जसे कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही लीजिये—**न प्रत्यक्षं चक्षुरादिजन्म तावत् सर्वार्थेषु सम्भवति। कुतः? तेषां चक्षुरादीनां विषयनियमात्। न्याय-कणिका, पृ० ११६ पं० १०।** "अर्थात् नेत्र आदि से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष तो समस्त अर्थों का हो नहीं सकता; क्योंकि उन (चक्षु आदि) का विषय नियत हैं।"

चक्षु इत्यादि पाँचों इन्द्रियों के रूप इत्यादि पांच विषय नियत है। जैसा कि ऊपर कहा गया है,[६३] ज्ञान के चार कारण होते हैं। उनमें रूप आदि आलम्बन प्रत्यय कहलाते हैं। इन्हीं के नाम पर विज्ञान का भी व्यपदेश किया जाता है, जैसे रूपविज्ञान इत्यादि। इन्द्रिय के आश्रित होने के कारण इस प्रत्यक्ष को 'इन्द्रिय ज्ञान' भी कहा जाता है।[६४] इन इन्द्रियों के अपने पृथक्-पृथक् विषय हैं। चक्षु रूप को ही देखती है, यह शब्द को नहीं सुनती। इसी प्रकार श्रोत्र का विषय शब्द है, रूप नहीं। इसी हेतु इन्द्रियों द्वारा समस्त विषयों का ज्ञान होना सम्भव नहीं, यह भाव है।

(ख) **मानस प्रत्यक्ष**—मानस प्रत्यक्ष भी समस्त विषयों का नहीं हो सकता यह दिखलाते हुए न्यायकणिका में मानस प्रत्यक्ष का निरूपण इस प्रकार किया गया है—"हम (बौद्ध) चक्षु आदि के समान मन नाम की कोई इन्द्रिय नहीं मानते हैं; किन्तु (ज्ञानों का प्रवाह मात्र ही मन है) पूर्वविज्ञान ही अग्रिम ज्ञान का कारण होता है। (किसी विज्ञान की सन्तति में) वह पूर्व विज्ञान ही समनन्तर प्रत्यय कहलाता है; क्योंकि वह विज्ञान रूप में

---

६१. न्या० वा०, पृ० ३६ पं० ६–६।

६२. तस्मान्न सम्बन्धमन्तरेण विषयीभाव इति सूक्तम्। न्या० वा० ता०, पृ० १२१–२२।

६३. ऊपर, परि० ३ अनु० ६।

६४. मि० इन्द्रियस्य ज्ञानमिन्द्रियज्ञानम्। इन्द्रियाश्रितं यत्तत् प्रत्यक्षम्। न्यायबिन्दु टीका, पृ० १७।

(अग्रिम ज्ञान के) समान होता है (सम) और दोनों के बीच में कोई व्यवधान नहीं होता अतः वह अनन्तर (अन्तर रहित) होता है (सम+अनन्तर=समनन्तर)।[६५] किसी इन्द्रिय से उत्पन्न विज्ञान रूपी समनन्तर प्रत्यय के साथ मिलकर उस इन्द्रिय जन्य[६६] निर्विकल्पक ज्ञान के विषयक्षण से उत्पन्न होने वाले द्वितीय रूपक्षण[६७] (जो कि इन्द्रियजन्य ज्ञान के समान कालीन होता है) के द्वारा, इन्द्रिय-व्यापार विश्रान्त हो जाने पर, अपने उत्पादक क्षण (द्वितीय अर्थ क्षण) के विषय में जो विशद ज्ञान होता है, वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है।

यह इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि इन्द्रिय व्यापार के समाप्त हो जाने पर होता है। इस का विषय मानस (आन्तर) भी नहीं, क्योंकि यह इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय होने वाले प्रथम क्षण से उत्पन्न द्वितीय क्षण के विषय से हुआ करता है।[६८] (बाह्य वस्तु का मानस प्रत्यक्ष मानने पर) यह दोष भी नहीं आता कि फिर तो कोई अन्धा या बहरा नहीं होगा, क्योंकि ये (अन्ध और बधिर) इन्द्रिय रहित हैं अतः वहाँ इन्द्रियजन्य विज्ञान न होने के कारण (मानस प्रत्यक्ष का) उपादान ही नहीं होता तथा मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह ज्ञान अप्रत्यक्ष भी नहीं है; क्योंकि इसका स्फुट आभास होता है।[६९]

न्यायकणिका का यह स्थल कुछ दुरूह सा है। बौद्धग्रन्थों, विशेषकर धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु तथा मोक्षाकर गुप्त की तर्कभाषा में मानस प्रत्यक्ष का विशद विवेचन किया गया है।[७०] संक्षेप में भाव यह है कि प्रथम क्षण में इन्द्रिय के द्वारा नीलक्षण का प्रत्यक्ष होता है और इन्द्रिय व्यापार समाप्त हो जाता है। इस नीलक्षण से इन्द्रियज्ञान के समानकाल में द्वितीय नील क्षण की उत्पत्ति होती है तब द्वितीय नीलक्षणविषयक जो मानसिक ज्ञान होता है वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है। इस मानस प्रत्यक्ष में इन्द्रिय विज्ञान उपादान है जिसे बौद्ध दर्शन में समनन्तर प्रत्यय कहा जाता है। इसका विषय बाह्य नील

---

६५. शकन्धु (शक+अन्धु) आदि के समान यहां भी पररूप हो जाता है, शकन्ध्वादि आकृतिगण है।

६६. तदिन्द्रियजविषयक्षणोपादानेन तदिन्द्रियजं यद ज्ञानं तस्य विषयक्षणम् उपादानं यस्य (रूपक्षणान्तरस्य) यह समास है।

६७. "रूपक्षणान्तरेण" यह पाठ है। मि० BL. Vol. II, p. 319.

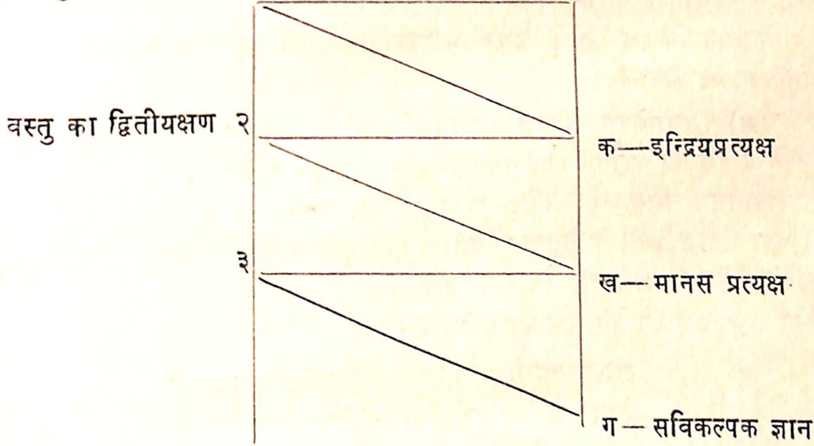
६८. इन्द्रियजविषयविज्ञानविषयक्षणजनितक्षणान्तरगोचरत्वात्-श्चेरबात्स्की के अनुसार इसका समास-विग्रह इस प्रकार है—इन्द्रियजस्य (निर्विकल्पकस्य) यो विषयः (स्वलक्षणम्) तस्य यद् विज्ञानम् (निर्विकल्पकम्) तस्य (निर्विकल्पस्य) यो विषयक्षणः (प्रथमो विषयक्षणः) तेन यज जनितं क्षणान्तरम्। रूपक्षणान्तरं (द्वितीयविषयक्षणः) तस्य गोचरत्वम् तस्मात्। B L. II; p. 320 fn. 1. यदि यहाँ इन्द्रियज के पश्चात 'विषय' शब्द न होता तो अर्थ की स्पष्टता अधिक रहती।

६९. न खलु मनो नाम चक्षुरादिवत् किञ्चिदिन्द्रियान्तरं रोचयामहे, किन्तु पूर्वमेव विज्ञानं चरमज्ञानस्योपादानमाचक्ष्महे। तदेव हि समं विज्ञानत्वेनाऽनन्तरं चाऽव्यवहितत्वेन समनन्तरप्रत्यय इत्युच्यते। तत्र यदिन्द्रियजविज्ञानसमनन्तरप्रत्ययसहकारिणा तदिन्द्रियजविषयक्षणोपादानेन रूपक्षणान्तरेणेन्द्रियजविज्ञानसमानकालेन जनितं स्वजनकक्षणविषयं विशदाभमुपरतेन्द्रियव्यापारस्य ज्ञानं तन्मानसं प्रत्यक्षम्।
न तदिन्द्रियजं, तद्व्यापारोमरमे भावात्। नान्तरविषयम्। इन्द्रियजविषयविज्ञानविषयक्षणजनितक्षणान्तरगोचरत्वात्। न चान्धबधिराद्यभावः। तेषामिन्द्रियरहिततया तज्जविज्ञानाभावेनोपादानविरहात्। न चाऽप्रत्यक्षं, विशदाभासत्वादिति। न्यायकणिका, पृ० १२०।

७०. न्यायबिन्दु, पृ० १३। तर्कभाषा, पृ० १०।

आदि का द्वितीय क्षण है। यह मानस प्रत्यक्ष इन्द्रियज्ञान से ही उत्पन्न होता है अतः जिसे चक्षुर्विज्ञान नहीं होता, उसे चाक्षुष ज्ञान के अनन्तर होने वाला मानस प्रत्यक्ष भी नहीं होता।

इस प्रकार एक ही वस्तु के दो अव्यवहित क्षणों में प्रथम क्षण से इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और द्वितीय क्षण से मन द्वारा जो अनुभव होता है वह मानस प्रत्यक्ष है। श्चेरबात्स्की के अनुसार मानस प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक (इन्द्रियजन्य) प्रत्यक्ष और सविकल्पक ज्ञान के बीच की एक स्थिति कहा जा सकना है।[७१] इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष तथा सविकल्पक ज्ञान का यह क्रम निम्न रूप में प्रकट किया जा सकता है।



(ग) भावनामय प्रत्यक्ष या योगी-प्रत्यक्ष—भावनामय प्रत्यक्ष पर विचार करते हुए न्यायकणिका में बौद्धों की ओर से कहा गया है—"अच्छा, इन्द्रियज और मानस प्रत्यक्ष सर्वविषयक न हों तब भी भावनामय प्रत्यक्ष तो सर्वविषयक हो सकता है; क्योंकि उपदेश-रूपी ज्ञान से समस्त वस्तुओं के विषय में नैरात्म्य आदि का ग्रहण करके और युक्तिमय विज्ञान से उसकी यथार्थता (भूतता)[७२] को निश्चित करके तथागत पुनः-पुनः चित्त में धारणरूप भावनाप्रकर्ष[७३] से उत्पन्न होने वाले उस प्रत्यक्ष विज्ञान को जिसका आलम्बन निज रूप (आत्मादिरूप) से लेकर विश्वपर्यन्त सकल[७४] जगत् है, हाथ पर रक्खे हुए कमल के समान ग्रहण कर लेंगे।[७५]

---

७१. This mental sensantion is an intermediate step between pure sansation and the work of the understanding. B L. Vol. I, p. 162.

७२. भूतः सद्भूतोऽर्थः। प्रमाणेन दृष्टश्च सद्भूतः। न्यायबिन्दुटीका, पृ० १४। प्रमाणोपपन्नार्थः मोक्षाकर गुप्त, तर्कभाषा, पृ० ११।

७३. भावना पुनः पुनः चेतसि समारोपः (मो०) तर्कभाषा, पृ० ११।

७४. यहाँ 'अवयवेन' के स्थान पर अनवयवेन (साकल्येन) पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

८४. ननु मा भूदिन्द्रियजं मानसं च प्रत्यक्षं सर्वविषयं, भावनामयं तु भविष्यति। तथा हि—श्रुतमयेन विज्ञानेन समस्तवस्तुनैरात्म्यादि गृहीत्वा युक्तिमयेन च भूततामस्य व्यवस्थाप्याऽसकृच्चेतोनिवेशनरूपभावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्म प्रत्यक्षं विज्ञानमवयवेनाऽऽत्मादिरूपविश्वालम्बनं करतलाऽरविन्दविषयमिवाऽतिविशदं भावयिष्यति तथागतः। न्यायकणिका, पृ० १४१-१४२।

इस भावनामय प्रत्यक्ष को योगी—प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। न्यायकणिका में अत्यन्त संक्षेप से इसका निरूपण किया गया है। यह निरूपण न्यायबिन्दुटीका के एतद्विषयक विवेचन का सारांशमात्र है। न्यायबिन्दुटीका (पृ० १४) में इसका विशद विवेचन किया गया है। भावनामय प्रत्यक्ष का तात्पर्य यह है कि प्रमाणों से जाने गये अर्थ को भूत या सद्भूत अर्थ कहते हैं। बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध चार आर्यसत्यों एवं नैरात्म्य आदि का उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त करके योगी अपने मन में बार २ उसका मनन करता है। यही भूतार्थ—भावना कहलाती है। जब इस भावना द्वारा अनुभूत अर्थ में स्फुटाभता आना आरम्भ हो जाता है तो भावनाप्रकर्ष कहलाता है। स्फुटता की पूर्णता प्राप्त होने की अवस्था से पूर्वावस्था 'भावनाप्रकर्षपर्यन्त' कही जाती है। इस अवस्था में भाव्यमान वस्तु ऐसी प्रतीत होने लगती है जैसे अभ्रक या काच से व्यवहित वस्तु भासित होती है। इस अवस्था के पश्चात् योगी को भाव्यमान वस्तु हस्तामलकवत् स्फुट रूप में भासित होती है। यही भावनामय प्रत्यक्ष है। इसमें भाव्यमान अर्थ का स्फुट रूप से आभास होता है तथा यह निर्विकल्पक होता है।

(घ) **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष**—न्यायकणिका के प्रस्तुत प्रसंग में बौद्धदर्शन के तीन प्रकार के प्रत्यक्ष का वर्णन किया गया है—(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष और (३) भावनामय प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष के चतुर्थ भेद 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' का यहाँ निरूपण नहीं किया गया। बौद्ध दर्शन के अनुसार विज्ञान तथा सुख आदि का अनुभव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में ही अन्य स्थल पर प्रमाणवार्तिक की कारिका उद्धृत करते हुए सुख आदि के स्वसंवेदन का निरूपण किया है—

अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी॥

न्यायकणिका, पृ० १९० (प्र० वा०, २.२४९)।

"अर्थात् सुख आदि का स्वरूप (आत्मा) अन्य से सम्बन्ध नहीं रखता (स्वरूपमात्र में ही स्थित है) इसलिए इसमें शब्द का संकेत नहीं किया जा सकता (अशक्यसमय:) तथा सुख आदि का बोध वाचक शब्द के संसर्ग से रहित होता है और निर्विकल्पक सम्यक् ज्ञान होने के कारण वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है।"

सर्वज्ञता के प्रकरण में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का निर्देश न करने का कारण यह हो सकता है कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय नियत है उसके द्वारा केवल सुख आदि का प्रत्यक्ष होता है अत: उससे समस्त पदार्थों को जानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

६—क्या बौद्धदर्शन के अनुसार मन भी इन्द्रिय है?

बौद्ध-दर्शन में मानस प्रत्यक्ष को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के भिन्न कहा गया है। इससे एक प्रश्न उठता है, वह यह कि जैसे नैयायिक मन को इन्द्रियविशेष ही मानता है; क्या इसी प्रकार बौद्ध दर्शन भी मन को इन्द्रियों में स्वीकार करता है? इसका उत्तर बौद्ध-दर्शन की ओर से वाचस्पति मिश्र के शब्दों में यह है—'**न खलु मनो नाम चक्षुरादिवत् किञ्चिदिन्द्रियान्तरं रोचयामहे, किन्तु पूर्वमेव विज्ञानं चरमज्ञानस्योपादानमाचक्ष्महे**।[७९] "अर्थात् हम मन नाम की कोई अन्य इन्द्रिय नहीं मानते, किन्तु पूर्व विज्ञान को ही अपरविज्ञान का कारण बतलाते है।

७९. न्यायकणिका, पृ० १२० पं० ७।

अब प्रश्न यह है कि यदि बौद्धदर्शन मन को इन्द्रियों में नहीं मानता तो न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में उद्धृत निम्न उक्ति का क्या तात्पर्य है ? तदिदमुक्तं दिग्नागेन—"सुखादिप्रमेयं वा मनो वास्तीन्द्रियान्तरम् ।[७७]—"अर्थात् या तो सुख आदि प्रमेय नही हैं—अथवा मन नाम की अन्य इन्द्रिय है यह कहना चाहिये ।"

इस उक्ति पर प्रकरण के अनुसार विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इससे यह प्रकट नहीं होता कि दिग्नाग मन को इन्द्रिय मानते थे । प्रसंग यह है कि न्यायसूत्र में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं···प्रत्यक्षम् ।'—यह प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है । सुख-दु:ख का भी प्रत्यक्ष होता है, यह उभयवादी (बौद्ध तथा न्याय) सम्मत बात है । किन्तु प्रत्यक्ष का यह लक्षण सुख आदि के प्रत्यक्ष में घटित नहीं होता; क्योंकि सुख आदि का प्रत्यक्ष मन से होता है और सूत्रकार ने जहाँ इन्द्रियों की गणना की है,[७८] वहाँ मन को नहीं गिनाया अत: मन भी इन्द्रिय है इसमें कोई प्रमाण नहीं और सुखादि के प्रत्यक्ष में न्यायसूत्रोक्त प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं घटता तथा इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है । इस दोष को दिखलाने के लिये ही दिग्नाग ने उपर्युक्त आक्षेप किया है।

इस आक्षेप के समाधान के लिये यदि नैयायिक कहते हैं कि मन भी इन्द्रिय है, यह तन्त्रान्तर (समानतन्त्र वैशेषिक) के आधार पर जान लिया जाता है; क्योंकि वैशेषिक ने मन को इन्द्रिय माना है और न्यायदर्शन ने उसका निषेध नहीं किया । शास्त्रीय न्याय है—'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्ति:' अर्थात् समानतन्त्र के जिस मत का प्रतिषेध नहीं किया जाता, वह अभीष्ट समझा जाता है ।[७९] इस पर दूसरा आक्षेप करते हुए दिग्नाग कहते हैं—**'अनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा'** ।[८०] "अर्थात् यदि (मन के इन्द्रियत्व का) निषेध न करने के कारण मन का इन्द्रिय होना मान लिया गया है (उपात्तं=गृहीतं, स्वीकृतम्) तो (सूत्रकार ने) अन्य इन्द्रियों के निर्देश करने का कष्ट भी व्यर्थ ही किया ।[८१]

इस प्रकार दिग्नाग की इस उक्ति से न्यायोक्त प्रत्यक्ष के लक्षण में दोष मात्र दिया गया है । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दिग्नाग मन को इन्द्रिय मानते थे । हाँ, सर्वास्तिवादियों के मतानुसार पांच बाह्येन्द्रियों के साथ मन को छठी इन्द्रिय अवश्य माना गया था[८२] और मन इन्द्रिय को षडायतन में गिना गया था । दिग्नाग सम्प्रदाय में मन को इन्द्रिय के रूप में नहीं माना गया अपितु पूर्वविज्ञान ही उत्तर विज्ञानों का कारण मान लिया गया, जिसे ज्ञान की उत्पत्ति में समनन्तर प्रत्यक्ष के नाम से पुकारा गया है ।

७. बौद्ध-दर्शन में सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं

न्याय-वैशेषिक का विकसित स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद मानता है—(१) निर्विकलपक और (२) सविकल्पक । इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होने पर जो नाम (गो शब्द आदि) जाति (गोत्व आदि) की योजना से रहित वस्तु मात्र को प्रकट करने वाला

---

७७. न्या० वा० ता०, पृ० १४६ पं० १३ ।

७८. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः । न्यायसूत्र, १.१.१२ ।

७९. न्यायसूत्र वात्स्यायन भाष्य, १.१.४ ।

८०. न्या० वा० ता०, पृ० १४७ ।

८१. टिप्पणी ७७ तथा ८० में संकेतित पंक्तियों को न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में अलग २ दिया गया है, किन्तु जैसा कि विद्याभूषण ने उल्लेख किया है तथा रेन्डिल (FFD., p. 13.) ने भी माना है, ये दोनों पंक्तियाँ एक छन्द के चरण हैं । देखिये, प्रमाणसमुच्चय, १.२१ ।

८२, BL. Vol. I, p. 166.

'यह कुछ है' इस प्रकार का ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है । इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पश्चात् जो नाम जाति आदि सहित 'यह ब्राह्मण है', 'यह श्याम है' इस प्रकार का विशेषण-विशेष्य-विषयक ज्ञान होता है, वह सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है।[८३] किन्तु न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य तथा न्यायवार्त्तिक में इन दो भेदों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। न्याय-सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदों की स्पष्ट विवेचना का श्रेय वाचस्पति मिश्र को ही है। और, इन्हें अपने गुरु त्रिलोचन से एतद्विषयक प्रेरणा मिली थी। वाचस्पति मिश्र ने 'अव्यपदेश्य' पद की व्याख्या करते हुए दिखलाया है:—

"यहां (न्यायशास्त्र में) दो प्रकार की प्रत्यक्ष जाति है—एक अविकल्पिका दूसरी सविकल्पिका। ये दोनों जातियाँ 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यभिचारि' इस लक्षण से संगृहीत होने पर भी स्पष्ट रूप से शब्दों द्वारा कही गई हैं; क्योंकि उनके विषय में मत-भेद है। सूत्र में अविकल्पक के लिए अव्यपदेश्य और सविकल्पक के लिए व्यवसायात्मक पद दिया गया है। व्यपदेश शब्द का अर्थ है—विशेषण या उपलक्षण अर्थात् नाम जाति आदि। उसका कर्म व्यपदेश्य अर्थात् विशेष्य कहलाता है, जैसे—यह डित्थ है, यह गौ है, यह शुक्ल है, यह कमण्डलुधारी है, यह जाता है—इस प्रकार के समस्त सविकल्पक ज्ञान विशेषण-विशेष्यरूप से वस्तुओं में होते हैं। जिसमें व्यपदेश्य (विशेष्य) नहीं होता वह अव्यपदेश्य कहलाता है; अर्थात् ऐसा ज्ञान जो जाति आदि के स्वरूप (मात्र) के विषय में होता है, जाति आदि के परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव के विषय में नहीं, वही ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है[८४]।"

सूत्र से सविकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—व्यवसायात्मक पद साक्षात् सविकल्पक का वाचक है; क्योंकि व्यवसाय, विनिश्चय, विकल्प ये (शब्द) समानार्थक हैं। वह व्यवसाय है आत्मा अर्थात् स्वरूप जिसका वह सविकल्पक है।[८५] वाचस्पति मिश्र की इस नवीन व्याख्या को देखकर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वात्स्यायन मुनि और उद्योतकर ने तो 'व्यवसायात्मक' पद का ऐसा अर्थ नहीं किया फिर यह अर्थ किस आधार पर संगत कहा जा सकता है ? वाचस्पति मिश्र ने इसका समाधान करते हुए बतलाया है "न्यायभाष्यकार वात्स्यायन और वार्त्तिककार उद्योतकर ने इसकी व्याख्या यह समझ कर नहीं की कि यह बात अत्यन्त स्पष्ट है अतः शिष्य इसे समझते ही होंगे, किन्तु हम (वाचस्पति मिश्र) ने तो त्रिलोचन गुरु के उद्घाटित मार्ग का अनुसरण करके प्रमाणों के अनुकूल तथा तथ्य के अनुकूल होने से इस प्रकार की व्याख्या की है।[८६]"

---

८३. मि०, तर्कभाषा, पृ० ६।

८४. इह द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पिका सविकल्पिका चेति । तत्रोभयी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन संगृहीताऽपि स्वशब्देनोपात्ता । तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्राविकल्पिकायाः पदमव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति । तत्र व्यपदेशो विशेषणमुपलक्षणं वा नामजात्यादि, तत्कर्म्म व्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत् । तद्यथा डित्थोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं कमण्डलुमानयं गच्छत्ययमिति, सर्वं हि सविकल्पकं विशेषणविशेष्यभावेन वस्तुषु प्रवर्त्तते । अविद्यमानं व्यपदेश्यं यस्मिंस्तदव्यपदेश्यं जात्यादिस्वरूपावगाहि, न तु जात्यादीनां मिथो विशेषणविशेष्यभावावगाहीति यावत् । न्या० वा० ता०, पृ० १२५ ।

८५. व्यवसायात्मकपदं साक्षात् सविकल्पकस्य वाचकं तथा हि व्यवसायो विनिश्चयो विकल्प इत्यनर्थान्तरं स एवात्मा रूपं यस्य तत्सविकल्पकं प्रत्यक्षम् । न्या० वा० ता०, पृ० १३३ ।

८६. तदेतदतिस्फुटत्वात् शिष्यैर्गम्यत एवेति भाष्यवार्त्तिककाराभ्यामव्याख्यातमपि अस्माभिः—
त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥ न्या० वा० ता०, पृ० १३३ ।

इससे स्पष्ट है कि त्रिलोचन एवं वाचस्पति मिश्र से पूर्व न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य तथा न्यायवार्त्तिक आदि में निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की पृथक् २ व्याख्या नहीं की गई। प्रशस्तपाद भाष्य में भी इनका भेद बहुत स्पष्ट नहीं हो पाया।[८७] इसी प्रकार अन्य वैदिक दर्शनों के सूत्र तथा भाष्यों में भी इनका भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का कथन है कि भारतीयदर्शन में निर्विकल्पक और सविकल्पक का स्पष्ट रूप से भेद करने वाले आचार्य दिग्नाग हैं।[८८] विद्वानों से यह भी छिपा नहीं है कि वैदिक दर्शन के क्षेत्र में सर्वप्रथम कुमारिल भट्ट ने निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दो प्रकार के प्रत्यक्ष का विवेचन किया है।[८९] वाचस्पति मिश्र ने निर्विकल्पक और सविकल्पक का निरूपण करते हुए अपने मत के समर्थन हेतु 'निरुक्तकार' के नाम से निम्न मत उद्धृत किया है—

यथाहुर्निरुक्तकाराः—निर्विकल्पकबोधेन द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनो ग्रहणम्। तथा—

ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।

बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता॥ न्या० वा० ता०, पृ० १३५।

यहाँ निरुक्तकार के नाम से कुमारिल भट्ट का उल्लेख किया गया है।[९०]

बौद्ध दार्शनिकों ने सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना। वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध-दर्शन के इस मन्तव्य का न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में स्पष्टरूप से विवेचन किया है। सविकल्पक को प्रत्यक्ष न मानने में बौद्धदर्शन की मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार दिखलाई गई हैं:—

(क) अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में शब्द आदि का संसर्ग नहीं हो सकता—
"व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक, सविकल्पक) ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका भान (प्रतिभास) वाचक शब्द (अभिलाप) से सम्बन्ध के योग्य होता है और इन्द्रिय तथा अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को, जिसमें (विशुद्ध) अर्थ का भास होता है, वाचक शब्द से युक्त नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि अर्थ में शब्द (विद्यमान) नहीं होते (क्योंकि शब्द न तो अर्थ में रहते हैं न उससे उत्पन्न होते हैं) और न ही शब्द और अर्थ की एकात्मता ही है। यदि ऐसा होता तो जिसे शब्दों का अर्थबोध नहीं (अव्युत्पन्न) वह भी अर्थ को जानने वाले के समान व्यवहार किया करता (किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता)। वाचक शब्द परमार्थसत् वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।[९१] वह ज्ञान (संवेदन) का धर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य अर्थ में ही शब्द का प्रयोग किया जाता है।[९२] इसलिए अर्थ से होने वाला ज्ञान अर्थ को ही प्रकट करेगा वाचक शब्द को नहीं, जैसे रूप से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष उसे (रूप को) रससहित कभी नहीं दिखलाता (इसी प्रकार अर्थ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान उस अर्थ को वाचक शब्द से युक्त नहीं प्रकट कर सकता)। इसलिये ज्ञाता लोग नाम जाति आदि से युक्त सविकल्पक ज्ञान को भ्रान्ति के कारण अनुभव से उत्पन्न-सा मान लेते हैं, क्योंकि यह सविकल्पक ज्ञान नाम जाति आदि से रहित

---

८७. डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, Critique of Indian Realism. XII. 5.
८८. वही, XII. 6.
८९. मि०, विद्याभूषण, HIL: p. 138.
९०. मि०, BL. Vol. II. p. 265 fn. 10-तथा श्लोकवार्त्तिक (प्रत्यक्ष ११८-१२०)।
९१. अर्थासंस्पर्शश्च अतद्वृत्तित्वाद् अतदुत्पादाच्च। परिशुद्धि, पृ० ५७४।
९२. बाह्येष्वर्थेषु तस्य अभिलापस्य नियोजनात्। नियमतो बाह्यसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः। वही, पृ० ५७४।

वस्तु को उनसे सम्बन्ध रखने वाली के समान दिखला देता है। यह (अर्थ-जन्य नहीं होता) केवल मानस (मन से कल्पित) होता है जो अनादि वासनाओं के द्वारा उत्पन्न हुआ करता है और अनियत अर्थ का ग्राहक होता है (क्योंकि यह स्वलक्षणविषयक नहीं होता अपितु सामान्यलक्षणविषयक होता है)। यह ज्ञाता का अपना कल्पित (आत्मीयम् उत्प्रेक्षालक्षणम्) होता है। किन्तु ज्ञाता लोग कल्पना-व्यापार की उपेक्षा करके (तिरस्कृत्य) इसे अनुभव से उत्पन्न हुआ-सा समझ लेते हैं अर्थात् उन्हें यह भ्रान्ति हो जाती है कि 'यह गौ है' ऐसा अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा ही हो रहा है।[९३]

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि जो (ज्ञान) अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला है वह शब्द आदि की कल्पना से युक्त नहीं होता; जैसे निर्विकल्पक ज्ञान है। विवाद के विषयभूत ज्ञान (विकल्प) भी अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाले हैं। (इसलिये ये शब्द आदि की कल्पना से युक्त नहीं हो सकते) यह प्रसंग साधन के विरुद्धव्याप्तोपलब्धि है।[९४]

इस विरुद्धव्याप्तोपलब्धि[९५] का स्वरूप इस प्रकार दिखलाया गया है—"यहाँ (प्रत्यक्ष में) शब्द-कल्पना आदि से युक्त (अनुगत) होने का प्रतिषेध करना है। यही प्रतिषेध्य अर्थात् प्रतिषेध का विषय है। इसके विरुद्ध है—शब्द-कल्पना से युक्त न होना। इसी के साथ अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होने (अर्थसामर्थ्यजत्व) की व्याप्ति है (अर्थात् जो ज्ञान अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला है वह शब्द-कल्पना से युक्त नहीं होता)। (अर्थसामर्थ्यजत्व) की उपलब्धि शब्द-कल्पना के न होने को सिद्ध करती है तथा शब्द-कल्पना के होने का विरोध करती है। अर्थात् अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान (प्रत्यक्ष) में शब्द-कल्पना का संसर्ग नहीं हो सकता।[९६]

(ख) जिस ज्ञान में शब्द आदि का संसर्ग होता है वह प्रत्यक्ष नहीं होता— सविकल्पक की प्रत्यक्षता का खण्डन करने के लिए इसके आगे न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका

९३, स्यादेतत्—न व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं भवितुमर्हति अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं हि तत्। न चेन्द्रियार्थाभ्यां लब्धजन्म विज्ञानमर्थावभासं शक्यमभिलापेन योजयितुम्। न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्नवद् व्यवहारः स्यादित्युक्तम्। न चाभिलापोऽर्थासंस्पर्शी संवेदनधर्म्मोऽर्थेषु तन्नियोजनात् तस्मादर्थादुपजायमानं ज्ञानमर्थमेवाद-र्शयेन्नाभिलापम्। न हि रूपाज्जायमानं प्रत्यक्षं रससहितमेतदादर्शयति। तस्मादभिलाप-संसर्गानपेक्षमभिलापसंसर्गिणमादर्शयद्विकल्पविज्ञानं विकल्पवासनोत्थापितमनियतार्थग्राहि मानसमात्मीयमुत्प्रेक्षालक्षणं व्यापारं तिरस्कृत्यानुभवप्रभवतयाऽभिमन्यन्ते प्रतिपत्तारः। न्या० वा० ता०, पृ० १३३-१३४।

९४. तत्सिद्धमेतद् यदर्थसामर्थ्यलब्धजन्म न तच्छब्दकल्पनानुगतं यथा निर्विकल्पकम्, अर्थ-सामर्थ्यलब्धजन्मानश्च विवादाध्यासिता विकल्पा इति प्रसङ्गसाधनविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः। वही, पृ० १३४।

९५. विरुद्धव्याप्तोपलब्धि बौद्ध न्याय के अनुमान-प्रयोग का एक रूप है। इसका अर्थ है—प्रतिषेध्य (जिसका प्रतिषेध करना है) के विरुद्ध से व्याप्त अन्य धर्म की उपलब्धि। जैसा कि कहा गया है—प्रतिषेध्यस्य यद् विरुद्धं तेन व्याप्तस्य धर्मान्तरस्योपलब्धिः। न्यायबिन्दुटीका, पृ० ३८।

९६. शब्दकल्पनानुगतत्वस्य हि प्रतिषेध्यस्य विरुद्धं तदननुगतत्वं तेनाऽर्थसामर्थ्यजत्वं व्याप्तं तस्योपलब्धिस्तदननुगतत्वमुपस्थापयन्ती तदनुगतत्वं विरुणद्धीति। न्या० वा० ता०, पृ० १३४।

में निम्न प्रकार से युक्ति प्रत्युक्तियाँ दी गई हैं—(नैयायिक)—इन (यह घट है इत्यादि) ज्ञानों में प्रत्यक्ष (भासित) होने वाले वाचक शब्द के संसर्ग का निषेध नहीं किया जा सकता।[९७]

(बौद्ध)—तब (ये ज्ञान) अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए नहीं माने जा सकते। यह प्रसंगविपर्यय (अर्थात् प्रसंग से प्राप्त वस्तु के विपरीत अर्थ की सिद्धि) है, क्योंकि जो (ज्ञान) वाचक शब्द की कल्पना से युक्त होता है वह अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होता, जैसे ईश्वर तथा प्रकृति आदि विषयक विकल्प ज्ञान हैं। इसी प्रकार ये विवाद के विषयभूत विकल्प हैं। यह व्यापकविरुद्धोपलब्धि है।[९८] यहाँ प्रतिषेध का विषय (प्रतिषेध्य) है—अर्थ-सामर्थ्य से उत्पन्न होना। उसमें वाचक शब्द का संसर्ग आदि कल्पना नहीं होती अतएव वह इससे व्याप्त है (अर्थात् उसका व्यापक है अभिलापकल्पनारहित होना, जो ज्ञान अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होता है, वह अभिलापकल्पनारहित होता है, यह व्याप्ति है)। उस (अभिलापकल्पना रहित होना) के विरुद्ध है—अभिलापकल्पना से युक्त होना।[९९]

(नैयायिक)—आपका यह हेतु तो सन्दिग्धव्यतिरेकी है (इस नियम के अपवाद हो सकते हैं)[१००] अर्थात् यह सन्देह हो सकता है कि अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी कदाचित् नाम आदि से युक्त होता है। फिर यह व्याप्ति कैसे बन सकती है कि जो ज्ञान अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न होता है वह नाम आदि कल्पना से रहित होता है।

(बौद्ध)—इसमें सन्दिग्धव्यतिरेकिता नहीं; क्योंकि जो (ज्ञान) अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होता है। वह अर्थ के रूप का ही अनुसरण करता है शब्द के रूप का नहीं। अर्थ में शब्द तो हैं नहीं और न ही अर्थ रूप ही शब्द हैं यह (अभी) कहा जा चुका है। यदि ज्ञान ऐसे रूप आदि का अनुसरण करने लगे जो उससे सम्बद्ध नहीं है तो समस्त रूपों का अनुसरण करने लगेगा और सब कोई सर्वज्ञ हो जायेगा।[१०१]

(नैयायिक) शब्दों का अर्थ में संकेत होने से उनका अर्थ से सम्बन्ध होता है अतः अर्थ की उपलब्धि होने पर शब्द का स्मरण हो जाता है और शब्द के संसर्ग से युक्त ज्ञान हो जाता है।[१०२]

(बौद्ध) तब तो जिस (वस्तु) में शब्दों का संकेत किया गया है वही (वस्तु) शब्दों का स्मरण करायेगी और जो समानाकारक बुद्धि का विषय (अनुगत)[१०३] सामान्य है उसमें ही शब्दों का संकेत किया गया है, किन्तु वह देखा नहीं जाता; क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय तो

---

९७. अथैषां प्रत्ययानां प्रत्यक्षमभिलापानुगतत्वमशक्यापह्नवम्। वही, पृ० १३४।

९८. प्रतिषेध्य (प्रतिषेध का विषय) के व्यापक से विरुद्ध अर्थ की उपलब्धि व्यापकविरुद्धोपलब्धि कहलाती है, जैसे नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति। देखिये, न्यायबिन्दुटीका, पृ० ३९।

९९. हन्त भोः नार्थसामर्थ्यजत्वमिति प्रसङ्गविपर्ययः। तथा हि यदभिलापकल्पनानुगतं न तदर्थसामर्थ्यजं यथेश्वरप्रधानादिविकल्पविज्ञानं, तथा चैते विवादाध्यासिता विकल्पा इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। निषेध्यमर्थसामर्थ्यजत्वं तदभिलापकल्पनाननुगतत्वेन व्याप्तं तद्विरुद्धं च तदनुगतत्वमिति। न्या० वा० ता०, पृ० १३४।

१००. मि०, BL. Vol. II. P. 263 fn. 2.

१०१. न च सन्दिग्धव्यतिरेकिता, अर्थसामर्थ्येन हि तदुत्पद्यमानम् अर्थरूपमनुकुर्यात् न शब्दरूपम्। न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वेत्युक्तम्। असंबद्धरूपानुकारे तु विज्ञानस्य सर्वरूपानुकारेण सर्वसर्वज्ञतापत्तिरिति। न्या० वा० ता०, पृ० १३४।

१०२. संकेतवशाच्छब्दानामर्थसंबन्धेनार्थोपलब्धौ तत्स्मरणात् तत्संसृष्टवेदनमिति चेत्। वही, पृ० १३४।

१०३. अनुगतः अनुगतधीविषयः। न्यायनिबन्धप्रकाशः, पृ० ५८१।

स्वलक्षण है, वही परमार्थसत्[१०४] है तथा ज्ञान का कारण है, सामान्य नहीं। सामान्य तो सब प्रकार के सार्थक कार्य (सामर्थ्य) से रहित है, क्योंकि वह काल्पनिक है। जो (स्वलक्षण) देखा जाता है उससे शब्दों का सम्बन्ध नहीं होता और जिस (सामान्य) से शब्दों का सम्बन्ध होता है, वह देखा नहीं जाता। इसके अतिरिक्त यदि इन्द्रियों से उपलब्ध (दृष्ट) अर्थ शब्दों का वाच्य होता तो जैसे अनुभव से यह ज्ञात होता है कि अग्नि उष्ण है, उसी प्रकार वाक्य से भी प्रतीत हुआ करता। तब तो शब्द से भी उस (अग्नि) की प्रतीति हो जाने पर शीत को दूर किया जा सकता।[१०५]

(ग) **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा व्यक्ति से भिन्न जाति आदि का ग्रहण नहीं होता—** नैयायिक का कथन है कि—(मान लो)—"लिङ्ग (अग्नि आदि के ज्ञापक धूम आदि) तथा शब्दों का विषय सामान्य होती है किन्तु स्वलक्षण (परमार्थसत् वस्तु) सामान्य से युक्त होता है, यह सामान्य भी वस्तुसत् (वस्तुभूत) है (बौद्धमत के समान मिथ्या नहीं)। ऐसा (वस्तुभूत सामान्य से युक्त) स्वलक्षण (व्यक्ति) दर्शन (प्रत्यक्ष) का कारण है। इस प्रकार प्रथम दृष्टि उन्मेष होते ही जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है उससे सामान्य (जाति) वाली वस्तु (अर्थ) का ज्ञान हो जाता है तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले शब्द का स्मरण भी हो जाता है और तब 'यह गौ है'—इस प्रकार का इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान होता है, जो उस ('गौ' आदि) शब्द के वाच्य गोत्व आदि जाति-विशिष्ट उस द्रव्य (गोव्यक्ति) का ग्रहण करता है (तच्छब्दाभिधेयजातिविशिष्टद्रव्यावगाही)। जैसा कि विवेचकों (निरुक्तकाराः)[१०६] ने कहा है—'निर्विकल्पक ज्ञान से दोनों स्वरूपों (द्रव्य तथा जाति रूप) में वस्तु का ग्रहण होता है' तथा उसके पश्चात् जिस (सविकल्पक) बुद्धि के द्वारा नाम जाति आदि धर्मों से युक्त वस्तु की प्रतीति होती है वह भी प्रत्यक्ष रूप में ही मानी गई है।[१०७]

(बौद्ध)—यह (कहना) उचित नहीं, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा पिण्ड (द्रव्य या व्यक्ति) से भिन्न अथवा भिन्न देश में[१०८] जाति आदि का ग्रहण नहीं होता। जाति तथा जातिमान् (व्यक्ति) क्रिया तथा क्रियावान् और गुण तथा गुणी अथवा उनका समवाय

---

१०४. 'परमार्थसतः के स्थान पर 'परमार्थसदतः' (परमार्थसत्+अतः) पाठ शुद्ध है।

१०५. यत्र तर्हि ते कृतसंकेताः तदेव स्मारयेदेतान्। तत्रैव च ते कृतसंकेताः यदनुगतं सामान्यं न च तद्दृष्टं, किं तु स्वलक्षणं दर्शनगोचरः तदेव हि परमार्थसतः विज्ञानस्य कारणं, न तु सामान्यं सर्वसामर्थ्यरहितं हि तदलीकत्वात्। तस्माद् यद् दृष्टं न तेन शब्दानां सम्बन्धो येन तु सम्बन्धो न तद् दृष्टम्। अपि च दृष्टस्य शब्दवाच्यत्वे दर्शनादिव वह्निरुष्ण इति वाक्यादपि प्रतीयेत। तथा च शब्दादपि तस्मिन् प्रतीते शीतापनोदनप्रसङ्गः। वही, पृ० १३४।

१०६. यहाँ 'निरुक्तकार' शब्द श्लोकवार्तिककार कुमारिल भट्ट के लिये प्रयुक्त किया गया है। ये पंक्तियां श्लोकवार्त्तिक (प्रत्यक्ष ११८-१२०) की हैं।

१०७. सामान्यविषयौ लिङ्गशब्दौ वस्तुभूतसामान्यवच्च स्वलक्षणं तादृशं च तद्दर्शनस्य कारणमिति। निर्विकल्पकेन प्रथमाक्षसन्निपातजन्मना जातिमद्-वस्तुवेदनात् तत्रोपलब्धचरसम्बन्धस्य शब्दस्य स्मरणं, तथा च तच्छब्दाभिधेयजातिविशिष्टद्रव्यावगाहीन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्मविकल्पप्रत्ययो गौरयमित्येवमाकारो जायत इति चेद्। यथाऽऽहुर्निरुक्तकाराः—निर्विकल्पकबोधेन द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनो ग्रहणम्। तथा—

ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्याऽवसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमतेति।

न्या० वा० ता०, पृ० १३४-१३५

१०८. विवेकेन=देशभेदेन। परिशुद्धि, पृ० ५८४।

सम्बन्ध (अर्थात् जाति का जातिमान् में समवाय आदि) पृथक्-पृथक् भासित नहीं होता। जो विवेक से भासित नहीं होते उनको पृथक्-पृथक् न जानने वाला व्यक्ति क्षीर तथा उदक के समान मिला नहीं सकता।[109] इसलिये (यथार्थता यह है) एक ही अविभक्त (जिसमें गुण क्रिया तथा जाति आदि के विभाग नहीं किये जा सकते) स्वलक्षण है। उसमें अनादि विकल्पवासना के द्वारा जाति इत्यादि भेदों का समारोप कर लिया जाता है तथा वह जाति आदि रूप से (नाना विकल्पों द्वारा) समझ ली जाती है (विकल्प्यते)। यह उचित प्रतीत होता है।[110]

यदि (अभ्युपगमवाद से यह भी मान लिया जाये कि) परमार्थसत् दोनों[111] वस्तुओं (व्यक्ति और जाति) का ज्ञान (पृथक् पृथक्) निर्विकल्पकों से हो जाता है तो उनमें विशेषण-विशेष्य भाव कैसे होगा। जो दो अंगुलियाँ एक विज्ञान से जानी जाती हैं उन दोनों का विशेषण-विशेष्य भाव नहीं होता; क्योंकि विशेषण उपकारक होता है और विशेष्य उपकार्य होता है; अर्थात् जो विशेष्य का कुछ उपकार (विशेषता उत्पन्न करना आदि) करता है वही विशेषण कहलाता है और जिसका उपकार किया जाता है वह विशेष्य कहलाता है। अन्य प्रकार से उन दोनों (व्यक्ति और जाति) का विशेषण-विशेष्य-भाव (तद्भावः) नहीं बन सकता। एक विज्ञान से ज्ञात होने वाली उन दोनों (व्यक्ति और जाति) का ज्ञाप्यज्ञापक या कार्यकारणभाव भी सम्भव नहीं; क्योंकि वे दोनों समानकाल में हैं और उनमें पूर्वापर भाव नहीं होता।[112] किन्तु कारण या ज्ञापक दोनों ही कार्य एवं ज्ञाप्य से पूर्वकाल में होते हैं, जैसे मिट्टी, जो घट का कारण है वह घट से पूर्व होती है तथा दीपक, जो घट का ज्ञापक है वह भी घट से पूर्व होता है।

(घ) **जाति आदि उपाधियाँ व्यक्ति में नहीं रह सकतीं**—न्याय-वैशेषिक का मन्तव्य है कि जाति गुण-कर्म इत्यादि भी वस्तुसत् हैं और वे व्यक्ति में ही रहती हैं अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष में जाति आदि से विशिष्ट व्यक्ति का ग्रहण होता है। इसका निराकरण करते हुए बौद्धों की ओर से कहा गया है :—

---

१०९. श्चेरबात्स्की ने 'अतद्वेदिना' के स्थान पर 'तद्वेदिना' पाठ माना है। वस्तुतः यहाँ 'अतद्वेदिना' प्रधान वाक्य का कर्ता है। क्षीरोदकवत् (व्यतिरेकी दृष्टान्त) का कर्त्ता नहीं। अतः जो पाठ उपलब्ध है उसका उपर्युक्त अर्थ संगत प्रतीत होता है।

११०. तन्न, पिण्डविवेकेन जात्यादेरविकल्पकेनाग्रहणात्। न हि जातिजातिमन्तौ क्रियाक्रियावन्तौ गुणगुणिनौ तत्समवायो वा विवेकेन चकासति। न च विवेकेनाप्रतिभासमानाः शक्या मिथो योजयितुं क्षीरोदकवद् अतद्वेदिना। तस्मादेकमविभागं स्वलक्षणमनादिविकल्पवासनासमारोपितजात्यादिभेदं तथा विकल्प्यते, इति युक्तमुत्पश्यामः। न्या० वा० ता०, पृ० १३५।

१११. कलकत्ता संस्करण के अनुसार 'वस्तुद्वयवेदनेऽपि' यह पाठ है। इसका अर्थ है व्यक्ति तथा सामान्य दोनों वस्तुओं का ज्ञान होने पर भी। यही पाठ उचित प्रतीत होता है। बनारस संस्करण के अनुसार 'वस्तुत्रयवेदनेऽपि' यह पाठ है उसका अर्थ होगा—व्यक्ति, जाति तथा उनका सम्बन्ध (समवाय) इन तीनों वस्तुओं का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाने पर भी।

११२. अपि च परमार्थसद् वस्तुत्रयवेदनेऽपि कुतो विशेषणविशेष्यभावः न ह्यङ्गुल्यावेकविज्ञानविषयौ मिथो विशेषणविशेष्यभावमापद्येते। विशेषणं खलूपकारकम् उपकार्यं च विशेष्यं नान्यथा तयोस्तद्भावः। न चैकविज्ञानसमारूढयोर्ज्ञाप्यज्ञापकभावः कार्यकारणभावो वा सम्भवी समानकालयोस्तयोरुभयोरपि पौर्वापर्यानियमात्। न्या० वा० ता०, पृ० १३५।

"यदि जाति आदि उपाधियों की वस्तु में स्थिति (निवेश) मानी जाये, तो एक ही (वृक्ष आदि) वस्तु में सत्ता, द्रव्यत्व, पार्थिवत्व, वृक्षत्व एवं शिंशपात्व आदि उपाधियाँ (विशेषण) होंगी। अतः जब दूर से (सत्ता आदि से युक्त) वृक्ष का ग्रहण होगा तो उसका समस्त उपाधियों सहित ज्ञान होने लगेगा; क्योंकि आधार-आधेय-भाव उपकारनिमित्तक होता है, उदाहरणार्थ—नीचे रक्खा हुआ कुण्डा पतनस्वभाववाले ऊपर स्थित बेर को अपने समीप आने पर स्थिर (अपतनधर्मकम्) करता है अतः वह बेर का आधार कहलाता है। इसी प्रकार यहाँ भी द्रव्य को जाति आदि का उपकार करना चाहिए। यदि वह जाति आदि का उपकार करता है तो प्रश्न यह है कि वह अपने स्वरूप से ही जाति आदि का उपकार करता है या किसी समवाय आदि सम्बन्ध से (अन्यशक्ति से)? वह अन्य शक्ति से तो उपकार करता नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर उस अन्य शक्ति के उपकार के लिए भी किसी अन्य शक्ति की कल्पना करनी होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायेगा। इसलिये अपने कारणों से उत्पन्न होने वाला द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है जो बहुत सी उपाधियों (जाति आदि) का उपकार करता है, यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार उसका जो स्वभाव सत्ता का उपकारक है उसका वही स्वभाव द्रव्यत्व आदि के उपकार में समर्थ है (क्योंकि स्वभाव एक है), अतः वस्तुभूत-द्रव्य (स्वलक्षण) का अध्यवसाय करने वाले सत्ताविषयक विकल्प द्वारा, सत्ता के उपकार में समर्थ उस द्रव्य का बोध हो जाने पर, उस (द्रव्य) के स्वभाव में अन्तर्निहित सभी द्रव्यत्व, पार्थिवत्व, वृक्षत्व, शिंशपात्व आदि का ग्रहण हो जायेगा। (इस प्रकार एक विकल्पज्ञान द्वारा ही समस्त उपाधियों सहित वस्तु का ज्ञान हो जायेगा) तब तो अन्य उपाधियों का ग्रहण करने वाले विकल्प निरर्थक ही होंगे"।[११३]

जैसा कि (धर्मकीर्ति ने)[११४] कहा है—"जिस (नैयायिक) के मत में नाना उपाधियों (सत्ता द्रव्यत्व आदि) से युक्त विविध भेदों (गुण, क्रिया आदि) से विशिष्ट अर्थ को एक बुद्धि ग्रहण करती है उसके अनुसार तो एक उपाधि से युक्त अर्थ का ग्रहण हो जाने पर कोई भी भेद (जाति, गुण-क्रिया आदि) अगृहीत न रहेगा; क्योंकि नाना उपाधियों का उपकार करने की शक्ति ही इस अर्थ का स्वरूप है अतः समस्त रूप से (सर्वात्मना) इस अर्थ का ग्रहण हो जाने पर सामान्य, गुण आदि उपकार्य (उपाधियों) का कोई भी भेद अगृहीत न रहेगा। जब उस एक (अर्थ) को ग्रहण कर लिया, जो सामान्य आदि को धारण करके उनका उपकार करता है, तो कोई उपकार उस अर्थ से पृथक् नहीं रहा जो कि उस अर्थ के गृहीत (दृष्ट)

---

११३. अपि च वस्तुनिवेशे जात्यादीनामुपाधीनामेकस्य वस्तुनः सत्त्वं च द्रव्यत्वं च पार्थिवत्वं च वृक्षत्वं च शिंशपात्वं चोपाधय इति दूरादेकोपाधिविशिष्टस्य ग्रहे सर्वोपाधिविशिष्टग्रहप्रसङ्गः। तथा ह्याधाराधेयभाव उपकारगर्भो भवति। पतनधर्म्मणो हि बदरस्य उत्तरस्य कुण्डमधरं प्रत्यासन्नमपतनधर्मकं बदरं विदधदाधारः तद्वदिहापि द्रव्येण जात्यादीनामुपकर्त्तव्यं, न च शक्त्यन्तरैरुपकरोति शक्त्यन्तरोपकारेऽपि शक्त्यन्तरकल्पनायामनवस्थापातात्। तस्मात्स्वभाव एव स्वकारणाधीनजन्मा द्रव्यस्य स तादृशो येन बहूनामुपाधीनामुपकरोतीति वाच्यम्। तथा च सत्त्वोपकारसमर्थे तस्मिन् द्रव्ये गृह्यमाणे द्रव्यत्वाद्युपकारसमर्थोऽपि स एवास्य स्वभाव इति तत्स्वभावावच्छिन्नाः सत्त्वविकल्पकेन परमार्थसद्द्रव्यावगाहिना सर्व एव द्रव्यत्वपार्थिवत्ववृक्षत्वशिंशपात्वादयो विषयीकृता इति विकल्पान्तराणामानर्थक्यम्।

न्या० वा० ता०, पृ० १३५-१३६।

११४. मि०, प्र० वा०, ३.५१-५४।

हो जाने पर भी अगृहीत (अदृष्ट) बना रहेगा।[११५] इसलिये उसका ग्रहण हो जाने पर समस्त उपाधियों का भी ग्रहण होने लगेगा[११६]।"

नैयायिक के मत में दोष दिखलाकर बौद्धदर्शन ने अपने मत की युक्तियुक्तता इस प्रकार प्रकट की है—"हमारे (बौद्ध) मत में तो अनादि काल से चली आने वाली विकल्प वासना से उत्पन्न होने वाले विकल्प हैं वे जिस (सामान्य)[११७] को ग्रहण करते हैं या जिस (सन्तान)[११८] का अध्यवसाय करते हैं। वे दोनों ही अन्यनिवृत्तिरूप हैं अतएव वस्तुसत् नहीं (अलीक=मिथ्या हैं)। वे विकल्प तनिक भी परमार्थसत् वस्तु का स्पर्श नहीं करते, किन्तु परम्परा से (पारम्पर्येण Indirectly) इनका वस्तु के साथ सम्बन्ध (प्रतिबन्ध) होता है। (क्योंकि विकल्प निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर होते हैं) अतः ये विकल्प जहाँ (मनुष्य की) प्रवृत्ति कराते हैं, उस वस्तु को प्राप्त करा देते हैं और लोक को वस्तु की प्राप्ति से वञ्चित नहीं करते (न विसंवादयन्ति)। (बौद्धदर्शन के मतानुसार) सत्तादिविषयक विकल्प वस्तु-स्वभाव का स्पर्श नहीं करते (अतएव वे एक दूसरे से अभिन्न नहीं हो सकते) इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं होती; अर्थात् एक उपाधिविशिष्ट वस्तु के ग्रहण से समस्त उपाधिविशिष्ट वस्तु का ग्रहण नहीं होता तथा अन्य उपाधिविषयक विकल्प अनर्थक नहीं होते।[११९]

(ङ) **नाम, जाति आदि से विशिष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं**—नाम, जाति और गुण आदि से विशिष्ट सविकल्पक ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ की सामर्थ्य से नहीं हो सकता, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं है—यह बतलाते हुए बौद्धदर्शन की ओर से कहा गया है—"यदि इन्द्रिय द्वारा वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (आलोचन मात्र) होने पर उसके पश्चात् शब्द का स्मरण हो जाता है तो उस स्मरण से इन्द्रिय का व्यापार व्यवहित हो जाता है तब व्यवहित व्यापार वाली इन्द्रिय और अर्थ दोनों मिलकर सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते। जैसा कि (धर्मकीर्ति ने) कहा है—यदि अर्थ से सन्निकर्ष[१२०] होने के पश्चात्, प्रत्यक्ष ज्ञान स्मृति से उत्पन्न होने वाली शब्द-योजना की अपेक्षा रखता है तो उस अर्थ तथा इन्द्रिय के

---

११५. 'दृष्टे तमिन्नदृष्टेऽपि' के स्थान पर 'दृष्टे तस्मिन्नदृष्टा ये' यह पाठ शुद्ध है। न्या०वा०ता०, पृ० ४८४ पर भी यही पाठ दिया गया है।

११६. 'यस्यापि नानोपाधेर्धीर्ग्राहिकाऽर्थस्य भेदिनः।
नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे।
सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः।
एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे।
दृष्टे तस्मिन्नदृष्टेऽपि तद्ग्रहे सकलग्रह इति। न्या०वा०ता०, पृ० १३६।
इन कारिकाओं में प्रमाणवार्त्तिक (३, ५१-५४) की कारिकाओं से पाठ भेद है।

११७. यच्च गृह्णन्ति=सामान्यमात्रम्। परिशुद्धि, पृ० ५८६।

११८. यच्चाध्यवस्यन्ति=सन्तानम्। परिशुद्धि, पृ० ५८६।

११९. अस्माकं तु अनादिविकल्पवासनोपादाना विकल्पा यच्च गृह्णन्ति यच्चाध्यवस्यन्ति तयोरुभयोरप्यन्यनिवृत्तिरूपतया अवस्तुत्वान्न मनागपि परमार्थसद्वस्तु गाहते पारम्पर्येण तु वस्तु-प्रतिबन्धाद्यत्र* प्रवर्त्तयन्तः प्रापयन्तश्च न विसंवादयन्ति लोकमतो वस्तुस्वभावाविनिवेशाद्वि-कल्पानां न पौनरुक्त्यमस्ति। न्या० वा० ता० पृ० १३६।
*यत्र के स्थान पर 'तत्र' पाठ शुद्ध है (देखिये, कलकत्ता संस्करण)।

१२०. अर्थोपयोगः=सन्निकर्षः। परिशुद्धि, पृ० ५६०।

बीच व्यवधान (अन्तर) हो जायगा (और यह इन्द्रिय तथा अर्थ सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे)[१२१]।

इस पर यदि नैयायिक कहे कि जो इन्द्रिय निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है वही स्मरण की सहकारिता से सविकल्पक ज्ञान को भी उत्पन्न करती है। इसमें स्मरण व्यवधायक नहीं होता; क्योंकि अपना अङ्ग व्यवधायक नहीं हुआ करता, यह न्याय है (यहाँ स्मरण सविकल्पक प्रत्यक्ष का अङ्ग है अतः वह व्यवधायक नहीं होगा)। इसका उत्तर देते हुए बौद्ध दर्शन कहता है कि यह ठीक नहीं, क्योंकि शक्ति या सन्निकर्ष विशेष[१२२] न होने के कारण जो अर्थ पहले सविकल्पक बुद्धि का जनक नहीं था वह (नाम आदि का स्मरण होने के) पश्चात् भी सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता (क्योंकि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो दोनों अवस्थाओं में समान है) इसके अतिरिक्त अतीत वस्तु इन्द्रिय का विषय नहीं होती तथा जो इन्द्रिय का विषय नहीं है उसमें (अगोचरे) सहस्रों उपायों से भी इस (इन्द्रिय) को प्रवृत्त नहीं किया जा सकता। साथ ही स्मृति अतीतविषयक होती है अतः ऐसी वर्तमान वस्तु स्मृति का विषय नहीं होती जिसका पहले अनुभव न किया गया हो। यदि ऐसी वस्तु स्मृति का विषय हो जाये तो अन्धों को भी रूप का साक्षात्कार होने लगेगा। जैसा कि (धर्मकीर्त्ति ने)[१२३] कहा है—'तब तो दृष्टि नष्ट हो जाने पर भी चाक्षुष ज्ञान होने लगेगा'। इस प्रकार जो नाम, जाति, गुण और कर्म की कल्पना है वह प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं हो सकती।[१२४]

(च) विशेषण-विशेष्य-भाव से युक्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं—इसी प्रकार विशेषण-विशेष्य-भाव से युक्त द्रव्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, यह प्रतिपादित करते हुए बौद्धदर्शन ने अपने मन्तव्य का निम्न प्रकार से उपसंहार किया है—

"यह पुरुष दण्डी अर्थात् दण्डवाला है (इस प्रकार की विशिष्ट) द्रव्य-कल्पना भी (प्रत्यक्ष नहीं)। जैसा कि (धर्मकीर्ति ने)[१२५] कहा है—विशेषण (दण्ड) विशेष्य (पुरुष)

---

१२१. यह कारिका धर्मकीर्त्ति के प्रमाणविनिश्चय की है, मि०, BL. Vol. II, p. 270 fn. 2.

१२२. उपयोगाविशेषतः=स्मृतिविशिष्ट सन्निकर्ष न होने के कारण।

१२३. यह कारिका 'प्रमाणविनिश्चय' की है। BL. Vol. II, p. 272 fn. 8.

१२४. अपि चाऽऽलोचिते वस्तुनीन्द्रियेण तदनन्तरोत्पन्नशब्दस्मरणव्यवहितव्यापारमिन्द्रिय-मर्थश्च न सविकल्पिकामपि धियमुपजनयितुमर्हतः। यथाऽऽह—

'अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्।
अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्'।

न च यदेवालोचनमजीजनदिन्द्रियं तदेव स्मरणसहकारिविकल्प-प्रत्ययमात्त*। न च स्मृतिर्व्यवधायिका स्वाङ्गमव्यवधायकमिति न्यायात्। यतो

यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः।
स पश्चादपीति'। नो खल्वतीतं भवति गोचरोऽक्षस्येति। न चागोचरे सहस्रेणाप्युपायैरेतत्प्रवर्तयितुमर्हतीति। न च स्मृतिरतीतविषयाऽननुभूतपूर्वं वर्तमानं गोचरयितुमर्हति। तद्गोचरत्वे चान्धानामपि रूपसाक्षात्कारप्रसङ्गो यथाऽऽह—

'तेन स्यादक्षापायेऽपि नेत्रधीरिति'।

तदेवं नामजातिगुणकर्म्मकल्पना च प्रत्यक्षत्वेन परास्ता।

न्या०वा०ता०, पृ० १३६-१३७।

*'प्रत्ययमाधत्ते' यह पाठ शुद्ध है, कलकत्ता संस्करण में भी यही पाठ है।

१२५. प्र०वा०, २.१४५।

और उनका सम्बन्ध (संयोग) तथा अर्थ की लौकिक[१२६] अवस्था को ग्रहण करके उन सबको संकलित करके 'यह दण्डी है' इस प्रकार की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं।' यह इतने व्यापारों का समुदाय विचार से उत्पन्न होने वाला है। इन्द्रिय ज्ञान में इसके उत्पादन का सामर्थ्य नहीं; क्योंकि वह तो सन्निकृष्ट अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है, वह विचार करने वाला नहीं। इस प्रकार विशिष्ट द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि जातिविशिष्ट, गुणविशिष्ट और क्रियाविशिष्ट का यह प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है, क्योंकि इनके स्वरूप की पृथक्ता तथा सम्बन्ध का भास नहीं होता, अतः इन्हें (पृथक् पृथक् न जानने वाला क्षीर तथा उदक के समान इनका (विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध से) पारस्परिक सम्बन्ध नहीं कर सकता। इसलिये सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होता[१२८]।

संक्षेप में सविकल्पक को प्रत्यक्ष न मानने में बौद्धदर्शन की निम्नलिखित युक्तियाँ हैं —

(१) अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। स्वलक्षण ही परमार्थसत् है, सामान्य आदि नहीं अतः स्वलक्षण का ग्रहण ही प्रत्यक्ष है।

(२) प्रत्यक्ष में वाचक शब्द आदि की कल्पना का संसर्ग नहीं होता, किन्तु सविकल्पक में होता है अतः वह प्रत्यक्ष नहीं।

(३) प्रत्यक्ष तो अर्थ से उत्पन्न होता है अतः वह अर्थ को ही प्रकट कर सकता है, नाम, जाति, गुण-कर्म आदि को नहीं; क्योंकि ये नाम आदि वस्तुसत् नहीं, अपितु विकल्पजन्य हैं।

(४) शब्द की योजना तथा विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध आदि ऐसे कार्य हैं जो इन्द्रिय की सामर्थ्य से बाहर हैं। अतः इनके विषय में होने वाला सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

(५) सविकल्पक ज्ञान के लिये मानस-व्यापार की अपेक्षा है, अर्थात् नैयायिक के अनुसार भी स्मृति के सहयोग से इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष द्वारा सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। मानस-व्यापार का संमिश्रण होने के कारण यह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

---

१२६. लौकिकीं लोकप्रसिद्धां स्थितिं व्यवस्थाम। प्र० वा० मनो०, २.१४५।

१२७. रूपविवेकसम्बन्धयोः रूपस्य स्वरूपस्य विवेकः पृथक् ज्ञानं सम्बन्धश्च समवायादिः रूपविवेक-सम्बन्धौ तयोः अप्रतिभासनेन—यह व्याख्या उचित प्रतीत होती है। श्चेरबात्स्की ने 'रूप विवेकेन अप्रतिभासेन' ऐसी व्याख्या की है। देखिये, BL. Vol. II, P. 273 Fn. 5.

१२८. द्रव्यकल्पनाऽपि दण्डीति।

'विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा सङ्कलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा'।

न चैतावन्तं व्यापारकलापं विचारकनिर्वर्तनीयमिन्द्रियज्ञानं सहते तस्य सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वाद् इति। जातिगुणक्रियावतां चैतन्न सम्भवत्येव रूपाविवेकसंबन्धयोरप्रतिभासनेन घटनायोगात् क्षीरोदकवदतद्वेदिनेत्युक्तम्। तस्मान्न सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति।

न्या०वा०ता०,पृ० १३७।

बाह्यार्थवादी (नैयायिक आदि) तो सविकल्पक प्रत्यक्ष को बाह्य वस्तु-सिद्धि का मुख्य आधार मानते हैं। जैसा कि जयन्त भट्ट ने कहा है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष नैयायिकों का तो प्राण ही है।[१२९] इसी हेतु न्याय-वैशेषिक आदि ने बौद्धदर्शन की सविकल्पक विरोधिनी युक्तियों का विस्तार से खण्डन किया है। इन युक्तियों का खण्डन करने वालों में वाचस्पति मिश्र प्रमुख हैं। उन्होंने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में इनका निराकरण किया है। बौद्धदर्शन की ओर से अन्य शंकाएँ उठाकर उनका भी समाधान किया है तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की स्थापना की है। भारतीय दर्शन में सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में बौद्धदर्शन तथा बाह्यार्थ-वादी सम्प्रदायों का यह संघर्ष निरन्तर चलता रहा और इस संघर्ष के द्वारा वैदिक दर्शनों के प्रमाण तथा प्रमेय सम्बन्धी विविध मन्तव्यों में परिवर्तन तथा संशोधन हुआ।[१३०] जिसका विवेचन करना प्रस्तुत लेख के क्षेत्र से बाहर है।

---

१२९. नैयायिकानाञ्च सविकल्पप्रत्यक्षमयाः प्राणाः। न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० ८१।

१३०. देखिये, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, Critique of Indian Realism. pp. 420-421.

परिच्छेद–७

अनुमान–प्रकरण

१. अनुमान का स्वरूप

अनुमान प्रमाण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण बौद्धदर्शन में उसका विशद विवेचन किया गया है। इस विवेचन में अनुमान का स्वरूप परिष्कृत होता गया तथा प्रतिपक्षियों (न्याय-वैशेषिक आदि) के संघर्ष के कारण भी बौद्धदर्शन के अनुमान का स्वरूप विशेषत: निखरता रहा। जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक को जाने या अनजाने में प्रतिपक्षियों के दर्शन से प्रभावित होकर अपने दर्शन की नवीन व्याख्याएँ करनी पड़ीं, इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन भी संघर्ष के प्रभाव से अपने को अक्षुण्ण न रख सका। बौद्धदर्शन के अनुमान का परिवर्तित होता हुआ स्वरूप इस बात का साक्षी है कि कालक्रम से उसमें परिवर्तन हुआ, यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस विशेष निमित्त या प्रभाव से ऐसा हुआ होगा। दूसरी ओर न्याय-वैशेषिक आदि भी बौद्ध मन्तव्यों का खण्डन करते रहे और नवीन-नवीन व्याख्या द्वारा अपने मत की पुष्टि भी। न्यायसूत्रों के अनुमान लक्षण को दोष-रहित सिद्ध करते हुए न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने बौद्धों के अनुमान के लक्षणों का उल्लेख किया तथा उनका खण्डन भी किया। उद्योतकर की यह शैली रही है कि उन्होंने प्रायेण नाम-निर्देश नहीं किया, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने लक्षणकार का नामनिर्देश करके उस लक्षण की व्याख्या करने का भी प्रयास किया है। इससे अनुमान के सम्बन्ध में बौद्धदर्शन के कुछ मन्तव्य वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं। उनमें से प्रथमत: अनुमान के स्वरूप पर विचार करना ही युक्तिसङ्गत है।

(क) **वसुबन्धु का अनुमान-लक्षण** —उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं:—"(वर्तिककार) अपने (नैयायिक के) अनुमान लक्षण की पुष्टि करके दूसरों के अनुमान लक्षण को दोषयुक्त सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करते हैं 'अपरे तु' इस ग्रन्थ से अर्थात् दूसरे तो कहते हैं—'जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता (नान्त रीयक=अविनाभावी) उसका दर्शन उस (सम्बन्ध) को जानने वाले के लिये अनुमान होता है'। (वार्त्तिककार) इसका अर्थ बतलाते हैं (अस्यार्थ: इत्यादि ग्रन्थ में):—इसका अर्थ है—जो पदार्थ जिस पदार्थ के बिना नहीं होता वह उसका नान्तरीयक अर्थात् अविनाभावी है। जो अर्थ नान्तरीयक (या अविनाभावी) है वह नान्तरीयकार्थ है—(कर्मधारय-समास)। उस (अविनाभावी अर्थ) का दर्शन उसके जानने वाले के लिये अनुमान है। ('तद्विद:' का अर्थ है) जो उसको (इस रूप में) जानता है कि यह (पदार्थ) उस पदार्थ का अविनाभावी है"[1]।

---

१. स्वलक्षणं समाधाय परेषामनुमानलक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति। अपरे त्विति (न्या० वा० ता०, पृ० १८८)। अपरे तु ब्रुवते—'नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानमिति।' (न्या० वा०, पृ० ५४) तस्यार्थमाह अस्याऽर्थ इति (न्या० वा० ता०, पृ० १८८)—अस्यार्थः—योऽर्थो यमर्थमन्तरेण न भवति स नान्तरीयकः, नान्तरीयकश्चासावर्थश्चेति नान्तरीयकार्थः तस्य दर्शनं तद्विदोऽनुमानम। यस्तं वेद तन्नान्तरीयकोऽयमिति। न्या० वा०, पृ० ५४।

अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता वह नान्तरीय या नान्तरीयक कहलाता है (न अन्तरेण भवः=नान्तरीयः, स एव नान्तरीयकः) इसे ही अविनाभावी कहते हैं। जो किसी दूसरे के बिना नहीं होता (विना न भवतीति), जैसे—धूम अग्नि के बिना नहीं होता अतः धूम अग्नि का नान्तरीयक या अविनाभावी है। जो इस नान्तरीयकता या अविनाभाव सम्बन्ध को जानता है वही 'तद्विद्' (तद् वेत्ति इति) है, उसे जानने वाला है। यह इस अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञाता जब कहीं धूम को देखता है तो यही अनुमान है। इससे आग की प्रतीति होती है।

अनुमान के इस लक्षण का वार्त्तिककार उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र ने विस्तार से खण्डन किया है वह इस निबन्ध की विषय परिधि से बाहर है। किन्तु यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि उपर्युक्त लक्षण किस बौद्ध ग्रन्थ या आचार्य का है? उद्योतकर ने 'दूसरे तो कहते हैं' (अपरे तु) यह उल्लेख करते हुए इस लक्षण को प्रस्तुत किया है तथा वाचस्पति मिश्र ने भी स्पष्टतया लक्षणकार का नाम-निर्देश नहीं किया, यद्यपि लक्षण का खण्डन करते हुए कई बार दिग्नाग का उल्लेख किया है। तात्पर्यटीका की इस व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह लक्षण दिग्नाग का है। कारण यह है—कि एक तो लक्षण का खण्डन करते हुए कहा गया है यदि 'अर्थ' शब्द को वस्तुवाची माना जाये तो भी इसका लक्ष्य संभव नहीं अतएव लक्षण निर्विषय ही है; क्योंकि दिग्नाग के मत में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अविनाभावी होकर हेतु होती हो। जैसा कि कहा है—यह सब अनुमान-अनुमेय-भाव बुद्धि-कल्पित धर्म-धर्मिभाव से होता है वस्तु की बाह्य सत्ता या असत्ता की अपेक्षा नहीं रखता"।[2] यहाँ स्पष्ट रूप में दिग्नाग का नामोल्लेख किया है।

दूसरे, जैसा कि आगे दिखलाया जा रहा है, इस लक्षण के खण्डन के पश्चात् वार्त्तिककार ने एक लक्षण का और खण्डन किया है। उसके अन्त में वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—तो इस प्रकार दिग्नाग के लक्षण का खण्डन करके अन्यों का लक्षण दूषित किया।[3]

तीसरे, उपर्युल्लिखित दोनों लक्षणों का खण्डन करके वार्त्तिककार ने 'अपरे तु' कहकर बौद्धों का एक और अनुमान का लक्षण (अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये आदि) प्रस्तुत किया। वाचस्पति मिश्र ने इसे भी दिग्नाग का लक्षण ही माना है, किन्तु यहाँ दो प्रश्न उठ सकते हैं—एक तो यह कि अभी 'नान्तरीयकार्थदर्शनम्' इत्यादि दिग्नाग के लक्षण का खण्डन किया जा चुका है फिर दोबारा दिग्नाग के इस लक्षण को क्यों प्रस्तुत किया जा रहा है? इसका उत्तर देते हुये वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि—"इस समय दिग्नाग द्वारा अपने लक्षण के विस्तारार्थ लिखे गये वाक्य—'अनुमेये इत्यादि' को प्रस्तुत करके (वार्त्तिककार) दोषयुक्त सिद्ध करते हैं। 'अपरे तु' इस ग्रन्थ से"।[4] भाव यह है कि यह अनुमेये इत्यादि वाक्य दिग्नाग के लक्षण की स्वकीय व्याख्या है, उसी का खण्डन यहाँ अभिप्रेत है अतः इससे

२. वस्तुवचनत्वेऽप्यर्थशब्दस्य लक्ष्यासम्भवाद् अविषयं लक्षणम्, न हि दिग्नागमते किञ्चिदस्ति वस्तु यन्नान्तरीयकं सद्धेतुर्भवति। यथाऽऽह—सर्वोयमनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढ़ेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते, इति। न्या० वा० ता०, पृ० १८६।

३. तदनेन दिग्नागस्य लक्षणं दूषयित्वाऽन्येषां लक्षणं दूषितम्। वही, पृ० १८६।

४. सम्प्रति दिग्नागस्य स्वकीयलक्षणप्रपञ्चार्थं वाक्यम्—"अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये" इत्याद्युपन्यस्य दूषयति। वही, पृ० १८६–१६०।

दिग्नाग के लक्षण को दोबारा प्रस्तुत करने का दोष नहीं आता। इस समाधान के पश्चात् वाचस्पति मिश्र के हृदय में दूसरा प्रश्न होता है कि—यदि यह 'अनुमेय' इत्यादि दिग्नाग के अनुमान लक्षण का प्रपञ्च मात्र है तो वार्त्तिककार ने 'अपरे तु' (दूसरे तो) क्यों कहा? इसका उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"अनन्तर लक्षणकार की अपेक्षा से 'अपरे' यह कहा है"।[५] अर्थात् इस अनुमेय इत्यादि से पूर्व जिस लक्षण का खण्डन किया गया है, वह दूसरा अनुमान का लक्षण दिग्नाग से अन्य किसी आचार्य का है उसकी अपेक्षा से यहाँ 'अपरे तु' कहा गया है। प्रथम लक्षण की अपेक्षा से नहीं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'नान्तरीय-कार्थ' इत्यादि अनुमान का लक्षण दिग्नाग का ही है। इसी आधार पर रेन्डिल ने Fragments from Diṅnāga नामक ग्रन्थ में इस लक्षण को दिग्नाग के नाम से संकलित किया है, और कहा है कि वाचपति मिश्र इस लक्षण को किसी सन्देह की संभावना से परे दिग्नाग का बतलाते हैं[६]।

इसके विपरीत कुछ युक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह दिग्नाग का लक्षण नहीं। इस विषय में संक्षेप से निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं:—

(१) जिस रूप में वार्त्तिककार ने इस लक्षण को प्रस्तुत किया है वह कारिका का पद नहीं हो सकता फिर यह गद्य होगा, अतः दिग्नाग के प्रमाण-समुच्चय की कारिका का अंश यह कैसे होगा[७]?

(२) जो दो प्रश्न वाचस्पति मिश्र के हृदय में उठे यद्यपि उनका समाधान उन्होंने किया तथापि उससे वाचस्पति मिश्र की सार्वतन्त्रिक मति पर भी सन्देह कर सकने वालों का सन्तोष नहीं हो सकता।

(३) यह लक्षण यत्किञ्चित् अन्तर से आचार्य वसुबन्धु की वादविधि[८] में आया है यहाँ इसका स्वरूप है—"अनन्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्।" इस रूप में यह कारिका का एक पूर्णपद है और यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वसुबन्धु का लक्षण है।

इस विवाद के पक्ष और विपक्ष की युक्तियों को देखते हुए किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन है। यह कठिनाई इसलिये और अधिक बढ़ जाती है कि दुर्भाग्य से आज दिग्नाग की अधिकाँश मूल रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। फिर भी विचार करने पर एक बात प्रतीत होती है कि वास्तव में यह लक्षण वसुबन्धु का है, उद्योतकर के ग्रन्थ से यही प्रकट होता है तथा हेतुबिन्दुटीकालोक से भी इसकी पुष्टि होती है। वहाँ सन्दर्भ यह है

---

५. अनन्तरलक्षणकारमपेक्ष्यापर इत्युक्तम्। वही, पृ० १६०।

६. But Vācaspati Miśra's statement at NVT. attribute the definition beyond possibility of doubt to diṅnāga.

Rendle H.N. : FFD., p. 22.

७. वही, पृ० २२।

८. रा० सां० द्वारा बौद्धदर्शन पृ० १६१ पर उद्धृत तथा श्चेरबात्स्की द्वारा उद्धृत B L. Vol. I, P. 236 fn. 4.

कि आचार्य अर्चट ने हेतुबिन्दुटीका में कहा है—"अत एवाचार्यपादैः नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्' इति[९]। इस पर हेतुबिन्दुटीका की आलोक नामक व्याख्या में लिखा गया है—'आचार्यपादैः। इत्याचार्यवसुबन्धुमभिसन्धायोक्तम्।[१०] इसके आगे टीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में उद्योतकर का नामोल्लेख करते हुए न्यायवार्त्तिक ग्रन्थ का उद्धरण प्रस्तुत किया है—

"तथा ह्युद्योतकरेण किलानुमानसूत्रवार्त्तिके परे तु ब्रुवते नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानमिति पठित्वा...[११]।

यहाँ उद्योतकर तथा अर्चट दोनों ने समान शब्दों में ही अनुमान के इस लक्षण को उद्धृत किया है। हेतुबिन्दुटीकालोक के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट ही है कि यह लक्षण वसुबन्धु का है। फिर वाचस्पति मिश्र के कथन का क्या आधार है ? यह चिन्तनीय ही है।

(ख) **एक अन्य अनुमान-लक्षण**—उपर्युक्त अनुमान लक्षण के खण्डन के समान ही एक अन्य (बौद्ध) अनुमान के लक्षण का खण्डन करते हुए कहा गया है—(वार्त्तिककार) इस लक्षण का दोष दूसरे लक्षण में भी अतिदेश करते हैं 'एतेन' इस ग्रन्थ से। इससे (ऊपर के खण्डन प्रकार से) 'उस प्रकार के अविनाभावी धर्म का दर्शन हेतु है' इस लक्षण का भी खण्डन हो गया। 'प्रश्न होता है कि इसमें भेद क्या है ? (उत्तर है) क्योंकि इस लक्षण में 'तद्विदः' शब्द नहीं हैं इसलिये यह उससे भिन्न है[१२]। इस लक्षण में कोई विशेष विवेचनीय बात नहीं। यह प्रायः उसी के समान है। अतिदेश शब्द संस्कृत वाङ्मय का पारिभाषिक शब्द है—'यह उसके समान हो, इस प्रकार कहना अतिदेश कहलाता है[१३]। प्रथम लक्षण के दोषों का इस दूसरे लक्षण में वार्त्तिककार ने अतिदेश किया है। इस प्रकार प्रथम लक्षण के खण्डन द्वारा दूसरों का लक्षण भी खण्डित कर दिया गया है। यह लक्षण किस आचार्य का है, यह निश्चित नहीं किया जा सका है।

२. दिग्नाग के अनुसार अनुमान का स्वरूप

त्रैरूप्य-सम्पन्न हेतु (Three aspects of logical reason)—उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग के अनुमान-लक्षण को बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है अतः उसका पृथक् निरूपण करना ही उचित प्रतीत होता है। अनुमिति का करण या हेतु दिग्नाग के मतानुसार त्रैरूप्यसम्पन्न है। त्रैरूप्य का अर्थ है कि (वही सद् हेतु है) जो पक्ष में विद्यमान हो, सपक्ष में विद्यमान हो तथा विपक्ष में न हो; जैसे—'पर्वत अग्नि वाला है धूम होने से'। यहाँ धूम अग्नि का नान्तरीयक या अवनिभावी है, यह धूम पर्वत रूप

---

९. हेतुबिन्दुटीका, पृ० ६६ पं० १२।

१०. हेतुबिन्दुटीकालोक, पृ० ३१७, पं० १२।

११. वही, पृ० ३१७, पं० २० तथा आगे।

१२. "एतल्लक्षणदूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति एतेनेति"। न्या० वा० ता०, पृ० १८६।
"एतेन 'तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरिति प्रत्युक्तम्।" न्या० वा०, पृ० ५५।
पृच्छति, क इति। न ह्यस्मिन् लक्षणे तद्विद इत्यस्ति, येन तदतिरिच्यते इति भावः। न्या० वा० ता०, पृ० १८६।

१३. अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः, V. S. Apte.

पक्ष में विद्यमान है, सपक्ष-पाकशाला में भी है, किन्तु विपक्ष (सरोवर) में नहीं है। रेन्डिल का कथन है कि दिग्नाग का त्रैरूप्य का सूत्र (formula) प्रशस्तपाद भाष्य में आई हुई कारिका[१४] के समानान्तर है। यह उस समय से सम्बन्ध रखता है जब तक व्याप्ति के सिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था। दिग्नाग ने इसे व्याप्ति के सिद्धान्त से जोड़ दिया[१५]। वाचस्पति मिश्र के अनुसार दिग्नाग के शब्दों में यह त्रैरूप्य सम्पन्न अनुमान इस प्रकार है—**सम्प्रति दिग्नागस्य स्वकीय-लक्षणप्रपञ्चार्थं वाक्यम् "अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये" इत्याद्युपन्यस्य दूषयति।** अपरे त्विति-न्या० वा० ता०, पृ० १८९-१९०। अपरे तु मन्यन्ते "अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति" इत्यनुमानम्। न्या० वा०, पृ० ५५।

"अर्थात् अब (वार्त्तिककार) दिग्नाग के अपने लक्षण के विस्तार (प्रपंच) के लिए कहे हुए वाक्य–'अनुमेये' इत्यादि को प्रस्तुत करके दोषयुक्त सिद्ध करते हैं—'अपरे तु' आदि ग्रन्थ से। कुछ (दूसरे) तो मानते हैं (अनुमान का साधन वह है, जिसका) अनुमान के विषय (पक्ष) में सद्भाव हो, अनुमान के विषय के सजातीय (सपक्ष) में सद्भाव हो और अनुमान के विषय रहित (असति=विपक्ष) में अभाव (नास्तिता) हो।"

विद्याभूषण ने दिग्नाग की इस पंक्ति का तिब्बती रूप प्रमाणसमुच्चय के द्वितीय परिच्छेद से प्रस्तुत किया है।

इस त्रैरूप्य हेतु की पर्यालोचना करके वार्त्तिककार ने उपसंहार रूप में त्रैरूप्य हेतु का बौद्धों की ओर से प्रयोजन दिखलाते हुए निम्नरूप से उसका निराकरण किया है:—

(१) **'यदप्येकद्विपदपर्युदासेन सप्तिकासम्भवे षट्प्रतिषेधमुक्त्वा त्रिलक्षणो हेतुरभिधीयते-एतदपि.. अयुक्तम्।** न्या० वा०, पृ० ५६ पं० १९।
इसी प्रकार:—

(२) **यदपि हेतुवार्त्तिकं ब्रुवाणेनोक्तम्—'सप्तिकासम्भवे षट्प्रतिषेधादेकद्विपर्युदासेन त्रिलक्षणो हेतुरिति।'** न्या० वा०, पृ० १२८ पं० १७।

"जो कहा है कि (हेतु के तीन रूपों में से) एक या दो के हटाने से सात संभावनाएं हैं उनमें से छः का प्रतिषेध करके शेष त्रैरूप्य युक्त हेतु कहा जाता है, यह भी अयुक्त है"।

"और जो हेतुवार्त्तिक का निरूपण करते हुए कहा है—एक या दो के हटाने से सात संभावनाएं होने पर छः का प्रतिषेध करके त्रैरूप्य हेतु होता है।"

इस वाक्य की उदाहरण सहित व्याख्या वाचस्पति मिश्र के अनुसार आगे दिखलाई जा रही है। यहाँ केवल यही विचार करना है कि क्या यह वाक्य दिग्नाग का है? रेन्डिल का कथन है—प्रसंग से यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त दिग्नाग का है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं कि कहाँ तक इसे दिग्नाग के अपने शब्दों में उद्धृत किया गया है।[१७] डा० गङ्गानाथ झा का विचार है कि यह वचन किसी बौद्ध वार्त्तिक का है।[१८] डा० झा के इस विचार का आधार

१४. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥ प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २००।

१५. FFD., P. 23

१६. विद्याभूषण, HIL., P. 288 fn. 2.

१७. FFD., P. 24.

१८. डा० गङ्गानाथ झा; न्यायवार्त्तिक (अंग्रेजी अनुवाद), पृ० ३७१।

है—न्यायवार्त्तिक का 'हेतुवार्त्तिकं ब्रुवाणेन' (हेतुवार्त्तिक कहते हुए) यह शब्द। इस पर रेन्डिल का मत है कि यहाँ उद्योतकराचार्य ने अपने वार्त्तिक (सूत्र १.१.५) का ही उल्लेख किया है।[१९]

यथार्थ में बात यह प्रतीत होती है कि यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि लेखक के निजी शब्दों को वार्त्तिककार ने उपरिनिर्दिष्ट दूसरे स्थल पर (२) उद्धृत किया है। 'सप्तिकासम्भवे......हेतुः। (न्या० वा०, पृ० १२८) यही इस वचन का स्वरूप है। अतः उक्ति के स्वरूप के विषय में रेन्डिल की शंका उचित नहीं जंचती। संस्कृत वाङ्मय की उद्धरण शैली—उक्तम्...से लेकर इति पर्यन्त यहाँ स्पष्ट रूप से बतलाती है कि यह उद्धरण है। प्रथम स्थान (१) पर भी भाव यही है किन्तु उद्धरण न होने के कारण इस शैली में नहीं कहा गया। दूसरी बात यह भी निश्चित ही है कि यह गद्यांश है, पद्यांश नहीं। अतः प्रमाणसमुच्चय की कारिकाओं में यह पंक्ति नहीं समा सकती। साथ ही एक बात और है कि दिग्नाग के नाम से जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं वे सब पद्य ही नहीं है उनमें गद्य का भी पर्याप्त अंश है। अतः परिणाम यह निकलता है कि यदि डा० झा के अनुसार यह पंक्ति किसी बौद्ध वार्त्तिक की है तो भी यह दिग्नाग की हो सकती है। उद्योतकर का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि हेतु ग्रन्थ पर लिखित किसी वृत्ति से ही यह पंक्ति ली गई है। अतः हेतु पर लिखी हुई दिग्नाग की ही ये पंक्तियाँ हो सकती हैं। वाचस्पति मिश्र भी दिग्नाग के लक्षण से ही इनका सम्बन्ध जोड़ते हैं—**"तदेवमवयवार्थं दूषयित्वा समुदायार्थं दूषयितुमुपन्यस्यति-यदप्येकद्विपदपर्युदासेनेति"**।[१९क] (वार्त्तिककार) इस प्रकार अवयवार्थ के दोष दिखलाकर समुदायार्थ के दोष दिखलाने के लिए—यदेकद्वि आदि ग्रन्थ को उद्धृत करते हैं।"

'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति' दिग्नाग के इस अनुमान (हेतु) लक्षण में एक या दो पदों के हटाने पर कैसे सात प्रकार के उदाहरणों की संभावना है इस बात को वाचस्पति मिश्र ने उदाहरण सहित इस प्रकार दिखलाया है—

"इनमें से एक-एक पद के हटाने से तीन पक्ष हो जाते हैं और दो-दो पदों के हटाने से भी तीन—ये छः हुए। इन ६ पक्षों (तत् षट्क) का प्रतिषेध करके सप्तम पक्ष का ग्रहण किया जाता है। जैसे—

(१) अनुमेय (पक्ष) में (हेतु की) विद्यमानता (अनुमेये सद्भावः), इतना मात्र कहने पर जिसकी तत्तुल्य (सपक्ष) में अविद्यमानता है और विपक्ष में विद्यमानता है वह भी हेतु को जायेगा, जैसे—शब्द नित्य है कार्य होने से।

(२) 'तत्तुल्ये सद्भावः' उसके समान अर्थात् सपक्ष में विद्यमानता, इतना मात्र कहने पर विपक्ष में विद्यमान तथा पक्ष में न रहने वाला भी हेतु हो जायेगा, यथा-शब्द नित्य है चक्षु का विषय होने से, सामान्य के समान।

(३) 'नास्तिताऽसति' विपक्ष में अविद्यमानता, इतना मात्र कहने पर जो पक्ष का धर्म नहीं, तथा सपक्ष में नहीं रहता वह भी हेतु हो जायेगा, जैसे-शब्द नित्य है असत्त्व होने से।

---

१९. F F D., P. 24.

१९क. न्या० वा० ता०, पृ० १९३-१९४।

(४) 'अनुमेय में होना और सपक्ष में होना', इतना मात्र कहने पर ; 'शब्द अनित्य है प्रमेय होने से' यह विपक्ष में रहने वाला भी हेतु हो जायेगा।

(५) 'अनुमेय में होना और विपक्ष में न होना', इतना मात्र कहने पर, —'शब्द नित्य है, जातिमान् होकर श्रवणेन्द्रिय का विषय होने से'—यह सपक्ष में अविद्यमान होते हुए भी हेतु हो जायेगा।

(६) 'सपक्ष में होना और विपक्ष में नहीं' इतना मात्र कहने पर, परमाणु अनित्य है कार्य होने से'—यह पक्षधर्म न होते हुए भी हेतु हो जायेगा। ये सब हेतु न हो जायें यही तीनों के समुदाय को ग्रहण करने का प्रयोजन है"।[२०]

संक्षेप में हेतु के लक्षण में प्रत्येक पद का प्रयोजन इस विवरण से प्रतीत हो जाता है। इसमें तीन अंश हैं—(१) अनुमेये सद्भावः (पक्ष में होना) (२) तत्तुल्ये सद्भावः (सपक्ष में होना) (३) असति नास्तिता (विपक्ष में न होना)

एक-एक पद के हटाने पर क्रमशः निम्नलिखित तीन दोषों की सम्भावना होगी:—

अनुवाद क्रम सं०	पद का अभाव	लक्षण का शेष रूप	दोषयुक्त उदाहरण
(६)	१ (अनुमेये सद्भावः)	सपक्ष में होना, विपक्ष में नहीं	परमाणु अनित्य है कार्य होने से (पक्षरूप-परमाणु में कार्यता नहीं)
(५)	२ (तत्तुल्ये सद्भावः)	पक्ष में होना, विपक्ष में नहीं	शब्द नित्य है जातिमान् होकर श्रवणेन्द्रिय का विषय होने से। (सपक्ष नित्य वस्तु हैं उनमें श्रवणेन्द्रिय का विषय होना रूप हेतु नहीं)

---

२०. तत्रैकपदपर्युदासेन त्रयः पक्षाः, द्विपदपर्युदासेऽपि त्रय इति षट्कम्। तत्पर्युदासेन सप्तिकापरिग्रहः।

(१) यथाऽनुमेये सद्भाव इत्युच्यमाने यस्य तत्तुल्ये नास्तिता, विपक्षे च वृत्तिः सोऽपि हेतुः स्यात्, यथा नित्यःशब्दः कृतकत्वादिति।

(२) तत्तुल्येत्युच्यमाने विपक्षवृत्तेः, अपक्षधर्मस्य च हेतुत्वं स्यात्, यथा नित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् सामान्यवदिति।

(३) नास्तिताऽसति इत्युच्यमाने योऽपक्षधर्मः, तत्तुल्ये नास्ति स हेतुः स्यात्, यथा नित्यः शब्दोऽसत्त्वात्।

(४) अनुमेये तत्तुल्ये चेत्युच्यमाने, अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति विपक्षवृत्तिर्हेतुः स्यात्।

(५) अनुमेयेऽस्ति असति च नास्तीत्युच्यमाने, नित्यः शब्दो जातिमत्त्वे सति श्रावणत्वादित्ययं तत्तुल्यहीनोऽपि हेतुः स्यात्।

(६) तत्तुल्येऽस्ति, असति च नास्तीत्येतावत्युच्यमाने नित्याः परमाणवः कृतकत्वादित्ययम् अपक्षधर्मो हेतुः स्यात्। तदेतत्सर्वं मा भूदिति समुदायोपादानप्रयोजनम्' न्या० वा० ता०, पृ० १९४।

अनुवाद

क्रम स०	**पद का अभाव**	**लक्षण का शेष रूप**	**दोषयुक्त उदाहरण**
(४)	३ (असति नास्तिता)	पक्ष में होना, सपक्ष में होना	शब्द अनित्य है प्रमेय होने से। (आनित्य के विपक्ष नित्य पदार्थ हैं, वे भी प्रमेय होते हैं)।

एक-एक पद के हटाने से उपर्युक्त तीन संभावनाएँ होती हैं। दो-दो पदों के हटाने पर निम्नलिखित संभावनाएं होती हैं—

(३)	अनुमेये सद्भाव : तत्तुल्ये सद्भाव :	१ २	विपक्ष में न होना	शब्द नित्य है असत्त्व होने से। [असत्त्वरूप हेतु पक्ष (शब्द) में नहीं तथा सपक्ष (नित्य वस्तुओं) में नहीं]।
(२)	अनुमेये सद्भाव : असति नास्तिता	१ ३	सपक्ष में होना	शब्द नित्य है चाक्षुष होने से सामान्यवत् [यहां चाक्षुषत्व शब्द रूप पक्ष में ही नहीं है तथा इसका विपक्ष (अनित्य घटादि) में अभाव भी नहीं है।]
(१)	तत्तुल्ये सद्भाव : असति नास्तिता	२ ३	पक्ष में होना	शब्द नित्य है कार्य होने से [कार्य रूप हेतु सपक्ष (नित्यों) में नहीं रहता तथा विपक्ष (अनित्यों) में इसका अभाव नहीं।]

इन छः प्रकार के अनिष्ट स्थलों में हेतुता न मान ली जाये इसलिये दिग्नाग ने त्रैरूप्यसम्पन्न हेतु का लक्षण किया है वही सप्तम संभावना है।

(७)	१. पक्ष में होना २. सपक्ष में होना ३. विपक्ष में न होना	पर्वत आग वाला है, धूम होने से (यहां धूम पक्ष अर्थात् पर्वत में हैं, सपक्ष अर्थात् पाकशाला में है और विपक्ष अर्थात् जलाशय में नहीं है अतः यही सद् हेतु है)

श्चेरबात्स्की का कथन है कि प्रथमतः वसुबन्धु ने हेतु के लिये इस प्रकार के तीन नियम बतलाये थे। उन्हें दिग्नाग ने सुव्यवस्थित करके त्रैरूप्यसम्पन्न हेतु का स्वरूप निर्धारित किया।[२१] और, धर्मकीर्ति ने इस हेतु-लक्षण को अधिक परिष्कृत करने के लिए संस्कृत भाषा की एक विलक्षण पदावली का प्रयोग किया।[२२]

---

२१. BL. Vol. 1, p. 243।

२२. वही, पृ० २४४।

३. धर्मकीर्ति के अनुसार-अनुमान का स्वरूप

दिग्नाग के लक्षण की न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने आलोचना की थी। वहाँ कहा गया था कि यदि दिग्नाग के "अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये" इत्यादि अनुमान लक्षण में 'एव' शब्द के प्रयोग के बिना ही अवधारण मान लिया जाय तो भी अनेक दोष दिखलाई देते हैं।[२३] धर्मकीर्ति ने उन आक्षेपों का निराकरण करने के लिये एक परिष्कृत शब्दावली का प्रयोग किया।[२४] उन्होंने त्रैरूप्य के प्रत्येक पद के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग किया; जैसे 'लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव' यहां 'एव' शब्द से अनुमेय (पर्वत आदि पक्ष) में लिङ्ग (धूम आदि) की अनुपस्थिति की संभावना भी नहीं है, यह अभिव्यक्त होता है।[२५] 'सपक्ष एव सत्त्वम्' यहाँ पर 'एव' शब्द से प्रकट होता है कि सपक्ष अर्थात् पाकशाला आदि में ही लिङ्ग (धूम) विद्यमान है उनसे भिन्न में नहीं है।[२६] 'असपक्षे चासत्त्वमेव' यहाँ पर 'एव' शब्द से प्रकट होता है कि विपक्ष (सरोवर आदि) में लिङ्ग (धूम आदि) का न होना निश्चित है।[२७] इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार हेतु के तीनों रूपों में 'एव' शब्द का प्रयोग करने से उस त्रैरूप्यसम्पन्न हेतु का परिष्कृत रूप निष्पन्न हो जाता है जो दिग्नाग को अभीष्ट था।

धर्मकीर्ति के इस परिष्कृत लक्षण का भी वाचस्पति मिश्र ने खण्डन किया है किन्तु धर्मकीर्ति के मन्तव्य को स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत नहीं किया। हाँ, उस खण्डन प्रकार में धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की झलक अवश्य मिलती है;[२८] जैसे—"**स्यादेतत्, विशेष्यसङ्गतोऽयमेवकारोनुमेय एव सम्भव इति, यथा पार्थ एव धनुर्धर इति। न चायम् अन्ययोगव्यवच्छेदो विनैवकारं लभ्यते**"। न्या० वा० ता०, पृ० १६० इत्यादि।

वाचस्पति मिश्र ने यह भी बतलाया कि धर्मकीर्ति ने इन पदों में 'एव' शब्द का प्रयोग करके 'एव' शब्द के द्वारा दो प्रकार का अवधारण माना; जैसे कि —'अनुमेये सद्भाव' इत्यत्रानुमेय एव नाननुमेये, सद्भाव एव नासद्भाव इति पदार्थः। न्या० वा० ता०, पृ० १६२।

धर्मकीर्ति ने इस दो प्रकार के अवधारण से उद्योतकर के द्वारा दिग्नाग के अनुमान लक्षण में दिखलाये गये दोषों का निराकरण किया था। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट ही यह उल्लेख किया है कि दिग्नाग ने यह दो प्रकार का अवधारण नहीं माना था, यह तो धर्मकीर्ति की स्वकीय उद्भावना है :—**न च समुच्चीयमानावधारणं दिग्नागो मेने... तस्मात् समुच्चीयमानावधारणं कीर्तेः स्वातन्त्र्येण**। न्या० वा० ता०, पृ० १६३।

---

२३. न्या० वा०, पृ० ५५।

२४. लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्षे एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्, न्यायबिन्दु, पृ० २२-२३।

२५. अयोगव्यवच्छेद।

२६. अन्ययोगव्यवच्छेद।

२७. अत्यन्तायोगव्यवच्छेद।

२८. मि०, अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः। प्र० वा०, ४.१६०।

दिग्नाग के त्रैरूप्यसम्पन्न हेतु का परिष्कृत लक्षण करके धर्मकीर्ति ने तीन प्रकार के लिङ्गों का निर्देश किया था,[२९] जो आज बौद्ध-न्याय के महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गये हैं। उनका उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में इस प्रकार किया है :—

तद्धि विधिनिषेधसाधनतया द्विविधम् । तत्र विधिसाधनं स्वभावहेतुकं कार्यहेतुकं वा... अनुपलब्धिलिङ्गकं तु प्रतिषेधसाधनम्···(न्यायकणिका, पृ० १११ पं० १३-१४।)

"अर्थात् वह अनुमान दो प्रकार का है, एक का साधन (हेतु) विधिरूप होता है और दूसरे का निषेध रूप। उनमें से विधिरूप साधन वाला स्वभावहेतुक और कार्यहेतुक (दो प्रकार का) होता है...अनुपलब्धिहेतुक अनुमान तो निषेध रूप साधन वाला होता है······।"

यद्यपि न्यायकणिका के इस सन्दर्भ में धर्मकीर्ति का नाम-निर्देश नहीं किया गया तथापि न्यायबिन्दु के अनुशीलन से यह स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ धर्मकीर्ति के मत का ही उल्लेख किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि वाचस्पति मिश्र ने प्रथमतः अनुमान के दो भेद किये हैं—विधिसाधनवाला और निषेधसाधनवाला। फिर पहिले के दो भेद दिखलाये हैं :—स्वभावहेतुक और कार्यहेतुक। दूसरी ओर धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में प्रथमतः तीन प्रकार के लिङ्गों का निर्देश दिया है—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य तदनन्तर वस्तुसाधक और प्रतिषेधसाधक ये दो भेद दिये हैं।[३०]

४. अविनाभाव नियम या प्रतिबन्ध

अनुमिति कैसे होती है? इसके विषय में भारतीय तर्क शास्त्र में पर्याप्त विवेचन किया गया है। न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और बौद्ध-न्याय ने तो इस पर गम्भीर विचार किया है। सामान्यतः न्यायसूत्रों में 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्' १।१।५ यह निर्देश करके "अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है," इतना मात्र कहा था। वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्त्तिक तथा तात्पर्यटीका ने इसका विकसित और परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया। आगे चलकर तर्कशास्त्र का 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' इत्यादि लक्षणों का स्वरूप सामने आया। उसका विवेचन करना यहाँ अभिप्रेत नहीं। यहाँ तो केवल यह विचार करना है कि वात्स्यायन ने 'तत्पूर्वकम्' की व्याख्या करते हुए दिखलाया था कि, 'तत्पूर्वक इस शब्द से लिङ्ग (धूम) और लिङ्गी (अग्नि) का सम्बन्ध-दर्शन तथा लिङ्ग-दर्शन भी संगृहीत हो जाते हैं। सम्बद्ध लिङ्ग और लिङ्गी के दर्शन से लिङ्ग-स्मृति भी आ जाती है। स्मृति और लिङ्ग-दर्शन से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान किया जाता है।[३१] वाचस्पति मिश्र का कथन है कि यहाँ लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का ग्रहण अनुमान का अङ्ग है, ऐसा वार्त्तिककार उद्योतकार मानते हैं। भाव यह है कि बार-बार अग्नि (लिङ्गी) और धूम (लिङ्ग) के सहचार-दर्शन से अग्नि और धूम का सम्बन्ध है या वाचस्पति मिश्र के परिष्कृत[३२] लक्षण के अनुसार स्वाभाविक सम्बन्ध है यह ज्ञान होता है तथा यही अनुमान का अङ्ग है। ऐसा मानते हुए उद्योतकर अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत अनुमान के अङ्गों का खण्डन करते हैं; जैसा कि कहा है—

---

२९. त्रीण्येव च लिङ्गानि, अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति। न्यायबिन्दु, पृ० २५।
३०. अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एकः प्रतिषेधहेतुः। न्यायबिन्दु, पृ० २६।
३१. न्यायभाष्य, १.१.५।
३२. तथा हि धूमादीनां वह्न्यादिसम्बन्धः स्वाभाविकः। न्या० वा० ता०, पृ० १६५।

लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षमित्यत्र सम्बन्धपदेनानुमानाङ्गं सम्बन्धं विवक्षन् परोक्तान् सम्बन्धविकल्पान् अनुमानानङ्गभूतान् प्रतिक्षिपति।

न्या० वा० ता०, पृ० १५८।

"लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का ज्ञान प्रथम प्रत्यक्ष है। यहाँ सम्बन्ध शब्द से अनुमान के अङ्गभूत सम्बन्ध (व्याप्ति) की विवक्षा करते हुए दूसरों के कहे हुए विविध सम्बन्धों का जो (यथार्थ में) अनुमान के अङ्गभूत नहीं, खण्डन करते हैं।"

संक्षेप में न्याय की अनुमान प्रक्रिया यह है कि पाकशाला आदि में बार-बार अग्नि और धूम का सहचार देखकर धूम का अग्नि के साथ नियत या स्वाभाविक सम्बन्ध है, यह ज्ञात हो जाता है। पाकशाला में जो धूमज्ञान है यह प्रथम है। फिर वही व्यक्ति पर्वत आदि में धूम को देखता है। यह धूमज्ञान द्वितीय है। इसके पश्चात् धूम और अग्नि के सम्बन्ध का स्मरण होता है कि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है।' इस सम्बन्ध-स्मृति के साथ पर्वत के धूम दर्शन को मिलाकर "अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध वाला धूम यहाँ है" यह ज्ञान होता है। यह धूमज्ञान तृतीय है। इसे ही न्याय में 'परामर्श' ज्ञान कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र ने समारम्भपूर्वक यह सिद्ध किया है कि यह परामर्श ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है— **'तस्मादुभाभ्यामुत्पन्नं परामर्शज्ञानम् इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजं तृतीयं प्रत्यक्षमेषितव्यम्।'** न्या० वा० ता०, पृ० १५८। "इसलिए (द्वितीय लिङ्गदर्शन और सम्बन्ध स्मरण) दोनों से उत्पन्न हुआ परामर्श ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न तृतीय (लिङ्ग) प्रत्यक्ष मानना चाहिए।"

इस प्रक्रिया में सम्बन्ध-दर्शन के अनन्तर लिङ्गस्मृति आदि के क्रम से होने वाला परामर्श ही अनुमान है जो अनुमिति का जनक है। यह सम्बन्ध-ग्रहण बार-बार सहचार-दर्शन से होता है। सहचार-दर्शन से ज्ञात होने वाले इस **नियत सम्बन्ध** के स्थान पर बौद्ध दर्शन कार्य-कारण-भाव तथा स्वभाव पर आश्रित अविनाभाव को अनुमिति का जनक या अनुमानाङ्ग मानता है। इस मन्तव्य को विस्तार से प्रस्तुत करके वाचस्पति मिश्र ने इसका निराकरण किया है। वे न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में लिखते हैं—"कुछ (दार्शनिक) तादात्म्य और तदुत्पत्ति-निमित्तक अविनाभाव को अनुमान का अङ्ग (जनक) कहते हैं। (उनका कथन है) दो प्रकार का अर्थ है— प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनमें से जो बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को समर्पित करता है वह प्रत्यक्ष है। वह स्वविषयक बुद्धि का जनक है इसलिये उसके बिना बुद्धि अपने स्वरूप को न प्राप्त करती हुई उसकी सत्ता का निश्चय कराती है; यह मानना चाहिए। परोक्ष (अर्थ) तो बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को अर्पित करने में असमर्थ है इसलिये उसका निश्चय नहीं होता (अयुक्ता प्रतिपत्तिः निश्चयो यस्य)। और, अतिप्रसङ्ग हो जाने (के भय) से अन्य को देखकर अन्य की कल्पना उचित नहीं, (हाँ) अविनाभाव सम्बन्ध से अन्य (अर्थ) भी दूसरे (अर्थ) का गमक (बोधक) हो सकता है; क्योंकि उसका जैसा स्वभाव सम्बन्ध जाना जाता है (स्वभाव प्रतिबन्ध या स्वभाव सम्बन्ध से युक्त) वैसा ही (अन्य वस्तु की) सत्ता को वह सूचित करता है। किन्तु यह प्रतिबन्ध दर्शनमात्र से नहीं निश्चित किया जाता, यदि ऐसा होगा तो वह श्याम है मैत्री का पुत्र होने से, दिखलाई देने वाले मैत्री के

३३. यहाँ धर्मकीर्ति के मत को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्टतया बतलाया है कि अर्थ अपने आकार को बुद्धि में अर्पित करता है और इस सारूप्य से ही अर्थ का निश्चय किया जाता है।

पुत्रों के समुदाय के समान; इस प्रकार का भी अनुमान हो जायेगा। यहाँ भी दर्शन और अदर्शन हैं ही। इसलिये तादात्म्य और तदुत्पत्ति-निमित्तक ही प्रतिबन्ध होता है। जैसा कि (धर्मकीर्ति[३४] ने) कहा है—साध्य और साधन के सहभाव के नियामक कार्यकारणभाव से अथवा तादात्म्य रूप (एकात्मता, तद्रूपता) नियामक से अविनाभाव नियम (स्वभाव-प्रतिबन्ध) होता है। (विपक्ष में) हेतु के अदर्शन मात्र से (अदर्शनात्) अविना भाव का निश्चय नहीं होता और न (सपक्ष में) हेतु के दर्शन से (दर्शनात्) अविनाभाव का निश्चय होता है'।[३५]

प्रस्तुत अवतरण में यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने कोई नाम निर्देश नहीं किया तथापि धर्मकीर्ति के मत का विशेषत: कथन किया है; क्योंकि प्रमाणवार्त्तिक से यह ग्रन्थ अधिकांश में मिलता है। सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का कथन है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति का सिद्धान्त धर्मकीर्त्ति की नवीन उद्‌भावना है और यह धर्मकीर्त्ति की बौद्धदर्शन को एक नवीन देन है।[३६]

यहाँ यह स्पष्ट रूप में दिखलाया गया है कि केवल बार-बार सहचार-दर्शन से सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता और ऐसा सम्बन्ध-ग्रहण अनुमान का अङ्ग नहीं हो सकता। किन्तु अविनाभाव नियम ही अनुमान का अङ्ग है। यह अविनाभाव नियम दो प्रकार से गृहीत होता है। एक तो कार्य-कारण-भाव से; जैसे धूम अग्नि का कार्य है, वह अग्नि के बिना नहीं हो सकता। इस कार्य-कारण-भाव से यह निश्चय किया जाता है कि धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव नियम है। दूसरे तादात्म्य से अविनाभाव नियम का निश्चय किया जाता है, जैसे 'शिंशपा होने से यह वृक्ष है।' शिंशपा एक वृक्ष है इसलिये शिंशपा का स्वभाव है—वृक्ष होना, अथवा शिंशपा का वृक्ष-विशेष से तादात्म्य है, शिंशपात्व वृक्ष के बिना नहीं रह सकता। इसी से शिंशपात्व का वृक्षत्व के साथ अविनाभाव का नियम है (शिंशपात्वं हि वृक्षत्वं विना न भवतीति नियमः)। इस प्रकार कार्य-कारण-भाव या तादात्म्य से होने वाला ही अविनाभावनियम होता है।[३७] यही बौद्ध दर्शन में प्रतिबन्ध या स्वभाव प्रतिबन्ध कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक की व्याप्ति और कुमारिल भट्ट का नियम नाम का सम्बन्ध जैसे

---

३४. प्र० वा० (मनो०), ३.३० । ३१

३५. तथा हि केचिदविनाभावं तादात्म्यतदुत्पत्तिनिबन्धनमनुमानाङ्गमाहुः। द्विविधो ह्यर्थः प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च। तत्र यो बुद्धौ साक्षादात्मीयं रूपं निवेशयति स प्रत्यक्षः। स हि स्वविषयाया बुद्धेः जनक इति। तमन्तरेण बुद्धिरात्मानमनासादयन्ती तस्य सत्तां निश्चाययतीति युक्तम् परोक्षस्तु बुद्धौ साक्षात्स्वरूपोपधानसामर्थ्यरहितोऽयुक्तप्रतिपत्तिरेव। न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पना युक्ता, अतिप्रसङ्गात्। नान्तरीयकतया त्वन्योऽप्यन्यं गमयेत्। स हि प्रतिबद्धस्वभावो यथाविधः सिद्धस्तथाविधसन्निधानं सूचयति। स च प्रतिबन्धो न दर्शनमात्रादवसेयस्तथा सति स श्यामो मैत्रतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रतनयस्तोमवदित्यप्यनुमानं स्यात्। इहापि हि स्तो दर्शनादर्शने। तस्मात्तादात्म्यतदुत्पत्तिनिबन्धन एव प्रतिबन्धः।

यदाह—

'कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥' न्या० वा० ता०, पृ० १५८।

३६. History of Indian philosophy, p. 351.

३७. मि०, स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्यात् साध्यार्थादुत्पत्तेश्च। न्यायबिन्दु. पृ० ३०।

अपना विशेष स्वरूप लक्षण या परिभाषा रखते हैं, वैसे ही उनके विभिन्न नाम हैं। बौद्धों का यह अविनाभाव सम्बन्ध अपने स्वरूप के समान ही प्रतिबन्ध या स्वभाव-प्रतिबन्ध नाम धारण करता है। इस स्वभाव-प्रतिबन्ध के कारण एक वस्तु दूसरी की गमक या बोधक होती है।[३८]

अब प्रश्न यह उठता है कि कार्य और कारण का नियत सम्बन्ध है यही कैसे मान लिया जाय। कार्य, कारण का अविनाभावी है इसमें क्या प्रमाण है? कारण के बिना भी कार्य क्यों नहीं हो जाता?[३९] इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन कहता है—

तथा च सत्यनपेक्षतया कादाचित्कत्वविहतिरिति चेद्; यथाह—
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतो[४०]रन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः।। न्या० वा० ता०, पृ० १६१।

"ऐसा होने पर अर्थात् कारण के बिना कार्य हो जाने पर (कार्य के) किसी अन्य की अपेक्षा के बिना हो जाने से कार्य का कदाचित् होना न बन सकेगा। जैसा कि (धर्मकीर्ति ने) कहा है—(कार्य के अहेतुक होने पर उसकी) नित्य ही उत्पत्ति या अनुत्पत्ति होनी चाहिये; क्योंकि अहेतुक भाव (अहेतोः भावस्य) (अपनी उत्पत्ति में) अन्य (कारण) की अपेक्षा नहीं रक्खेगा। भावों का कभी होना, कभी न होना (कादाचित्कत्व) तो (कारण की) अपेक्षा से होता है।"

यदि कार्य बिना कारण के ही होने लगेगा तो वह सदा ही होता रहेगा या कभी भी न होगा; यह नहीं कि कभी होगा कभी नहीं, क्योंकि तब उसे किसी अन्य कारण की अपेक्षा तो होगी नहीं। इस तर्क द्वारा इस शंका का निराकरण हो जाता है कि कारण के बिना भी कार्य क्यों नहीं हो जाता। इस प्रकार कार्यकारणभाव अविनाभावनियम का नियामक है, यह बात भी समझ में आ जाती है।

अब नैयायिक आदि की ओर से यह तर्क उपस्थित किया जाता है—"कार्य से जो कारण का अनुमान होगा वह उस (कार्य) से पूर्वकालीन कारण का ही अनुमान हो सकेगा, वर्तमानकालीन का नहीं; क्योंकि कार्य के समकाल में हेतु का होना कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक नहीं अपितु कार्य से पूर्वकाल में होना। जैसे कि नदी की विशेष प्रकार की बाढ़ (जलवृद्धि) अपनी समकालीन वर्षा की अनुमिति नहीं कराती अपितु उससे पूर्वकालीन वर्षा की अनुमिति कराती है। तत्कालीन वर्षा तो उसका कारण नहीं है। इसीलिये साधक और बाधक प्रमाण न होने से तत्कालीन वर्षा में सन्देह करते हुए उस (वर्षा) के अभिलाषी प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार धूम से भी पूर्वकालीन अग्नि का अनुमान होगा, वर्तमान का नहीं। ऐसा होने पर (वर्तमानकालीन अग्नि का अनुमान न होने पर यह सन्देह होगा कि अब अग्नि है या नहीं, पहले थी) अग्नि के अभिलाषी वहाँ शंका रहित होकर प्रवृत्त न हो सकेंगे।"[४१]

---

३८. मि०, स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्। न्यायबिन्दु, पृ० २९।

३९. तथापि कस्मात् कारणमन्तरेण न कार्यं भवति। न्या० वा० ता०, पृ० १६१।

४०. प्रमाणवार्त्तिक (३. ३४) के अनुसार "वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात" यह पाठ है। उसी के अनुसार अर्थ किया गया है।

४१. न्या० वा० ता०, पृ० १६१।

यही नहीं कार्य से कारण का अनुमान करने में एक दोष और भी होगा, यह दिखलाते हुए प्रतिपक्षी आगे कहते हैं "इसके अतिरिक्त अनुमाता लोग रस के समानकाल में रस के द्वारा उससे भिन्न रूप का अनुमान करते हैं अर्थात् रस को देखकर रूप का अनुमान किया जाता है, किन्तु रस और रूप का न तो कार्यकारणभाव है और न ही तादात्म्यभाव,[४२]" अतः तादात्म्य और तदुत्पत्ति से प्रतिबन्ध होता है, यह मानने पर कैसे काम चल सकता है ?

बौद्ध दर्शन की ओर से इसका उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—"यदि यह कहा जाय कि पूर्वकालीन रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के क्षणों से (पुंज से पुंज की उत्पत्ति होती है, इस नियम के अनुसार) जो रसक्षण उत्पन्न होता है वह (रसक्षण) अपने कारण भूत पहले रूपक्षण का अनुमान कराता हुआ जैसा उस (प्रथम रूपक्षण) से उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार के रूपक्षण का अनुमान करा देता है और वह (रूपक्षण) अनुमापक रसक्षण के समानकालीन रूप के क्षण का उत्पादक ही है अतः वैसे ही (रूपक्षण) का बोधक होता है। इस प्रकार कार्य (रसक्षण) के समानकालीन रूप का अनुमान सिद्ध हो जाता है। इससे धूम द्वारा तत्कालीन अग्नि के अनुमान की व्याख्या हो गई; जैसा कि (धर्मकीर्ति ने)[४३] कहा है—

एक कारण सामग्री से उत्पन्न होने वाले रूप गन्ध आदि की जो (उसी सामग्री से उत्पन्न) मधुर रस आदि (लिङ्ग) द्वारा अनुमिति (गतिः अवगतिः) होती है वह रस के जो हेतु (रूप रस गन्ध स्पर्श क्षण) हैं उनके धर्म (रूपजनकत्व) के अनुमान से होती है। जैसे धूम से अग्नि आदि सामग्री का अनुमान हो जाने पर भस्म, अंगारादि इन्धन के विकारों की अनुमिति होती है।[४४]

अभिप्राय यह है कि रस के द्वारा जो रूप का अनुमान होता है यद्यपि उसमें साक्षात् कार्यकारणभाव के आधार पर होने वाला प्रतिबन्धनियम काम नहीं करता तथापि परम्परया यही नियम है। पहले रस के द्वारा उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान किया जाता है; क्योंकि बौद्ध मत के अनुसार पूर्वक्षणपुञ्ज से अन्यक्षणपुञ्ज की उत्पत्ति होती है अतः—उस उत्पादक सामग्री में रूपरसगन्धस्पर्श-क्षण सम्मिलित हैं। इस सामग्री में स्थित रूपक्षण रस समानकालीन रूपक्षण का जनक है। वह अपने समान रूपक्षण का ही जनक होता है यह उसका धर्म या स्वभाव है अतः उसके समान रूपजनकत्व का अनुमान होने से रस समानकालीन रूप का भी अनुमान हो जाता है। यह बात निम्न रेखाचित्र से जानी जा सकती है—

---

४२. अपि च रसादन्यद् रूपं रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातारः। न चानयोरस्ति कार्यकारणभावः, तादात्म्यं वा। न्या० वा० ता०, पृ० १६१-१६२।

४३. देखिये, प्र० वा० (मनो०), ३·८।

४४. यद्युच्येत तत्पूर्वेभ्यो रूपरसगन्धस्पर्शक्षणेभ्यो रसक्षणो जायते स स्वकारणं पूर्वरूपक्षणमनुमापयन् यादृशा* तेन जनितस्तादृशमेवानुमापयति, स चानुमापकरसक्षणसमानकालरूपक्षणान्तरजनक एव स्वकारणमिति तादृशमेव गमयति, तथा च कार्यसमानकालरूपानुमानसिद्धिः। एतेन धूमानुमानं व्याख्यातम्। यथाऽऽह—

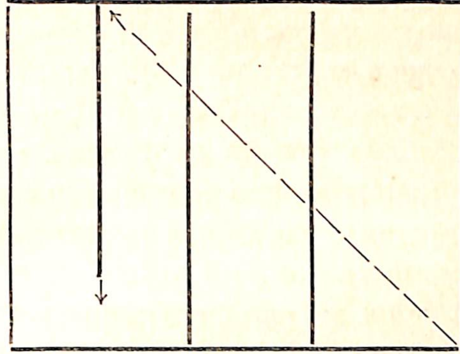
'एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः।

हेतुधर्म्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्। न्या० वा० ता०, पृ० १६२।

* 'यादृशा तेन' के स्थान पर 'यादृशस्तेन' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

(प्रथम अनुमेय=हेतु-धर्म, रसादिसहचररूपजनकता)

(कारणपुञ्ज) रूपक्षण गन्धक्षण स्पर्शक्षण रसक्षण



(कार्यपुञ्ज) रूपक्षण गन्धक्षण स्पर्शक्षण रसक्षण

(द्वितीय अनुमेय) (अनुमापक)

यह बात उदाहरण से इस प्रकार जानी जा सकती है कि धूम से उसकी कारण-सामग्री अग्नि, आर्द्र इन्धन आदि का अनुमान हो जाता है। वह अग्नि और इन्धन (लकड़ी आदि) धूम के समान ही अंगारों तथा राख आदि का जनक है अतएव अनुमित अग्नि आदि सामग्री से अंगारों और राख का भी अनुमान होता है। इस प्रकार कार्यकारणभाव से प्रतिबन्ध-नियम होता है यह स्पष्ट ही है।

अब शंका होती है कि तादात्म्य के द्वारा प्रतिबन्ध नियम नहीं हो सकता। भला तादात्म्य में ज्ञाप्यज्ञापकभाव कैसे हो सकता है? वही कर्म और कर्त्ता भी हो, यह तो युक्ति-युक्त नहीं। ज्ञाप्यज्ञापकता (कर्म, कर्तृभाव) तो भेदाश्रित है अर्थात् भिन्न वस्तुओं में होती है।[45] इसका समाधान करते हुए बौद्धदर्शन की ओर से वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

यद्यपि च वृक्षत्वशिंशपात्वे परमार्थतो न भिन्ने तथापि भेदान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपाभ्यां कल्पितभेदयोर्गम्यगमकभाव इति। न्या० वा० ता०, पृ० १६३।

"यद्यपि वृक्षता और शिंशपात्व दोनों यथार्थ में भिन्न नहीं तथापि एक में अन्यभेद का आरोप (प्रतिक्षेप) कर लिया जाता है दूसरे में नहीं (अप्रतिक्षेप) अतएव दोनों में कल्पित भेद है और ज्ञाप्यज्ञापक-भाव बन जाता है।"

इस प्रकार ज्ञाप्यज्ञापक-भाव के लिये यथार्थ भेद की आवश्यकता नहीं, कल्पना-कृत भेद से ही यह हो सकता है और वृक्षत्व तथा शिंशपात्व दोनों में कल्पित भेद है ही इसलिये यहाँ ज्ञाप्यज्ञापक-भाव सहज में ही बन सकता है। अतः तादात्म्य-भाव से प्रति-बन्ध नियम होता है, यह युक्तिसंगत ही है। वास्तव में बौद्ध दर्शन के अनुसार अनुमान और अनुमेय व्यवहार कल्पित (मानस) धर्मधर्मिभाव से ही होता है। इसके लिये वस्तुओं की यथार्थ जगत् में विद्यमानता आवश्यक नहीं, यह आगे विवेचन किया जायेगा।

---

४५. अपि च तादात्म्ये कथं गम्यगमकभावः, न हि तदेव कर्म कर्तृ चेति युक्तम, तस्य भेदाश्रयत्वात्। न्या० वा० ता०, पृ० १६३, पं० ११।

५-अनुमान का विषय

प्रमाणों का उपयोग यही है कि उनसे अर्थ का ज्ञान होता है और अर्थ को जानकर प्राणी की उसमें प्रवृत्ति होती है। यहाँ यह विचार करना है कि अनुमान द्वारा किस पदार्थ का ज्ञान होता है? अथवा अनुमान का विषय क्या है? वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थों में विशेष रूप से दिग्नाग सम्प्रदाय के अनुमान-विषय पर ही विचार प्रस्तुत किये हैं अतः यहाँ उसका विवेचन ही अभिप्रेत है। इसके तीन पहलुओं पर इन ग्रन्थों में प्रकाश डाला गया है—(१) बौद्धदर्शन में अनुमान का विषय मानस है, बाह्य नहीं, (२) अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्य है और अध्यवसेय विषय अर्थक्रियाक्षम वस्तु है। (३) दिग्नाग के मत में अग्निविशिष्ट देश का अनुमान होता है।

(१) बौद्धदर्शन में अनुमान का विषय मानस (सामान्यलक्षण) है बाह्य नहीं:— दिग्नाग के मत में बुद्धि परिकल्पित धर्म-धर्मि-भाव से ही अनुमान-अनुमेय-भाव होता है, यह प्रकट करते हुए तात्पर्यटीका में कहा गया है—

न हि दिग्नागमते किञ्चिदस्ति वस्तु यत् नान्तरीयकं सद् हेतुर्भवति यथाऽऽह- सर्वोयमनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते, इति। न्या० वा० ता०, पृ० १८९।

"अर्थात् दिग्नाग के मत में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अविनाभावी होकर हेतु हो। जैसा कि कहा है—यह समस्त अनुमान तथा अनुमेय का व्यवहार बुद्धि द्वारा कल्पित (बुद्ध्यारूढेन) धर्म और धर्मी (जिसमें कोई धर्म या गुण हो) के सम्बन्ध पर निर्भर है, यह बाह्य जगत् में वस्तु की सत्ता (होना) और असत्ता (न होना) की अपेक्षा नहीं रखता।"

जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है,[४६] अनुमान के एक लक्षण का खण्डन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने यह लिखा है। यहाँ दिग्नाग का नाम स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है। अतः यह दिग्नाग का ही उद्धरण है, इसमें सन्देह का अवसर नहीं। वाचस्पति मिश्र ने इस उद्धरण को एक स्थान पर अन्यत्र भी[४७] न्यायतात्पर्यटीका में ही उद्धृत किया है। वहाँ भी यह ठीक इसी रूप में है, किन्तु वहाँ नाम-निर्देश नहीं किया गया 'यदाहुरेके' (जो कि कुछ कहते हैं) इस प्रकार ही इसे उद्धृत कर दिया है।

दिग्नाग के इस मन्तव्य पर रेन्डिल का कथन है—"कीथ का यह कथन एक भूल है कि दिग्नाग 'इस बात को बलपूर्वक अस्वीकार करता है कि कोई असल वस्तु अविनाभाव सम्बन्धवाली हो सकती है'। यह तो वाचस्पति हैं जो यह स्वीकार नहीं करते कि दिग्नाग के मत में असल वस्तुओं का कोई अविनाभाव सम्बन्ध हो सकता है"।[४८] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि दिग्नाग परमार्थसत् वस्तुओं में अविनाभाव सम्बन्ध का निषेध नहीं करते तो वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त कथन का क्या आशय है? इसका उत्तर देते हुए रेन्डिल अपने मत का उपसंहार करते हुए कहते हैं—"वास्तव में यह बात तो दूर की है कि

---

४६. ऊपर, परि० ७ अनु० १।

४७. न्या० वा० ता०, पृ० ५७ पंक्ति ११।

४८. Keith's statement that Diṅnage "Emphatically denies that there can be any real thing indissolubly connected" is an inadvertence. It is Vachaspati who denies that on Diṅnaga's view there can be any indissoluble connection of real things. Randle H.N., FFD., P. 54.

नैयायिक यह स्वीकार करे कि एक अवस्तुवादी सम्प्रदाय में इस प्रकार का अविनाभाव सम्बन्ध हो सकता है, वह (नैयायिक) तो बलपूर्वक अस्वीकार करता है कि वह सम्प्रदाय ऐसा विचार करने का भी अधिकार नहीं रखता। और, मेरा (रेन्डिल) विचार है कि इसमें कोई प्रमाण नहीं कि दिग्नाग ने कभी भी अपने अविनाभाव सम्बन्ध के सिद्धान्त को अपने विज्ञानवाद पर आश्रित किया हो।''[४९]

किन्तु तथ्य यही प्रतीत होता है कि दिग्नाग के मत में परमार्थसत् वस्तुओं का साध्य-साधन-भाव नहीं होता। श्चेरबात्स्की ने वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त उद्धरणों का उल्लेख करते हुए दिग्नाग के एतद्विषयक मन्तव्य का स्पष्ट निरूपण किया है।[५०] दिग्नाग के मत में परमार्थसत् वस्तुओं का धर्म-धार्मि-भाव नहीं हो सकता, इसका विवेचन करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—"इस (दिग्नाग) के मत में पर्वत नाम का कोई अवयवी नहीं, जिसमें (यदाधारो) धूम की उपलब्धि हो सके, किन्तु (दिग्नाग के मत में) अत्यन्त सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय परमाणु ही पर्वत हैं। इसी प्रकार (दिग्नाग के मत में) धूम भी कोई परमार्थसत् वस्तु नहीं।[५१] भाव यह है कि अनुमान में साध्य तथा साधन सभी बुद्धिकल्पित हैं वास्तविक नहीं। दिग्नाग का यही मन्तव्य है इसकी पुष्टि धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्तिक से भी होती है—

अनुमानानुमेयार्थव्यवहारस्थितिस्त्वियम्।
भेदं प्रत्ययसंसिद्धमवलम्ब्य च कल्प्यते॥ प्र० वा०, ४.१८३।

"अर्थात् यह अनुमान तथा अनुमेय अर्थ की व्यवस्था बुद्धिकल्पित (प्रत्यय-संसिद्धम्) भेद का आश्रय लेकर की जाती है।"

वस्तुतः दिग्नाग के मतानुसार साध्यसाधनभाव परमार्थसत् वस्तु पर आश्रित नहीं और न ही विज्ञानवाद पर अश्रित है; किन्तु विकल्पजन्य धर्म-धर्मि-भाव पर आश्रित है। विकल्पों की प्रतीति का विषय जो वस्तु का सामान्यलक्षण है उसी के आधार पर साध्य-साधन-भाव होता है। यह अनुमान स्वलक्षण को स्पर्श नहीं करता, किन्तु परम्परा से स्वलक्षण से सम्बन्ध रखता है इसलिये समर्थ प्रवृत्ति कराने वाला है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—**स्वलक्षणाप्रतिभास्यपि पारम्पर्येण तत्प्रतिबन्धात्तत्राविसंवादकोऽनुमानविकल्प इति।** न्या० वा० ता०, पृ० १५६।

(२) **अनुमान का ग्राह्य सामान्य है और अध्यवसेय-अर्थक्रियाक्षम वस्तु**—बौद्ध-दर्शन के प्रमाणों के विषय पर विचार करते हुए न्यायकणिका में अनुमान के विषय का निम्न प्रकार से निरूपण किया गया है—**तथाऽनुमानविकल्पस्यापि ग्राह्यं सामान्यमन्य-व्यावृत्तिरूपम्*, अध्यवसेयस्तु प्रवृत्तिविषयोऽर्थक्रियाक्षमः।** न्यायकणिका, पृ० २५७। "अर्थात् अनुमान-रूप विकल्प का भी ग्राह्य विषय अन्यव्यावृत्तिरूप सामान्य है और अध्यवसेय विषय है—अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु जो प्रवृत्ति का विषय है।"

जैसा कि प्रमाण-व्यवस्था के अनुच्छेद में दिखलाया गया है दिग्नाग के मतानुसार स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दो प्रकार के विषय हैं। इनमें से अनुमान सामान्यलक्षण का ग्रहण करता है अतः सामान्यलक्षण अनुमान का ग्राह्य विषय है। किन्तु सामान्य तो बौद्धदर्शन

४९. वही, पृ० ५४।
५०. BL. Vol. I., pp. 234-35।
५१. न ह्यस्य मते पर्वतो नाम कश्चिदवयवी यदाधारो धूम उपलभ्येत किन्तु परमाणवः परमसूक्ष्मा अतीन्द्रियाः पर्वतः, एवं धूमोऽपि तादृश एव। न्या० वा० ता०, पृ० १८० पं० २२।

*'अन्यथावृत्तिरूपम्' के स्थान पर 'अन्यव्यावृत्तिरूपम्' शुद्ध है।

के अनुसार बुद्धिकल्पित है, विकल्प-जन्य है। अनुमान से इसका ग्रहण हो जाने पर भी व्यक्ति की बाह्य वस्तु के ग्रहण या त्याग के लिये प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? इसलिये यह स्वीकार किया जाता है कि अनुमान अध्यवसाय द्वारा उस अर्थ का ज्ञापक है जो प्रवृत्ति का विषय है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनुमान द्वारा परमार्थसत् स्वलक्षण का अध्यवसाय नहीं होता अपितु उसके अन्यव्यावृत्तिरूप का ही अध्यवसाय होता है; जैसा कि कहा है 'यदनुमानेन गृह्यते यच्चाऽवसीयते द्वे अप्यन्यनिवृत्ती न वस्तुनी। न्यायकणिका, पृ० १४८।

इस प्रकार अनुमान द्वारा पर्वत आदि पर अग्नि सामान्य का ग्रहण हो जाता है। इस के पश्चात् होने वाले अध्यवसाय नामक ज्ञान से प्रवृत्ति-विषय दहन पाचन आदि में समर्थ अग्नि की प्रतीति हो जाती है। फिर उस अग्नि को चाहने वाले की उसमें प्रवृत्ति हो जाती है। जैसा कि न्यायतात्पर्यटीका में बतलाया गया है—इसलिये बाह्य वस्तु से भेदग्रहण न होने के कारण अन्य-व्यावृत्तिरूप मानस (अबाह्य) सामान्य को बाह्यवत् बोध कराता हुआ अनुमान बाह्य वस्तु में प्रवृत्ति कराता है और परम्परा से बाह्य वस्तु से सम्बन्ध होने के कारण बाह्य वस्तु को प्राप्त कराता है तथा संवादक ज्ञान होने के कारण भ्रान्तियुक्त होकर भी प्रमाता की अभीष्ट सिद्धि कराने के कारण प्रमाण कहा जाता है।[५२]

अनुमान का विषय सामान्य है, वह सामान्य विकल्प-जन्य है तथा बुद्ध्यारूढ है और अन्यव्यावृत्ति (अपोह) रूप है। बाह्य-जगत् में उसकी सत्ता नहीं; यह आगे विवेचन किया जायेगा। किन्तु उस मानस सामान्य का बाह्य से भेदग्रहण नहीं होता; इसीलिए अनुमान प्रमाण यद्यपि विकल्प-जन्य सामान्य-लक्षण का ग्रहण करता है तथापि वह मनुष्य की बाह्य वस्तु में प्रवृत्ति करा देता है। अथवा यों कहिये कि अनुमान के द्वारा कल्पना-जन्य विषय का ग्रहण करता हुआ व्यक्ति उसे बाह्यवत् समझ लेता है और बाह्य जगत् में प्रवृत्त हो जाता है। परम्परा से अनुमान का बाह्य वस्तु से सम्बन्ध है। अनुमान से सामान्यलक्षण का ग्रहण हो जाने के अनन्तर जो अध्यवसाय होता है उसके द्वारा अनुमान का बाह्य से भी सम्बन्ध है। इसी से वह बाह्य वस्तु को प्राप्त करा देता है। और, जैसा ज्ञान है वैसी ही वस्तु मिलती है, अतः वह यथार्थ वस्तु का प्रापक या संवादक होता है।[५३]

इस प्रकार अनुमान मिथ्या-कल्पित सामान्य विषयक होता है तथापि प्रमाण माना जाता है, क्योंकि प्रमाणों की प्रमाणता यही है कि समर्थ प्रवृत्ति के जनक हों। जैसा कि वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—**प्रवृत्तिविषयापेक्षं हि प्रामाण्यं तयोः। यथाह (?)**

न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्याऽध्यवसाय प्रवर्त्तमानोऽर्थ क्रियायां विसंवाद्यते। न्यायकणिका, पृ० २५७। उन दोनों (प्रत्यक्ष और अनुमान) की प्रामाणिकता प्रवृत्ति के विषय की अपेक्षा से ही है अर्थात् प्रवृत्ति के विषय को प्राप्त कराने के कारण ही वे प्रमाण कहलाते हैं। जैसा कि कहा है—इन दोनों के द्वारा अर्थ का ग्रहण करके तथा अध्यवसाय करके प्रवृत्त होता हुआ मनुष्य सार्थक कार्य में वञ्चित नहीं होता अर्थात् उसे यथेप्सितरूप में प्राप्त करता है।"

---

५२. तस्मात् सामान्यमन्यव्यावृत्तिरूपमबाह्यं बाह्यभेदाग्रहाद् बाह्यत्वेनावगाह्यमानम् अनुमानं बाह्ये प्रवर्तयति। पारम्पर्येण च बाह्यप्रतिबन्धाद् बाह्यं प्रापयत् संवादकं सत् भ्रान्तमपि प्रमात्राशय-वशात् प्रमाणम्। न्या० वा० ता०, पृ० १८।

५३. मि०, तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि। स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतस्ततः स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य अनर्थस्तु ग्राह्यः। न्यायबिन्दु टीका, पृ० १६।

(३) **दिग्नाग के मत में अग्निविशिष्ट देश का अनुमान होता है**—अनुमान द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ की अनुमिति होती है, यह मान लेने पर एक प्रश्न उठता है कि वह अप्रत्यक्ष अर्थ किस रूप में जाना जाता है ? न्याय-भाष्य में सामान्य रूप से यह कहा गया है "एक के दर्शन से दूसरी अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान होता है; जैसे धूम से अग्नि का।"[५४] इसकी व्याख्या में वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—**एवं साध्यधर्मिणि अन्यतरधर्मदर्शनेन साधनधर्मदर्शनेन अन्यतरस्य साध्यधर्मस्यानुमानमनुमितिदर्शनम्** । न्या० वा० ता० पृ० १७९ । "अर्थात् पाकशाला आदि दृष्टान्त धर्मी के समान (एवं) साध्यधर्मी (पर्वतादि) में एक धर्म अर्थात् साधनधर्म (धूमादि) को देखने से अन्य धर्म अर्थात् साध्य धर्म (अग्नि आदि) का अनुमान हो जाता है।"

यहाँ प्रश्न यह होता है कि अनुमेय वस्तु का यथार्थरूप क्या है ? धूम से जो अग्नि की अनुमिति होती है उसमें तीन विकल्प हो सकते हैं—(१) अनुमान का विषय (अनुमेय) अग्नि है; अर्थात् धूम से अग्नि मात्र का अनुमान किया जाता है। (२) धूम के होने से अग्नि मात्र की सिद्धि तो हो ही रही है अनुमान द्वारा अग्नि-विशेष का पर्वत से सम्बन्ध जाना जाता है । (३) अग्निविशिष्ट पर्वत का अनुमान किया जाता है। दिग्नाग ने प्रथम दोनों मतों का खण्डन करके "अग्निविशिष्ट देश का अनुमान होता है" यह प्रतिपादित किया है । जैसा कि न्यायतात्पर्यटीका में दिखलाया गया है—

"यहाँ दिग्नाग ने धूम से अग्नि रूप अन्य धर्म का अनुमान होता है अथवा अग्नि तथा देश (पर्वतादि) के सम्बन्ध का अनुमान होता है—इसको दोषयुक्त सिद्ध करके यह समर्थन किया है कि अग्नि-विशिष्ट देश का अनुमान होता है । जैसा कि कहा है—'कुछ दार्शनिक हेतु या ज्ञापक (लिङ्ग धूमादि) के नियत सम्बन्ध से अन्य धर्म (अग्नि आदि) को अनुमेय मानते हैं । दूसरे सम्बन्ध (अग्नि और पर्वतादि का सम्बन्ध) को अनुमेय मानते हैं; क्योंकि धर्म (अग्नि) और धर्मी (पर्वत) तो सिद्ध ही हैं ।।१।।

(प्रथम मत का खण्डन करते हुए दिग्नाग कहते हैं)—यदि लिङ्ग (बोधक) धूम इत्यादि धर्म अर्थात् अग्नि में पहले से ही सिद्ध है तो दूसरी क्या वस्तु है जिसका उस (लिङ्ग, धूमादि) से अनुमान किया जाता है । यदि कहो कि धर्मी (पर्वतादि) में अग्नि का अनुमान किया जाता है तो उस (पर्वत आदि देश) को ही अनुमेय क्यों नहीं मानते ? ।।२।।

(दूसरे मत का खण्डन करते हुए दिग्नाग कहते हैं)—सम्बन्ध में (अग्नि और देश का सम्बन्ध अनुमेय है इस मत में) भी दोनों (साध्य और साधन) नहीं हैं (?) तथा सम्बन्ध वाली वस्तु में (तद्=सम्बन्ध, तद्वति=सम्बन्धवति) षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिये ('पर्वते अग्निरस्ति' इसके स्थान पर 'पर्वतस्य अग्निरस्ति' यह प्रयोग होना चाहिये) । सम्बन्ध वाच्य भी नहीं; क्योंकि यह तो अनुमान-प्रयोग से केवल गृहीत हो जाता है (अर्थापन्न है) और यह सम्बन्ध लिङ्ग से सम्बद्ध नहीं जाना जाता ।।३।। सम्बन्ध के धर्म के रूप में लिङ्ग का ज्ञान नहीं होता अपितु देश से सम्बद्ध लिङ्ग का ज्ञान होता है, यह अर्थ है ।

(अग्नि विशिष्ट देश का अनुमान होता है इस का समर्थन करते हुए दिग्नाग कहते हैं)—धर्म (अग्नि) के साथ लिङ्ग (धूम) का नियत सम्बन्ध दूसरे स्थान (पाकशाला आदि)

---

५४. अन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाऽग्निरिति । न्यायभाष्य, १।१।५।

में देख लिया गया है और वहाँ प्रसिद्ध हुआ वह लिङ्ग उस धर्म (अग्नि आदि) युक्त (विशिष्ट) धर्मी (पर्वतादि) का बोध करा देता है।"[५५]

दिग्नाग के इस मन्तव्य की उद्योतकर ने आलोचना की है। डा० सतकरी मुखर्जी का कथन है कि उद्योतकर की आलोचना तार्किक औचित्य (logical justice) के कारण नहीं अपितु विरोध-भावना के कारण है। वस्तुतः यह दिग्नाग की तर्कशास्त्र को एक महत्त्वपूर्ण देन थी, इसी हेतु बाद के नैयायिक विशेषकर जयन्त भट्ट ने इसको स्वीकार किया तथा कुमारिल भट्ट ने भी यही मत स्वीकार किया था।[५६] वाचस्पति मिश्र ने भी कुछ अंशों में इसका औचित्य स्वीकार किया इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक के एतद्विषयक अंश की व्याख्या में एक टीकाकार के कर्त्तव्यमात्र का ही निर्वाह किया है।[५७]

६. बौद्ध तर्कशास्त्र के अनुसार परार्थानुमान तथा अनुमानवाक्य के अवयव

वैशेषिक और बौद्ध तर्क शास्त्र दोनों ने ही अनुमान के स्पष्टरूप से दो भेद किये हैं—(१) स्वार्थानुमान (२) परार्थानुमान। ये दोनों भेद न्याय-सूत्र और न्याय-भाष्य में स्पष्टतया प्रतीत नहीं होते। न्यायवार्त्तिक तथा तात्पर्यटीका में भी इनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। वास्तव में अनुमान का यह द्विधा विभाग तर्कशास्त्र की भूमि में एक नवीन उद्भावना थी। प्रशस्तपाद और दिग्नाग दोनों ने ही इस विभाजन पर बड़ा बल दिया है। किन्तु इसकी उद्भावना का श्रेय किसे दिया जाये, यह विवाद का विषय है। न्यायबिन्दु-टीका के आधार पर कीथ तथा रेन्डिल यह मानते हैं कि स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान में स्पष्ट भेद करने वाले दिग्नाग ही थे।[५८] यद्यपि प्रशस्तपाद भाष्य में भी अनुमान के ये दो भेद किये गये हैं तथापि कुछ विद्वानों के अनुसार दिग्नाग एवं प्रशस्त-पादाचार्य समकालीन ही हैं। जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है[५९], यदि प्रशस्तपाद दिग्नाग के पूर्वकालीन सिद्ध होते हैं तो इस विभाजन के उद्भावक वे ही माने जा सकते

---

५५. अत्र दिग्नागेन धूमादग्निरूपधर्मान्तरानुमानम् अग्निदेशयोः सम्बन्धानुमानं च दूषयित्वाऽग्नि-विशिष्टदेशानुमानं समर्थितम्। तथा चाह—

केचिद्धर्मान्तरं मेयं लिङ्गस्याव्यभिचारतः।
सम्बन्धं केचिदिच्छन्ति सिद्धत्वाद्धर्म्मधर्मिणोः॥
लिङ्गं धर्मे प्रसिद्धं चेत्किमन्यत्तेन मीयते।
अथ धर्मिणि तस्यैव किमर्थं नानुमेयता॥
सम्बन्धेऽपि द्वयं नास्ति षष्ठी श्रूयेत तद्वति।
अवाच्योऽनुगृहीतत्वान्न चासौ लिङ्गसङ्गतः॥

न हि सम्बन्धधर्म्मतया लिङ्गं प्रमीयते, अपि तु देशसङ्गतमित्यर्थः।

लिङ्गस्याव्यभिचारस्तु धर्म्मेणान्यत्र दृश्यते।
तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्म्मिणं गमयिष्यति॥ इति॥

न्या० वा० ता०, पृ० १७९-१८०।

विद्याभूषण (HIL., p. 281) ने इन कारिकाओं का तिब्बती अनुवाद दिखलाया है। ये प्रमाणसमुच्चय के द्वितीय परिच्छेद की हैं।

५६. मि०, Buddhist philosophy of universal flux. p. 354.

५७. वही, पृ० ३५५।

५८. B L. Vol. I, p. 290, fn. 2.

५९. ऊपर, परि० १ अनु० ७ (पृ० २२)।

हैं। यद्यपि न्यायसूत्र तथा वात्स्यायन भाष्य में पञ्चावयव वाक्य का विस्तारपूर्वक विशलेषण किया गया है तथापि यह स्पष्ट ही है कि न्यायसूत्र या वात्स्यायन भाष्य में इन अवयवों को 'परार्थानुमान' रूप में नहीं बतलाया गया अपि तु प्रमाणों से पृथक् ही इनका निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह उचित प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का विभाजन प्रशस्तपाद ने किया। न्यायसूत्र तथा भाष्य आदि के पञ्चावयव वाक्य के विवेचन का भी इसके विकास पर प्रभाव पड़ा तथा दिग्नाग ने इसे स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का विवेक संक्षेप में यही है कि जब लिङ्ग-दर्शन और लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्धस्मरण (व्याप्ति-स्मरण) से अप्रत्यक्ष अर्थ की अनुमिति हो जाती है तो यह स्वार्थानुमान है।[60] जब शब्दों द्वारा दूसरे को किसी वस्तु का अनुमान कराया जाता है तो वहाँ न्याय-वैशेषिक के अनुसार पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है। वे पांच अवयव ये हैं-- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।[61] इनका कथन है कि इन पाँचों अवयवों में न्याय का प्रयोग पूर्ण होता है। इसी से इस अनुमान प्रयोग को पञ्चावयव वाक्य भी कहते हैं।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार अन्य के प्रति किसी अर्थ का अनुमान द्वारा प्रतिपादन करने के लिये इन पाँच अवयवों का प्रयोग किया जाता है। वात्स्यायन भाष्य १.१.३२ से विदित होता है कि कुछ आचार्य अनुमान वाक्य के दस अवयव मानते थे; किन्तु वात्स्यायन तथा उद्योतकर ने पाँच अवयवों की ही स्थापना की थी। बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान वाक्य के केवल दो ही अवयव माने जाते हैं—हेतु तथा दृष्टान्त। यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध का नाम निर्देश करते हुए यह स्पष्टतः नहीं उल्लेख किया कि बौद्ध-न्याय में दो अवयव माने गये हैं तथापि न्याय-वार्त्तिक की व्याख्या करते हुए उन्होंने दो अवयव के मन्तव्य पर बल दिया है। वहाँ पर वाचस्पति मिश्र का संकेत बौद्ध-न्याय की ओर ही है, यह प्रतीत होता है।

प्रसंग यह है कि उद्योतकर के अनुसार गौतम का 'प्रतिज्ञाहेतू०' इत्यादि सूत्र (१.१.३२) विभागपूर्वक अवयवों का निर्देश करने के लिए है और इससे जो कोई दस या तीन अवयव मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है। यहाँ वाचस्पति मिश्र का कथन है कि न्यायवार्त्तिक में 'कोई तीन अवयव मानते हैं' यह कहना उपलक्षणमात्र है अतः कोई दो अवयव मानते हैं यह भी समझना चाहिये।[62] इसी प्रकार उद्योतकर ने दश अवयवों के मन्तव्य का खण्डन करके उपसंहार रूप में बतलाया है कि "तीन अवयवों वाला भी अनुमान वाक्य नहीं होता, यह उपनय तथा निगमन को पृथक् सिद्ध करते हुए[63] निरूपण किया जायेगा।"[64] इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—**त्र्यवयवमपीत्यपिना द्व्यवयवप्रतिषेधं समुच्चिनोति। उपनयनिगमनयोरित्यत्र प्रतिज्ञाया अपीति द्रष्टव्यम्।** न्या० वा० ता०, पृ० २६७। भाव यह है कि दो अवयव वाला भी (अपि) अनुमान वाक्य नहीं हो सकता यह बात भी 'अपि' शब्द (अवयवमपि) द्वारा प्रकट होती है। साथ ही उपनय तथा निगमन के समान प्रतिज्ञा को भी पृथक् सिद्ध करके इस 'द्व्यवयव' मन्तव्य का निराकरण किया जायेगा।

---

६०. स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते। न्याय-भाष्य, १.१.५।

६१. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। न्यायसूत्र १.१. ३२।

६२. त्र्यवयवग्रहणमुपलक्षणार्थम्, द्व्यवयवमित्यपि द्रष्टव्यम्। न्या० वा० ता०, पृ० २६६।

६३. अर्थान्तरभावम्।

६४. न्यायवार्त्तिक, पृ० १०८।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतिपक्षी (बौद्ध) ने उपनय, निगमन और प्रतिज्ञा की पृथक्ता (अर्थान्तरभाव) का प्रतिषेध किया था तथा हेतु और उदाहरण ये दो अवयव ही स्वीकार किये थे। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध की ओर से उपनय का खण्डन करते हुए स्पष्ट ही उल्लेख किया है—**अत्र केचिदाहुः हेतुवचनादेव सोदाहरणात् साध्यसिद्धेर-साधनाङ्गमुपनय इति। न्या० वा० ता०, पृ० २६६।** "अर्थात् यहां कुछ लोग कहते हैं:—उदाहरण सहित हेतु-कथन से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है इसलिए उपनय साधन का अङ्ग नहीं"। इसी प्रकार 'निगमन' का भी विरोध किया गया है।[६५]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उद्योतकर ने तीन अवयव मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का ही उल्लेख किया है, दो अवयव मानने वाले का नहीं। वाचस्पति मिश्र ने दो अवयव मानने वाले का निर्देश किया है, किन्तु उन्होंने भी उपनय तथा निगमन का प्रतिषेध करने वाली उक्तियाँ ही उद्धृत की हैं, प्रतिज्ञा का प्रतिषेध करने वाली नहीं। साथ ही वसुबन्धु ने तीन अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) के न्याय-प्रतिपादित स्वरूप की आलोचना की है।[६६] प्रतिज्ञा का प्रतिषेध नहीं किया तथा पक्ष का स्वरूप-निर्देश करते हुए प्रतिज्ञा का लक्षण भी किया है, जैसा कि न्यायवार्त्तिक से स्पष्ट विदित होता है।[६७] इससे यह प्रतीत होता है कि वसुबन्धु को तीन अवयव अभिमत थे। सम्भवतः दिग्नाग ने भी प्रतिज्ञा या पक्ष-वचन की उपयोगिता का स्पष्ट खण्डन नहीं किया था, वरन् पक्ष का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया था, जैसा कि आगे निरूपण किया जा रहा है।[६८] विद्याभूषण ने दिग्नाग के न्यायप्रवेश ग्रन्थ के आधार पर पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त—इन तीन न्यायावयवों का उल्लेख किया है[६९]। "दिग्नाग पक्षवचन को साधन का अङ्ग नहीं मानते थे" यह बात उद्योतकर के समय तक स्पष्ट नहीं थी अतएव उद्योतकर ने तीन अवयव मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का ही उल्लेख किया था। दिग्नाग के मत में पक्ष-वचन अनुमान वाक्य का अवयव नहीं (असाधन), यह बात तो धर्मकीर्ति ने बतलाई थी।[७०] धर्मकीर्ति ने यह भी बतलाया कि साधन का अङ्ग न होते हुए भी दिग्नाग ने पक्ष का स्वरूप विवेचन क्यों किया।[७१] वाचस्पति मिश्र के समक्ष धर्मकीर्ति का यह समस्त मन्तव्य उपस्थित था अतएव उन्होंने उपर्युक्त प्रकार से उद्योतकर द्वारा ही ('अपि' शब्द के ग्रहण से) दो अवयव मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का उल्लेख किया। वस्तुतः वाचस्पति मिश्र की इस प्रकार की व्याख्या का आधार धर्मकीर्ति का मन्तव्य ही था।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि वसुबन्धु ने न्याय-वाक्य के तीन अवयव माने थे—प्रतिज्ञा (पक्ष), हेतु और दृष्टान्त। दिग्नाग ने भी इन तीनों का विवेचन किया था, किन्तु

---

६५. अत्र केचिदाहुः निगमनमसाधनाङ्गम्, कथम्? प्रतिज्ञया गतार्थत्वादिति। न्या० वा० ता०, पृ० ३०१।

६६. अत्र वसुबन्धुना 'प्रतिज्ञादयस्त्रयोऽवयवा दुर्विहिता अक्षपादलक्षणेन' इत्युक्तम्। न्या० वा०ता० पृ० २६८।

६७. यद्यपि वादविधौ 'साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तं। न्या० वा०, पृ० ११७।

६८. आगे, परि० ७ अनु० ७।

६९. विद्याभूषण; HIL., P. 289-290.

७०. (क) तत् पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने। प्रमाणं संशयोत्पत्तेस्ततः साक्षान्न साधनम्॥ प्र० वा०, ४.१६। (ख) नन्वाचार्यस्य पक्षवचनमसाधनत्वेनेष्टमिति कथं ज्ञायते, मनोरथनन्दिवृत्ति ४.१८ (अवतरणिका)।

७१. न्यायबिन्दुटीका, पृ० ६०।

स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाया कि न्याय-वाक्य के कितने अवयव होते हैं। धर्मकीर्ति ने यह स्पष्ट किया कि दिग्नाग के मतानुसार पक्षवचन (प्रतिज्ञा) साधन वाक्य का अङ्ग नहीं है। सम्भवतः इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने यह प्रकट किया कि धर्मकीर्ति को साधनवाक्य के दो अवयव ही अभीष्ट थे—हेतु और दृष्टान्त। आगे चल कर मोक्षाकर गुप्त ने व्याप्ति तथा पक्षधर्मता—इन दो अवयवों का निरूपण किया।[७२] श्चेरबात्स्की का कथन है कि दिग्नाग और धर्मकीर्ति के मतानुसार न्याय-वाक्य के वास्तविक अवयव दो ही थे—व्याप्ति तथा पक्षधर्मता।[७३] धर्मकीर्ति के न्यायाबिन्दु और प्रमाणवार्त्तिक से यह स्पष्टतः नहीं विदित होता कि धर्मकीर्ति का इस विषय में क्या मन्तव्य था। वहाँ तो यही प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति के अनुसार त्रैरूप्य सम्पन्न हेतु से ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो जाती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, धर्मकीर्ति ने एक ओर तो पक्षवचन (पक्ष या प्रतिज्ञा) को साधन-वाक्य का अवयव नहीं माना। दूसरी ओर दृष्टान्त का पृथक् निर्देश करना उचित नहीं समझा। जैसा कि कहा है—"तीन रूपों से युक्त हेतु कह दिया। उतने से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है, इसलिये दृष्टान्त नाम का कोई पृथक् साधन का अङ्ग नहीं। अतः उसका लक्षण पृथक् नहीं कहा जाता। वह तो हेतु से गतार्थ है ही"।[७४]

वस्तुतः धर्मकीर्ति के अनुसार त्रैरूप्य सम्पन्न हेतु का कथन ही परार्थानुमान का साधन-वाक्य है। हाँ, जैसा कि श्चेरबात्स्की ने दिखलाया है,[७५] परार्थानुमान में हेतु के तीनों रूपों का क्रम बदल जाता है:—

स्वार्थानुमान	**परार्थानुमान**	**हेतु का—**
१. लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव	१. सपक्ष एव सत्त्वम्	[केवल सपक्ष में ही रहना]
२. सपक्ष एव सत्त्वम्	२. असपक्षे चासत्त्वमेव	[विपक्ष में कभी न रहना]
३. असपक्षे चासत्त्वमेव	३. अनुमेये सत्त्वमेव	[पक्ष में नियम से रहना]

७. प्रतिज्ञा या पक्षवचन का स्वरूप

न्यायसूत्र में 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा कहलाता है, यह लक्षण किया गया है। इस लक्षण पर बौद्ध दर्शन ने आपत्तियाँ उठाईं; जिनका उद्योतकर ने समाधान किया और साथ ही अन्यों के प्रतिज्ञालक्षण इस प्रकार उद्धृत किये—

(i) "किन्हीं ने अन्य प्रकार से पक्ष-लक्षण किये हैं; जैसे—"**पक्षो यः साधयितुमिष्टः**", अर्थात् पक्ष वह है जिसे सिद्ध करना इष्ट है।[७६] इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते है:—**तदेवमदुष्टमस्मल्लक्षणमिति यदस्मल्लक्षणमनेन दोषेण भङ्क्त्वा भदन्तेनान्यथा लक्षणं प्रणीतं तदेव दुष्टमित्याह**—न्या० वा० ता०, पृ० २७०। "तो इस प्रकार हमारा

---

७२. व्याप्तिपक्षधर्मतासंज्ञकं द्व्यवयवमेव साधनवाक्यं सौगतानाम्; तर्कभाषा, पृ० १४।

७३. BL. Vol. I. p. 280।

७४. त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते, गतार्थत्वात्। न्यायबिन्दु, पृ० ९१।

७५. BL. Vol. I. p. 281।

७६. कैश्चिदन्यथा पक्षलक्षणानि क्रियन्ते, तद्यथा—"पक्षो यः साधयितुमिष्ट इति।
न्या० वा०, पृ० ११३।

(नैयायिक का) लक्षण दोष-रहित है इसलिये जो हमारे लक्षण को इस (अतिव्याप्ति आदि)[७७] दोष से खण्डित करके भदन्त ने अन्य प्रकार से लक्षण किया है वही दुष्ट है।''

उद्योतकर ने 'पक्षो यः साधयितुमिष्टः' इस लक्षण के विषय में यह निर्देश नहीं किया कि यह किसका लक्षण है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से ही इसके विषय में कुछ परिचय मिलता है। उन्होंने भी यहाँ केवल इतना कहा है कि यह भदन्त (बौद्ध) का लक्षण है। इस से यह ज्ञात नहीं होता कि किस बौद्धाचार्य का यह लक्षण है। यद्यपि तात्पर्यटीका में आगे यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि यह किसका लक्षण है तथापि गवेषकों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। डा० झा ने न्यायवार्त्तिक के अंग्रेज़ी अनुवाद में लिखा है कि यह बौद्ध तार्किक सुबन्धु का किया हुआ लक्षण है।[७८] इस पर रेन्डिल लिखते हैं—'वह (डा० झा) यह नहीं कहते कि सुबन्धु का लक्षण कहने का क्या आधार है? वाचस्पति ने तो केवल इसे एक बौद्ध का लक्षण कहा है—"भदन्तेनान्यथा लक्षणं प्रणीतम्"।[७९] इस पर विचार करते हुए रेन्डिल ने उपसंहार रूप में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यह लक्षण तथा (आगे कहा जाने वाला) 'साध्यत्वेनेप्सितः पक्षः' इत्यादि लक्षण दोनों ही वाचस्पति मिश्र के अनुसार दिग्नाग के हैं"।[८०]

यथार्थ में तो तात्पर्यटीका को देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि यह विषय विवाद से परे है। वाचस्पति मिश्र ने इस लक्षण को स्पष्ट रूप से वसुबन्धु का बतलाया है। यह अवश्य है कि इस लक्षण की टीका में उन्होने स्पष्ट निर्देश नहीं किया; किन्तु आगे चल कर तृतीय लक्षण का विचार करते हुए इसका निर्देश किया है—**तथा पक्षो यः साधयितु-मिष्टः' इत्यत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थानिराकृतग्रहणं कर्त्तव्यम्**।[८१] न्या०वा०ता०, पृ० २७३। इस प्रकार यह लक्षण वसुबन्धु का है डा० झा का यह विचार ही सम्यक् प्रतीत होता है।

(ii) पक्ष का दूसरा लक्षण वार्त्तिककार ने इस प्रकार दिया है—**एवं विचारणाया-मिष्टोऽर्थः पक्ष इत्यत्रापीष्टग्रहणमनर्थकम्**। न्या० वा०, पृ० ११५।

"अर्थात् इस प्रकार विचारने पर इष्ट अर्थ पक्ष है, यहां भी 'इष्ट' ग्रहण अनर्थक है"। इस लक्षण पर तात्पर्यटीका में विशेष ध्यान नहीं दिया गया। वास्तव में यह वसुबन्धु के लक्षण के समान ही है किन्तु यह किस आचार्य का है इस पर प्रकाश नहीं पड़ता।

(iii) पक्ष का तीसरा लक्षण दिखलाते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं:— **स्थानान्तरीयं च भदन्तस्य लक्षणम्-'साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः'। इति न्या० वा० ता०, पृ० २७३**। "अर्थात् अन्य स्थान पर दिया हुआ भदन्त का लक्षण है—जिसका विरुद्ध अर्थ के द्वारा निराकरण न किया गया हो ऐसा साधने के लिए अभीष्ट पक्ष कहलाता है।" भाव यह है कि जो सिद्ध करना होता है, जिसे साध्य रूप में रखना होता है वही पक्ष है यदि उसका प्रत्यक्ष आदि से प्राप्त (विरुद्ध) अर्थ द्वारा निराकारण

---

७७. भदन्तः प्रतिज्ञालक्षणमतिव्याप्त्यव्याप्तिभ्यामाक्षिपति। न्या० वा० ता०, पृ० २६८।

७८. 'Put forward by the Baudha logician Subandhu'. न्यायवार्त्तिक ट्रांसलेशन, पृ० ३३१ टिप्पणी।

७९. FFD., p. 27. fn. 1.

८०. वही, पृ० २८ टिप्पणी।

८१. बनारस संस्करण में 'न कर्त्तव्यम' पाठ है जो शुद्ध नहीं। कलकत्ता संस्करण (पृ० २८१) में 'कर्त्तव्यम्' पाठ ही है।

हो जाता है तब वह पक्ष नहीं।[८२] अतः प्रत्यक्ष आदि द्वारा अनिराकृत साध्य रूप से इष्ट पक्ष कहलाता है।

इस लक्षण के विषय में भी वार्तिक या तात्पर्यटीका में नामनिर्देश नहीं किया गया। रेन्डिल महोदय ने अनेक युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह लक्षण दिग्नाग का प्रतीत होता है।[८३] धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में इससे मिलता-जुलता ही पक्ष का लक्षण किया है, इससे भी यही प्रतीत होता है कि यह लक्षण दिग्नाग का ही है।[८४] वस्तुतः इस विषय में युक्तियों और कल्पनाओं की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि प्रमाणवार्तिक की मनोरथनन्दिकृत वृत्ति में स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है कि यह लक्षण दिग्नाग के 'न्यायमुख' नामक ग्रन्थ से लिया गया है—**न्यायमुखे "साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः" इति पक्षलक्षणे**·········(प्र० वा० वृ०, ४.८६ की अवतरणिका)।

८. हेतु का स्वरूप

'हेतु' अनुमान का सर्वप्रधान अङ्ग है। साध्य का ज्ञापक ही हेतु है। अनुमान वाक्य में भी हेतु का मुख्य स्थान है। इसीलिये अनुमान का लक्षण करते हुए हेतु शब्द का प्रयोग किया गया है तथा अनुमान-वाक्य में भी। उद्योतकर ने बौद्धों की कई उक्तियों को अनुमान-लक्षण तथा पञ्चावयव वाक्य के अङ्गभूत हेतु दोनों में ही समान रूप से दिखला दिया है। इससे यह एक उलझन पैदा हो जाती है कि हेतु शब्द से कहाँ 'अनुमान' अर्थ अभिप्रेत है और कहाँ पञ्चावयव वाक्य या त्र्यवयव-वाक्य का एक अङ्ग। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कठिनाई गवेषकों के सामने बराबर रही है। फिर भी प्रकरण से या उद्धहरण के ठीक विवरण से इसका निर्णय किया जा सकता है।

बौद्धदर्शन-निर्दिष्ट हेतु के कई लक्षण न्यायवार्तिक तथा तात्पर्यटीका में समुद्धृत किए गये हैं। उनमें से प्रथम यह है—(i) **"सम्प्रति हेतुलक्षणमुपन्यस्य दूषयति—'हेतुर्विपक्षाद् विशेष' इत्यन्ये।"** न्या० वा० ता०, पृ० २८६। "अर्थात् अब हेतु के लक्षण को उद्धृत करके (उद्योतकर उसका) खण्डन करते हैं। अन्य कहते हैं—जो विपक्ष से भिन्न हो अर्थात् विपक्ष में न रहता हो वह हेतु है।"

जो पक्ष में रहता है तथा सपक्ष में रहता है किन्तु विपक्ष में नहीं रहता, वही हेतु है। इस त्रैरूप्यसम्पन्न हेतु को दूसरे शब्दों में कहा गया है अर्थात् जो विपक्ष में न रहता हो।

यह लक्षण किस आचार्य का है, इस बात का निर्देश न्यायवार्तिक तथा न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में नहीं किया गया।

(ii) **दिग्नाग का हेतु-लक्षण**—अनुमान प्रकरण में कहे हुए दिग्नाग के त्रैरूप्य हेतु का तथा सप्त संभावनाओं का हेतु-प्रकरण में भी वार्तिककार ने उल्लेख किया है। साथ ही दिग्नाग का एक हेतु-लक्षण और भी वहाँ प्रस्तुत किया गया है। वह यह है—**दिग्नागस्यैव प्रदेशान्तरहेतुलक्षणम्**। न्या०वा०ता०, पृ० २९१—**'ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः'—न्या० वा०**, पृ० १३१। "अर्थात् दिग्नाग का ही अन्य स्थल का हेतु-लक्षण

८२. यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न सः पक्ष इति। न्यायबिन्दु, पृ० ६३।

८३. FFD., p. 27.28.

८४. स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति। न्यायबिन्दु, पृ० ६०।

है—'जो ग्राह्य अर्थात् पक्ष का धर्म उस (पक्ष) के अंश से व्याप्त है वह हेतु है।" इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

ग्राह्यधर्मः पक्षधर्मः। तदंशेन तस्यैव पक्षस्यांशेन साध्यधर्मसामान्येन व्याप्तो हेतुरिति। ...तदंशेन व्याप्त इत्यस्य विवरणालोचनेन सपक्षसत्त्वं विपक्षाच्च व्यावृत्तिरित्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० २६१।

"इस लक्षण में 'ग्राह्यधर्म' शब्द का अर्थ है—पक्ष-धर्म अर्थात् जिस में अनुमान करना हो (पक्ष) उसका धर्म या गुण। 'तदंशेन' का अर्थ है उसी पक्ष के अंश के साथ अर्थात् साध्य धर्म (अग्नि आदि) के सामान्य स्वभाव से व्याप्त हेतु है। 'तदंशेन व्याप्तः' इसका विवरण (व्याख्या या वृत्ति) देखने से 'सपक्ष में होना' और 'विपक्ष में न होना', यह अर्थ प्रकट होता है।"

रेन्डिल का कथन है कि ग्राह्यधर्म० इत्यादि हेतु-लक्षण आचार्य दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय के ही अन्य स्थल से उद्धृत किया गया है। ऊपर जिस 'विवरण' (विवरणालोचनेन) का उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने किया है इसका तात्पर्य 'प्रमाणसमुच्चय' पर दिग्नाग की स्ववृत्ति से है।[८५] रेन्डिल का यह भी कथन है कि "इस उक्ति का बहुत अधिक महत्त्व है; क्योंकि इसमें (और केवल इसमें ही) व्याप्ति का सिद्धान्त जिसके साथ दिग्नाग का नाम सर्वदा जोड़ा जाता है, स्पष्ट रूप से कहा गया है और वह भी कुमारिल द्वारा प्रयुक्त भाषा के समान शब्दों में।[८६]

यहाँ एक प्रश्न होता है वह यह कि रेन्डिल के अनुसार यह लक्षण उस हेतु का है "जो अनुमान का अंग है, पञ्चावयव वाक्य का एक अंश (member) नहीं"।[८७] धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्त्तिक के स्वार्थानुमान प्रकरण में इस प्रकार का हेतु-लक्षण प्रस्तुत किया है 'पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः'—प्र० वा०, ३.१। हेतुबिन्दु में भी इसी प्रकार का लक्षण दिखलाया है।[८८] किन्तु प्रकरण के अनुसार यह अनुमानवाक्य के हेतु का ही लक्षण होना चाहिए। साथ ही पुनरुक्ति भय से भी यही बात उचित प्रतीत होती है। इस के विषय में एकान्त निश्चय तो दिग्नाग के ग्रन्थों के प्रकाशित होने पर ही हो सकता है। जैसा कि अनेकशः कहा गया है, यह एक कठिनाई ही है।

(iii) **हेतु के अन्य लक्षण**—दिग्नाग के हेतु-लक्षण पर विचार करके वार्त्तिककार ने एक अन्य हेतु के लक्षण पर विचार किया। इसके विषय में वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—**अन्येषां हेतुलक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति** (न्या० वा० ता०, पृ० २६१)। **तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरित्यपरे**। न्या० वा०, पृ० १३१।—"उस प्रकार के अविनाभावी धर्म को दिखलाना हेतु है, यह दूसरे कहते हैं।" इस हेतु के लक्षण पर अनुमानलक्षण प्रकरण में विचार किया जा चुका है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लक्षण अनुमानवाक्य के अवयवरूप 'हेतु' का है। इसमें 'अविनाभाव' का समावेश होने से वार्त्तिककार ने 'नान्तरीयकार्थदर्शनम्' इत्यादि अनुमानलक्षण का खण्डन करके, 'नान्तरीयक' और 'अविनाभाव' की समानार्थता के कारण वहां भी अतिदेश द्वारा इसका खण्डन कर दिया है।

---

८५. FFD., p. 47.

८६. वही, पृ० ४८।

८७. Hetu (as a term in the inference; not as a member of the *Pañcāvayava Vākya*) वही, पृ० ४६, पं० ६।

८८. पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः। हेतुबिन्दु, पृ० ५२।

९. दृष्टान्त का स्वरूप

बौद्धों के दृष्टान्त या उदाहरण का स्वरूप बतलाते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—**तदेवमुदाहरणलक्षणमुपपाद्य परेषां लक्षणं दूषयितुमुपन्यस्य व्याचष्टे—तथासिद्ध इति।** न्या० वा० ता०, पृ० २९८। "तो इस प्रकार उदाहरण के लक्षण को युक्तियुक्त बतलाकर (उपपाद्य) दूसरों के लक्षण को खण्डित करने के लिए, उद्धृत करके व्याख्या करते हैं—तथा सिद्ध इत्यादि।"

यहाँ उद्योतकर ने दृष्टान्त के कतिपय लक्षणों को उद्धृत किया है और वाचस्पति मिश्र ने उनपर विचार किया है। उनमें से प्रथम लक्षण यह है—(i) **तथा सिद्धो दृष्टान्त इत्यन्ये।** न्या० वा०, पृ० १३६।

जो उस (साध्यविशिष्ट) रूप में सिद्ध है वह दृष्टान्त है" उपर्युक्त लक्षण का खण्डन करके उद्योतकर ने दृष्टान्त के दो लक्षण और प्रस्तुत किये हैं—(ii) **एतेन 'तयोः *सम्बन्धिनिदर्शनं दृष्टान्तः, इति प्रत्युक्तम्।** न्या० वा०, पृ० १३७।

एतेनेति—अव्यापकत्वेन। निदर्श्यतेऽस्मिन्ननेन वेति निदर्शनम्। न्या० वा० ता०, पृ० २९८। "इस (अव्यापकता) के द्वारा उन दोनों (हेतु और साध्य) के सम्बन्ध का उदाहरण दृष्टान्त है इसका निराकरण हो गया।" "एतेन का अर्थ है अव्यापकता से। जिसमें या जिसके द्वारा दिखलाया जाता है उसे निदर्शन कहते हैं (उदाहरण)।

(iii) **साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नस्तिता इति च। न्या० वा०, पृ० १३७। इति च प्रत्युक्तम्।** न्या० वा० ता०, पृ० २९८। "साध्य के द्वारा हेतु का अनुगमन (हेतु के होने पर वहाँ साध्य का होना) तथा साध्य के अभाव में हेतु का अभाव (दिखलाना दृष्टान्त है)।' इसका भी निराकरण हो गया।

दृष्टान्त के इन लक्षणों को उद्धृत करके न्यायवार्त्तिककार ने यह नहीं बतलाया कि किस दार्शनिक सम्प्रदाय के ये दृष्टान्त-लक्षण हैं। 'अन्ये' कहकर ही अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। वाचस्पति मिश्र ने भी इनके साथ सम्प्रदाय या आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया, जैसा कि वे प्रायः कर दिया करते हैं। ये बौद्ध के लक्षण हैं यह मानने का भी यही आधार है कि वाचस्पति मिश्र ने इनका खण्डन करते हुए कई बार बौद्ध या बौद्धराद्धान्त[८९] का उल्लेख किया है। किन्तु किस बौद्ध आचार्य या ग्रन्थ के ये लक्षण हैं, तात्पर्यटीका से इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

१०. हेतु तथा हेत्वाभास का अन्तर

हेतु का विवेचन करते हुए सभी तर्क-ग्रन्थों का हेतु की यथार्थता और अयथार्थता की ओर ध्यान गया है। सद्हेतु का लक्षण करके उसे असद्हेतु से पृथक् करने का सभी ने प्रयास किया है। इसीलिए तर्क शास्त्र में हेत्वाभासों का भी वर्णन किया गया है। दिग्नाग आदि बौद्ध आचार्यों ने हेतु और हेत्वाभास का सूक्ष्म विवेचन किया है। दिग्नाग ने किस प्रकार हेतु और हेत्वाभास का पृथक्-पृथक् स्वरूप बतलाया था इस पर वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में प्रकाश डाला है।

---

८९. तदेतत्साध्यसाधनवत्त्वं दृष्टान्तस्य बौद्धराद्धान्तेऽव्यापकम् इत्यादि। न्या० वा० ता०, पृ० २९८।
*सम्बन्धनिदर्शनं—यह पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

"यहाँ दिग्नाग[९०] ने—

पक्ष का धर्म (प्रथम) तीन प्रकार का है (१) सपक्ष में रहने वाला (२) सपक्ष मे न रहने वाला (३) सपक्ष में द्वेधा अर्थात् सत् और असत्—कहीं रहने वाला कहीं न रहने वाला।[९१] और फिर असपक्ष (विपक्ष) में होना, न होना तथा द्विविध भाव (अर्थात् होना भी नहीं भी) से इन तीनों भेदों में से प्रत्येक तीन प्रकार का होता है।

इस प्रकार नौ पक्ष[९२] के धर्म हेतु तथा हेत्वाभासों का निरूपण किया है। इनमें से जो सपक्ष में विद्यमान होता है अथवा कहीं विद्यमान होता है कहीं नहीं (द्वेधा), किन्तु विपक्ष में नहीं होता, वही (सद्) हेतु है, इससे विपरीत (अर्थात् १ जो विपक्ष में हो सपक्ष में नहीं, २. विपक्ष में द्वेधा हो तथा सपक्ष में नहीं); वह विरुद्ध (नाम का हेत्वाभास) है। इस (विरुद्ध) से अन्य (असद् हेतु) अनिश्चित (सन्दिग्ध) हैं।[९३]

इस प्रकार हेतु और हेत्वाभास का भेद दिखलाया है। उस (प्रथम कारिका) का अर्थ है—जो पक्ष का धर्म है वही १. सपक्ष में विद्यमान है, २. नहीं है और ३. कहीं है कहीं नहीं (द्वेधा)—इस रूप में तीन प्रकार का है। फिर वह (पक्ष धर्म) विपक्ष में (क) विद्यमानता, (ख) अविद्यमानता तथा (ग) द्विधाभाव (कहीं होना कहीं न होना) से प्रत्येक तीन प्रकार का हो जाता है। जैसे कि—१. सपक्ष में विद्यमान पक्षधर्म विपक्ष में (क) विद्यमानता, (ख) अविद्यमानता और (ग) द्विधाभाव से तीन प्रकार का है। (२) सपक्ष में अविद्यमान पक्षधर्म भी विपक्ष में (क) विद्यमानता (ख) अविद्यमानता और (ग) द्विविधाभाव से तीन प्रकार का है। (३) सपक्ष में कहीं होने वाला कहीं नहीं, ऐसा पक्षधर्म (विपक्ष में) (क) विद्यमानता (ख) अविद्यमानता और (ग) द्विधाभाव से तीन प्रकार का है। इनके उदाहरण—

नित्यत्व आदि को सिद्ध करने के लिए (१) प्रमेय (यथार्थ ज्ञान का विषय), (२) कृतक (कार्य), (३) अनित्य (४) कृत (कार्य), (५) श्रावण (श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होना), (६) यत्नज (प्रयत्न से उत्पन्न) (७) अनित्य (८) यत्नज और (९) अस्पर्श (स्पर्श के अयोग्य)—ये नौ हैं।

नित्यत्व आदि को सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व आदि नौ हेतु तथा हेत्वाभास हैं। उनके क्रम से नित्यत्व आदि साध्यों का उदाहरण देते हैं—

---

९०. सतीशचन्द्र विद्याभूषण (HIL., p. 282-283) का कथन है कि यह सन्दर्भ प्रमाणसमुच्चय के तृतीय परिच्छेद का है किन्तु H.R.R. Iyenger का कथन है कि इनमें से (नित्यानित्य-प्रयत्नोत्थ) कारिका केवल दिग्नाग के हेतुचक्र नामक लघु ग्रन्थ में ही उपलब्ध होती है, प्रमाण-समुच्चय में नहीं। —प्रमाण-समुच्चय Preface, P. XV.

९१. कारिका में 'द्वेधा' शब्द हेतु के तीसरे प्रकार को बतलाता है। 'पक्षे सन् असन् च द्वेधा' जो पक्ष में है भी नहीं भी—कहीं है कहीं नहीं (एकदेश में होना)। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में द्वेधा का यह अर्थ स्पष्ट है।

९२. कुछ पुस्तकों में 'नव' के स्थान पर 'न च' पाठ है जो शुद्ध नहीं।

९३. कलकत्ता संस्करण (पृ० ३००) के अनुसार 'अन्यस्त्वनिश्चितः' पाठ है वही शुद्ध प्रतीत होता है।

प्रमेयत्व आदि साधनों के साध्य हैं १. नित्य २. अनित्य, ३. प्रयत्नोत्थ (प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला), ४—६. मध्य के[९४] तीन में शाश्वत (सदा रहने वाला), और ७. अयत्न, ८. अनित्य, ९. नित्य "।[९५]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार दिग्नाग की कारिकाओं की उपर्युक्त व्याख्या है। इसमें नौ पक्ष स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं। नौ भेद करने का एक सीधा-सा ढंग है—प्रथम तीन प्रकार सरल ढंग से बतलाये गये हैं। उन तीनों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं। संक्षेप में प्रथम प्रकार है—जो पक्ष का धर्म है वह सपक्ष में रहता है। द्वितीय है—पक्ष-धर्म सपक्ष में नहीं रहता और तृतीय है वह रहता भी है नहीं भी (द्वेधा) अर्थात् कुछ सपक्षों में रहता है, कुछ में नहीं। इन तीनों प्रकारों के साथ जब पक्षधर्म के विपक्षविषयक तीनों प्रकारों को गुणित किया जाता है तो नौ भेद हो जाते हैं; जैसा कि प्रत्येक में क, ख, ग भाग करके अनुवाद में दिखलाया गया है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में ये नितान्त स्पष्ट हैं। अग्रिम कारिकाओं में हेतु और पक्ष के उदाहरण भी इसी क्रम से दिये गये हैं। इससे भी यही विदित होता है कि वाचस्पति मिश्र की व्याख्या स्पष्ट तथा ग्रन्थ के तात्पर्य को ग्रहण कराने वाली हैं। अग्रिम संकेत चित्र से यह बात और भी स्पष्ट हो रही है। इसलिए रेन्डिल का वाचस्पति मिश्र की व्याख्या को उलझाने वाली बतलाना संगत नहीं प्रतीत होता। एतदर्थ उनका स्वकल्पना से अपनाया हुआ विराम-प्रयोग भी उचित नहीं दिखलाई देता।[९५क]

संभवतः पाठान्तर रेन्डिल की उस प्रकार की कल्पना में कारण हुआ हो। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या की 'तस्यार्थः' से आगे की पंक्ति पाठान्तर में इस प्रकार है—'यः पक्षधर्मः

---

९४. दिग्नाग की कारिका में 'मध्यमत्रिकशाश्वताः' एक समस्त पद है जिसका यह अर्थ प्रतीत होता है—मध्य के त्रिक में 'शाश्वत' साध्य है।

९५. अत्र दिङ्नागेन—

'सपक्षे सन्नसन् द्वेधा पक्षधर्मः पुनस्त्रिधा।
प्रत्येकमसपक्षे च सदसद्द्विविधत्वतः' ॥

इति नवपक्षधर्मान् हेतुतदाभासान् दर्शयित्वा

'तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये।
स हेतुर्विपरीतोऽस्माद्विरुद्धोऽन्यत्वनिश्चितः'।

इति हेतुतदाभासविवेको दर्शितः। तस्यार्थः। यः पक्षधर्मः स सपक्षे सन्नसन् द्वेधा इति त्रिविधः, स पुनरसपक्षे सदसद्द्विविधत्वतः प्रत्येकं त्रिधा भवतीति, पक्षधर्मः सपक्षे सन् विपक्षे सदसद्द्वि-विधत्वतस्त्रिधा, पक्षधर्मः सपक्षेऽसन् विपक्षे सदसद्द्विविधत्वतस्त्रिधा, पक्षधर्मः सपक्षे द्वेधा विपक्षे सदसद्द्विविधत्वतस्त्रिधेति। अत्रोदाहरणं

'प्रमेयकृतकानित्यकृतश्रावणयत्नजाः।
अनित्ययत्नजास्पर्शा नित्यत्वादिषु ते नव'॥

नित्यत्वादिषु साध्येषु प्रमेयत्वादयो नवहेतुतदाभासाः। तेषां यथासंख्यं नित्यत्वादीनि साध्यान्यु-दाहरन्ति

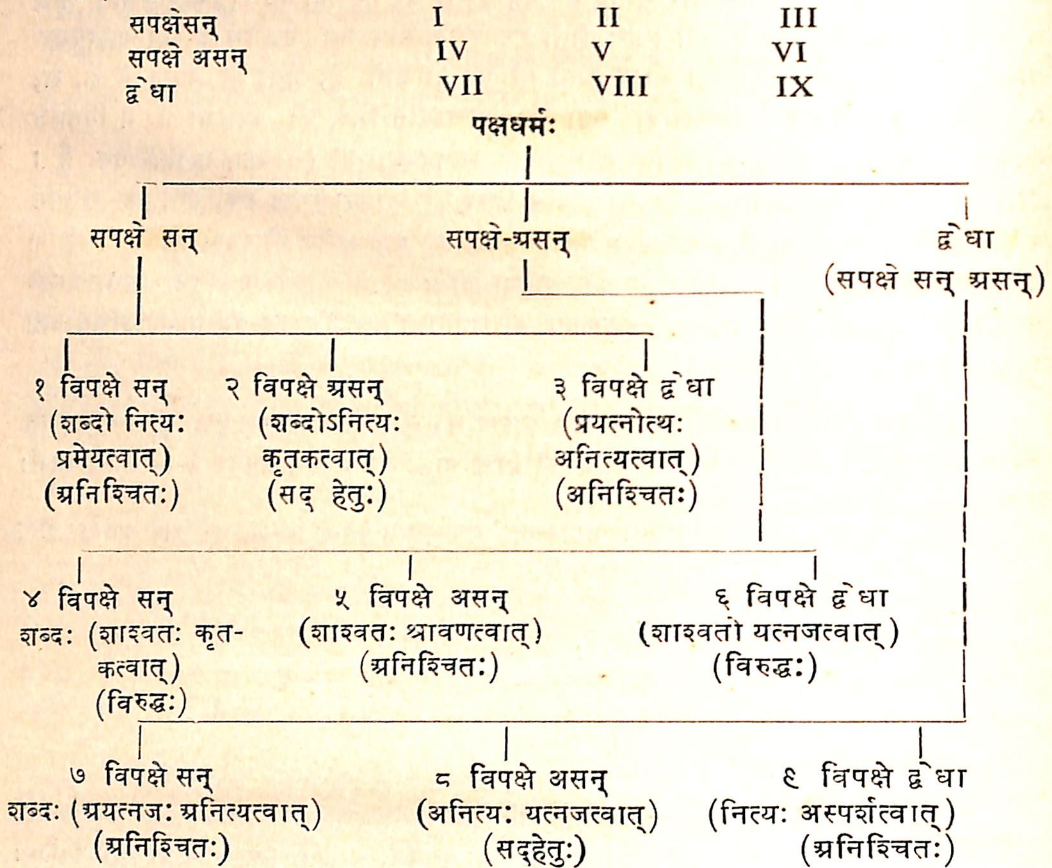
'नित्यानित्यप्रयत्नोत्थमध्यमत्रिकशाश्वताः।
अयत्नानित्यनित्याश्च प्रमेयत्वादिसाधनाः' ॥

न्या० वा० ता०, पृ० २८९-२९०।

९५क देखिये, Randle, H. N., FFD., p. 30-32 (Translation and foot note).

सपक्षे सन्नसन् द्वेधा इति[९६] इससे आगे 'त्रिविधः' पाठ नहीं। जो ('त्रिविधः') नितान्त संगत प्रतीत होता है। दिग्नाग की कारिका के 'पुनस्त्रिधा' (फिर से तीन प्रकार का) शब्द से यह प्रकट होता है कि इससे पूर्व तीन प्रकार कहे गये हैं।[९७]

इन नौ प्रकार के हेतु तथा हेत्वाभासों को 'हेतुचक्र' नाम से पुकारा जाता है। विद्याभूषण ने इसे वर्गाकार रूप में प्रस्तुत किया है[९८]। रेन्डिल का कथन है कि डा० एफ० ड्ब्ल्यू० थोमस ने उन्हे बतलाया है कि तिब्बती ग्रन्थ इस हेतुचक्र को वर्गाकार रूप में दिखाते हैं।[९९] इसकी वाचस्पति मिश्र की व्याख्या को झलकाने वाला स्वरूप (उदाहरण सहित) यह प्रतीत होता है, जो कि वर्गाकार में ही व्यवस्थित है।



ऊपर के इन हेतुओं में द्वितीय कारिका के अनुसार जो सपक्ष में हैं और विपक्ष में नहीं हैं अर्थात् क्रमसंख्या २ सद् हेतु है। इसी प्रकार जो सपक्ष में कहीं है कहीं नहीं, किन्तु विपक्ष में अविद्यमान है ऐसा क्रमसंख्या ८ का सद्हेतु है। इसके विपरीत सपक्ष में अविद्यमान तथा विपक्ष में विद्यमान होने वाला क्रम संख्या ४ का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है तथा सपक्ष में अविद्यमान और विपक्ष में (द्वेधा) कहीं होने वाला कहीं नहीं क्रम संख्या ६ का हेतु भी विरुद्ध है। शेष पांच 'अनिश्चित या सन्दिग्ध' नामक हेत्वाभास के अन्तर्गत आते हैं।

---

९६. कलकत्ता संस्करण (पृ० ३००) में यही पाठ है।

९७. इन कारिकाओं के आधार पर प्रमाणवार्त्तिक मनोरथनन्दिवृत्ति (४.१९४) में भी विवेचन किया गया है। जो बहुत स्पष्ट न होने के कारण प्रस्तुत नहीं किया गया।

९८. विद्याभूषण; HIL., p. 298.

९९. रेन्डिलः FFD., p. 31, fn. 1.

परिच्छेद ८

क्षणभङ्गवाद तथा प्रतीत्यसमुत्पाद

१. क्षणिकवाद का स्वरूप

"सर्वमनित्यम्" यह बौद्ध-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। वस्तुमात्र की अनित्यता पर बुद्ध भगवान् ने बल देते हुए कहा था—"यह अटल नियम है कि रूप (महाभूत) वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये सारे संस्कार (कृत वस्तुएँ) अनित्य हैं"।[१] इसी अनित्यवाद को बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद या क्षणभङ्गवाद का रूप दिया। बौद्ध-दर्शन के प्रायः[२] समस्त सम्प्रदायों ने, अन्य विषयों में मत-भेद होते हुए भी, क्षणिकता को एक मत से स्वीकार किया है। बाह्यार्थवादी ने बाह्यार्थ (भूत, भौतिक) और आभ्यन्तर (चित्त तथा चैत्त) दोनों को ही क्षणिक माना है एवं विज्ञानवादी ने विज्ञान को क्षणभङ्गुर बतलाया है। दिग्नाग सम्प्रदाय में भी क्षणिकवाद का बलपूर्वक समर्थन किया गया है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक[३] में इसका निरूपण किया है तथा ज्ञानश्री ने भी उसका समर्थन किया है। रत्नकीर्ति ने तो दो प्रकरण[४] ग्रन्थ ही इस विषय पर लिखे हैं।

दूसरी ओर वैदिक-दर्शन के व्याख्याकारों ने क्षणभङ्गवाद का जोरों से खण्डन किया है। न्याय-सम्प्रदाय में उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त और उदयन ने क्षणिकवाद का विशेषरूप से प्रतिवाद किया है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका में बौद्धों की क्षणभङ्गवाद सम्बन्धी युक्तियों का विशद विवेचन किया है तथा उनके खण्डन का प्रयास किया है।

क्षणिकता का क्या अभिप्राय है? इसका न्याय तथा बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। न्यायवार्तिक तथा तात्पर्यटीका में बौद्ध-दर्शन की दृष्टि से 'क्षणिक' शब्द की इस प्रकार समीक्षा की गई है—'क्षणिक' शब्द 'क्षण' से मतुबर्थीय इक (ठन्) प्रत्यय होकर बनता है।[५] वह बौद्ध के मत में कैसे बन सकता है? यदि बौद्ध कहे कि निर्वचन के अनुसार क्षण का अर्थ है—क्षय (विनाश) और जिसका विनाश होता है उसे क्षणिक कहते हैं, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दोनों (वस्तु तथा क्षय) का काल भिन्न-भिन्न है। जब विनाश होता है तब विनष्ट होने वाली वस्तु (क्षयी) नहीं होती। जब दोनों एक समय में नहीं रहते तो मत्वर्थीय प्रत्यय कैसे हो सकता है? भिन्न काल में रहने वाली वस्तुओं में तो मत्वर्थीय प्रत्यय देखा नहीं जाता। यदि बौद्ध कहे कि अनन्तर होने वाले विनाश से उपलक्षित वस्तु 'क्षणिक' कही जाती है (जैसे, देवदत्त यशस्वी मेधावी होवे, यहाँ भविष्य में होने वाले यश आदि से उपलक्षित अर्थ में भी मत्वर्थीय प्रत्यय होता है)

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, ३.१.३४। मि०, राहुलसांकृत्यायन, बौद्ध-दर्शन, पृ० ३२।

२. वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार आकाश, निरोध और निर्वाण असंस्कृत (नित्य) माने जाते हैं। मि०, CCB., p. 33.

३. प्रा० वा०, २.४२१।

४. क्षणभङ्गसिद्धि, १ तथा २।

५. क्षणमस्यास्ति इति क्षणिकः; क्षण+ठन्, अत इनिठनौ; पाणिनि, अष्टाध्यायी ५।२।११५।

तो भी ठीक नहीं; क्योंकि किसी वस्तु से वही युक्त नहीं होती; अर्थात् वस्तु से क्षण (=क्षय) भिन्न नहीं तो वस्तु क्षययुक्त है, विनाशयुक्त है, यह कैसे हो सकता है ?[६]

यदि बौद्ध कहे कि सर्वान्त्य काल को क्षरण कहते हैं; अर्थात् ज्योतिष शास्त्र के अनुसार काल की ऐसी कला (अंश), जिसमें पूर्व तथा अपर भाग नहीं होते, सर्वान्त्य काल है।[७] वही क्षण कहलाता है और उस क्षण में जो रहते हैं वह क्षणिक कहलाते हैं। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यह सर्वान्त्यकाल या क्षरण संज्ञामात्र है, नाम मात्र है। बौद्धों के अनुसार यह वास्तविक नहीं; जैसा कि उनका शास्त्रीय वचन है।[८] जो 'क्षरण' काल्पनिक है वह वस्तु का विशेषण नहीं हो सकता। किन्तु बौद्ध मत में क्षणिकता वास्तविकी मानी जाती है। इस प्रकार उद्योतकर ने दिखलाया है कि क्षणिकता का स्वरूप निर्धारित करना कठिन है।

वास्तव में 'क्षणिक' शब्द का अर्थ है एक क्षरण रहने वाला अर्थात् जो वस्तु केवल क्षण भर रहती है वह क्षणिक कहलाती है। वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध के इस मन्तव्य का इस प्रकार उल्लेख किया है—**क्षणिकत्वं पूर्वापरभागविकलकालक.ामात्रावस्थायित्वम्। न्या० वा० ता०, पृ० ५४२।** "अर्थात् पूर्व और अपर भाग रहित काल की कला (अंश) अर्थात् क्षणमात्र में रहना ही क्षणिकता है।" भाव क्षणिक हैं अतः एक काल (क्षण) में ही कारण का नाश हो जाता है और कार्य की उत्पत्ति हो जाती है।[९]

यहाँ विचारणीय यह है कि बौद्धमतानुसार क्षण क्या है ? नैयायिक काल को एक नित्य विभु द्रव्य मान लेता है और क्षण, दिन इत्यादि उसके औपाधिक भेद स्वीकार करता है।[१०] किन्तु बौद्ध-दर्शन के अनुसार तो "काल" कोई परमार्थसत् वस्तु नहीं। वह विकल्पजन्य है, कल्पित है और काल की ऐसी कला, जिसमें पूर्व तथा अपर भाग नहीं है, क्षरण कहलाती है। वह संज्ञा मात्र है जैसा कि अभी विवेचन किया गया है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार क्षण की पारमार्थिक सत्ता नहीं हो सकती; क्योंकि अर्थक्रियाक्षमता ही सत्ता है और अर्थक्रियाक्षम केवल स्वलक्षण है जिसका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है। कल्पित काल की कलारूप क्षण में यह सम्भव नहीं है अतः क्षण की पारमार्थिक सत्ता कैसे हो सकती है ? इस प्रकार काल का सर्वान्त्य अंश जिसे क्षण कहते हैं वास्तविक नहीं, काल्पनिक है, केवल संज्ञामात्र है। हाँ, क्षरणमात्र रहने के कारण स्वलक्षण भी 'क्षरण' कहलाते हैं। क्योंकि काल के पूर्व तथा अपर भाग में वे नहीं रहते (कालेनाननुगत) अतएव वे क्षरण रूप हैं। स्वलक्षण परमार्थसत् हैं, यह ऊपर विवेचन किया गया है, इसीलिये स्वलक्षण रूप 'क्षरण' परमार्थसत् ही हैं और इसकी वास्तविकता पर बौद्ध-दर्शन ने बल दिया है।

स्वलक्षरण रूप क्षरण का कालकलारूप क्षण से भेद नहीं किया जा सकता, सम्भवतः इसी हेतु यह धारणा है कि बौद्ध-दर्शन के अनुसार सूक्ष्म काल (क्षरण moment) परमार्थसत्

---

६. न्या० वा०, पृ० ४१६।

७. पूर्वापरभागविकलकालकलैका ज्योतिर्विद्यासिद्धा सर्वान्त्यकालमिति। संज्ञामात्रं न तु वास्तवं वास्तवी च क्षणिकताऽभिमतेति। न्या० वा० ता०, पृ० ५५०-५५१।

८. मि०, एतदपि न युक्तं, संज्ञामात्रत्वेन कालस्याभ्युपगमात्। पञ्च भिक्षवः संज्ञाभेदमात्रमिति शास्त्रम्। न्या० वा०, पृ० ४१६।

९. क्षणिकत्वाद् भावानां कारणस्य नाशः कार्यस्योत्पाद इत्येकः कालः। न्या०वा० ता०, पृ० १५२।

१०. क्षणादिः स्यादुपाधितः। न्यायकारिकावली, ४६।

है; जैसा कि श्चेरबात्स्की का कथन है ।[११] श्चेरबात्स्की ने अन्यत्र (BL. Vol. I, pp. 106-108) भी यह विस्तार से निरूपित किया है कि बौद्ध-दर्शन के मतानुसार सूक्ष्मकाल 'क्षण' वस्तुसत् है । उनका कथन है कि सांख्य-योग भी इस विषय में बौद्ध-दर्शन से सहमत हैं ।[१२] ठीक है कि व्यास-भाष्य (३.५२) से यह स्पष्ट है कि योग के मत में क्षण वस्तुसत् है किन्तु बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी सूक्ष्मकाल रूप क्षण वस्तुसत् है ; यह बात युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती ।

बौद्ध-दर्शन के सिद्धान्तानुसार तो यही प्रतीत होता है कि जो वस्तु का स्वभाव है कि वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है यही 'क्षण' कहलाता है । जिस वस्तु (स्वलक्षण) का यह स्वभाव है वह क्षणिक कहलाती है । शान्तरक्षित तथा कमलशील ने न्यायवार्तिककार उद्योतकर के आक्षेपों का उत्तर देते हुए 'क्षणिक' शब्द की यही व्याख्या की है ।[१३]

बौद्ध-दर्शन के अनुसार वस्तुमात्र क्षणिक या क्षणभंगी है, अग्रिम अनुच्छेदों में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर इसका विवेचन किया जा रहा है ।

२. प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिकता की सिद्धि

यद्यपि अधिकांश बौद्ध आचार्यों ने अनुमान द्वारा ही क्षणिकता की सिद्धि की है तथापि कुछ आचार्यों ने प्रत्यक्ष द्वारा भी क्षणिकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में यह दिखलाया है कि प्रत्यक्ष से क्षणिकता की सिद्धि कैसे हो सकती है। न्यायकणिका का यह विवेचन जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी[१४] के एतद्विषयक विवेचन के समान स्पष्ट एवं सुबोध नहीं है, यद्यपि दोनों आचार्यों की युक्तियों में बहुत कुछ समानता है ।

प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिकता की सिद्धि करते हुए बौद्ध-दर्शन की ओर से कहा गया है—"नील से भिन्न क्षणिकता कोई परमार्थसत् वस्तु नहीं । अर्थक्रिया का भेद होने पर ही दोनों में भेद हो सकता है जैसे कि नील और श्वेत में भेद होता है । किन्तु नील द्वारा होने वाली अर्थक्रिया से भिन्न क्षणिकता की कोई अर्थक्रिया नहीं है, जिससे कि क्षणिकता को नील से भिन्न किया जा सके । जब दोनों में भेद नहीं है तो जो प्रत्यक्ष नील का ग्रहण करता है वही क्षणिकता का ग्रहण कर लेता है; क्योंकि क्षणिकता नील से पृथक् नहीं है"।[१५]

---

११. Substantial time was likewise denied, but subtle time i.e., the moment, the point-instant of efficiency, was not only esserted, it was made, as we shall presently see, the fulcrum of which the whole edifice of reality was made to rest. BL. Vol. I, p. 85.

१२. BL. Vol. I, p. 108 fn. 1.

१३. उत्पादनान्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः ।
तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत्क्षणिकं मतम् ॥ तत्त्वसंग्रह, का० ३८८।
उत्पादान्तरविनाशिस्वभावो वस्तुनः क्षण उच्यते, स यस्यास्ति स क्षणिक इति । तथा चोक्तम् आत्मलाभानन्तरविनाशी क्षणः स यस्यास्ति स क्षणिक इति ।

१४. न्यायमञ्जरी, भाग २, पृष्ठ २२-२३ ।

१५. ननु न नीलादन्यत् क्षणिकत्वं नाम वस्तुसत् । अर्थक्रियाभेदे हि तथा स्यात् सितादिवत् । न च क्षणिकत्वस्य नीलसाध्याया अर्थक्रियाया भिन्ना समस्ति अर्थक्रिया या स्वलक्षणभेदेनावतिष्ठेत ।......न भिद्यते चेन्नूनं नील-ग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव क्षणिकत्वं गृहीतं तदव्यतिरेकात् । न्यायकणिका, पृ० १२३ ।

इस पर विरोधी कहता है—यह युक्ति ठीक नहीं; क्योंकि जब नील का अनुभव होता है उसके साथ ही उसकी क्षणिकता का तो अनुभव होता नहीं और अनुभव की व्याख्या नहीं की जा सकती; अर्थात् वह तो स्वयं जाना जाता है। वह 'यह नील है' इस प्रकार का ही होता है, "यह क्षणिक या क्षण है" इस प्रकार का नहीं। यदि बौद्ध कहता है कि नील से व्यतिरिक्त क्षणिकता नहीं, अतः वह भी प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत हो जाती है तब तो यह भी कहा जा सकता है कि नील से भिन्न स्थिरता नहीं है अतः नील के ग्रहण से स्थिरता का भी ग्रहण होने लगेगा। यथार्थ तो यह है कि अन्य प्रमाण (अनुमान) से क्षणिकता और नील का भेद सिद्ध होता है इसलिये क्षणिकता को प्रत्यक्षग्राह्य बतलाना प्रलापमात्र है।[१६]

इसका उत्तर देते हुए बौद्ध-दर्शन कहता है—"नील आदि क्षण मात्र रहने वाले हैं ये क्षणभङ्गुर (क्षणिक) हैं, यह बात अनुभव से ही ग्राह्य है (अनुभवारूढा); क्योंकि प्रत्यक्ष विज्ञान क्षणिक है और इसीलिये वह उस वस्तु का ही ग्रहण करता है जो उसके समय अर्थात् एक क्षण ही रहती है (स्वसमयेनैवावच्छिन्नं परिच्छिनत्ति=स्व समयविशिष्ट का ही ग्रहण करता है)। यह कहा जा सकता है कि जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नीलाकार है, नील का ग्रहण करता है; वह नील का ग्रहण करने के साथ-साथ उसके अभाव को व्यावृत्त कर देता है (क्योंकि बौद्ध के मत में अन्यव्यावृत्त वस्तु का ही ग्रहण होता है)। इस प्रकार नील के अभाव को पृथक् करने वाला प्रत्यक्ष उस अभाव के साथ नियम से रहने वाले पीत आदि को भी पृथक् कर देता है; अर्थात् 'नील' (स्वलक्षण) पीत आदि से भिन्न वस्तु है, इस प्रकार का ग्रहण करता है।[१७]

इसी प्रकार प्रत्यक्ष जब विनाश को प्राप्त होते हुए नीलक्षण का ग्रहण करता है तो वह उसके उस (वर्तमान) समय में होने वाले अभाव को व्यावृत्त कर देता है और उस वर्तमानकालीन अभाव के साथ नियम से रहने वाली (अविनाभाविनी)[१८] पूर्व (अतीत) तथा अपर (भविष्य) काल में स्थिति को भी व्यावृत्त कर देता है (?) यदि इसकी व्यावृत्ति प्रत्यक्ष द्वारा न होगी तो पीत आदि की व्यावृत्ति भी न हुआ करेगी (अर्थात् 'इदं नीलम्' यह प्रत्यक्ष समान रूप से ही पीत आदि तथा पूर्वापरकालीन नील की व्यावृत्ति करता है यदि पूर्वापरकालीन नील की व्यावृत्ति नहीं करेगा तो पीतादि की व्यावृत्ति कैसे कर सकेगा) इस प्रकार नील आदि से कार्य करने के अभिलाषी कहीं भी, नियम से प्रवृत्त न हो सकेंगे। (पीत आदि से भिन्न नील का निश्चय न होने के कारण नीलार्थी नील को ग्रहण करने के लिये नियमपूर्वक प्रवृत्त न होगा) इसलिये भावों की क्षणिकता अनुभव सिद्ध है।[१९]

---

१६. न्यायकणिका, पृ० १२३।

१७. अनुभवारूढैव क्षणमात्रवर्तिता नीलादीनाम्। तथा हि प्रत्यक्षविज्ञानं क्षणिकं स्वसमयेनैवावच्छिन्नं परिच्छिनत्ति। तद्यथा—नीलाकारमालोचनं नीलं परिच्छिन्दत् तदभावं व्यवछिन्दत् तदभावाव्यभिचारिणः पीतादीन् अपि व्यवच्छिनत्ति। न्यायकणिका, पृ० १२३।

१८. न्यायकणिका का यह स्थल विचारणीय है।

१९. तथा अस्तसमयाऽवच्छिन्नं नीलं परिच्छिन्दत् समयवर्तिताऽभावमप्यस्य व्यवच्छिन्दत् तदभावाऽविनाभविनीं तत्पूर्वाऽपरसमयवर्तितामस्य व्यवच्छिनत्ति। तदव्यच्छेदे पीतादीनामप्यव्यवच्छेदः। तथा च नीलसाध्यार्थक्रियाऽर्थिनो न क्वचिदेव नियमेन प्रवर्त्तेरन्। तदनुभवसिद्धैव क्षणिकता भावानामिति। न्यायकणिका, पृ० १२३।

संक्षेप में बौद्ध का अभिप्राय यह है कि क्षणिकत्व' नाम का कोई अलग परमार्थसत् तत्त्व नहीं; वह नील आदि के स्वलक्षण से भिन्न नहीं। जब प्रत्यक्ष के द्वारा नील आदि क्षणिक वस्तु का ग्रहण होता है तो उसकी क्षणिकता का भी ग्रहण हो जाता है और प्रत्यक्ष केवल क्षण भर रहता है अतः वह क्षणिक वस्तु का ही ग्रहण कर सकता है तथा क्षणिकता का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है।

प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिकता का बोध होता है, इस बात को नैयायिक आदि सहन नहीं करते। उनका कहना है कि कोई वस्तु पहले से ही है। नेत्र आदि के सान्निकर्ष से उसका ग्रहण होता है। प्रथम क्षण में द्वितीय क्षण में तथा तृतीय क्षण में ही ग्रहण नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न कालों भूत, वर्तमान तथा भविष्य में भी उसी वस्तु का ग्रहण होता है। साथ ही एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भी ग्रहण होता है अतः प्रत्यक्ष से तो 'वस्तु स्थिर है, क्षणिक नहीं' यही प्रतीत होता है। इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन कहता है - एक ही वस्तु का अनेक बार अनेक विज्ञानों से ग्रहण नहीं होता। यदि आप कहें कि 'यह वही वृक्ष है' यह ज्ञान कैसे हो जाता है तो यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार का ज्ञान तो भिन्न वस्तुओं में भी हो जाता है; जैसे—जो अस्थिर चक्र तथा दीपक आदि भिन्न-भिन्न हैं उनमें भी यह स्थिरता का ज्ञान होता है। यहाँ जो वस्तु वैसी नहीं है, उसमें उस प्रकार का ज्ञान किया गया है अतः मिथ्या ज्ञान है, भ्रान्ति है।[२०] इसी प्रकार 'वृक्ष स्थित है' इत्यादि में भी मिथ्या ज्ञान ही है।[२१]

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के मत में स्थिरता का ज्ञान भ्रान्ति है। स्थिरतावादियों ने वस्तु की स्थिरता के ज्ञान के लिए प्रत्यभिज्ञान को मुख्य साधन माना है। इस प्रत्यभिज्ञान को वे क्षणिकता में बाधक मानते हैं। देखना यह है कि क्षणिकवाद के साथ प्रत्यभिज्ञान का कैसे सामञ्जस्य हो सकता है।

३. प्रत्यभिज्ञा और क्षणिकवाद

(क) **प्रत्यभिज्ञा क्षणिकता में बाधक नहीं**—नैयायिक आदि का कथन है कि "यह वही स्फटिक है' (सोयं स्फटिकः) इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है और यह प्रत्यभिज्ञा देवी स्फटिक आदि पदार्थों की स्थिरता को सिद्ध करती है।[२२] यह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का ही विशेषरूप है जो वर्तमान काल से सम्बद्ध वस्तु का ग्रहण करती है तथा भूत काल से भी उसका सम्बन्ध जोड़ती है। 'यह वही युवक देवदत्त है जिसे बाल्यकाल में मैंने देहली में देखा था।' यहाँ 'यह देवदत्त है' प्रत्यक्ष का यह अंश 'देवदत्त' का वर्तमान से सम्बन्ध दिखलाता है और 'जिसे मैंने देहली में देखा था' 'यह ज्ञान का अंश देवदत्त' नामक व्यक्ति का अतीत काल से सम्बन्ध प्रकट करता है। एक ही देवदत्त नामक व्यक्ति को पहले देहली (स्थान) में देखा गया, फिर अब उसे मेरठ में देखा जा रहा है। जिस समय वह देहली में देखा गया था उसकी बाल्यावस्था थी, अब वह युवक है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति का अनेक देश (स्थान), काल (भूत, वर्तमान आदि) तथा अवस्था (बाल्य, यौवन आदि) से सम्बन्ध प्रकट होता है। इससे ज्ञात होता है कि वह वस्तु स्थिर है यदि वह एक क्षण में ही नष्ट हो जाती तो विभिन्न देश, काल तथा अवस्थाओं में उस एक का ही ग्रहण कैसे होता? यद्यपि अकेली इन्द्रिय इस प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष को ग्रहण करने में समर्थ नहीं तथापि (पहले

२०. चक्रभ्रान्तिप्रदीपप्रत्ययवन्मिथ्याप्रत्ययः सः। न्या० वा०, पृ० १६४।
२१. वही, पृ० १६४।
२२. मि०, सोयं स्फटिक इति प्रत्यभिज्ञैव भगवती स्थापयिष्यति स्फटिकम्। न्यायकणिका, पृ० १२४।

अनुभव के) संस्कारसहित (स्मृति सहित भी कहा जा सकता है) इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञा करने में समर्थ है। इन्द्रिय के होने पर ही प्रत्यभिज्ञा होती है (अन्वय), इन्द्रिय के न होने पर नहीं होती (व्यतिरेक) इस अन्वयव्यतिरेक से प्रत्यभिज्ञा का कारण इन्द्रिय प्रतीत होता है। यह कहना तो उचित नहीं कि जो इन्द्रिय स्मृति के बिना प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न नहीं करती वह स्मृति के सहयोग से भी कैसे उत्पन्न कर सकती है? क्योंकि यदि कोठार में रखे हुए गेहूँ आदि से अंकुर उत्पन्न नहीं होता तो क्या मिट्टी पानी आदि से युक्त भी वह अंकुर को उत्पन्न न करेगा?[२३] अतः इन्द्रियों में संस्कार के सहकार से प्रत्यभिज्ञा के उत्पादन का सामर्थ्य है और इस प्रत्यभिज्ञा से अनेक देश, काल तथा अवस्था से सम्बद्ध वस्तु में 'यह वही है' इस प्रकार का अभेद ज्ञान होता है।[२४] इससे वस्तु की स्थिरता सिद्ध होती है। इसलिए वस्तु को क्षणिक कहना उचित नहीं।

बौद्ध-दर्शन अनेक युक्तियों से इसका प्रतिवाद करते हुए कहता है कि एक ही वस्तु का पूर्व तथा अपर क्षण में विद्यमान रहना ही स्थिरता है, प्रत्यभिज्ञा इस स्थिरता का बोध नहीं करा सकती; क्योंकि (i) स्वभाव-विरोध होने से (ii) विषय-भेद से तथा (iii) कारण-भेद से प्रत्यभिज्ञा एक ज्ञान ही नहीं।[२५] (अपितु अनेक ज्ञानों के समुदाय को ही प्रत्यभिज्ञा नाम दे दिया गया है)। इन तीनों हेतुओं की व्याख्या करते हुए बौद्ध की ओर से कहा गया है :—

(i) **स्वभाव-विरोध**—"यह वही स्फटिक है" (सोयं स्फटिकः) इस ज्ञान में "वह" (सः) परोक्ष ज्ञान का अंश है तथा "यह" (अयम्) साक्षात्कार या प्रत्यक्ष का अंश है। परोक्ष और प्रत्यक्ष एक दूसरे के प्रति स्वभाव से उसी प्रकार विरुद्ध हैं जैसे अग्नि और तुषार (एक दूसरे के विरुद्ध हैं)। स्वभाव से ही विरुद्ध इन परोक्ष और प्रत्यक्ष को तो इन्द्र भी एक नहीं कर सकता; क्योंकि यदि विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तुओं में भी एकता हो सके तो तीनों लोक ही एक हो जायेंगे फिर तो कहीं भी भेद नाम की कोई चीज़ न रहेगी।[२६]

(ii) **विषय-भेद**—यहाँ विरुद्ध स्वभाव वाले दो ज्ञान हैं एक स्मृति और दूसरा प्रत्यक्ष। इनके विषय भी भिन्न-भिन्न हैं—"यद्यपि अतीत और वर्तमान दोनों कालों में स्थित वस्तु के लिये "स्फटिक" नाम का व्यवहार होता है तथापि देश, काल का भेद होने से तथा विरुद्ध धर्मों का संसर्ग होने से स्मृति तथा प्रत्यक्ष का विषय भिन्न-भिन्न ही है"[२७] अर्थात्; स्मृति का विषय अतीत स्फटिक है तथा प्रत्यक्ष का विषय विद्यमान स्फटिक। बौद्धों के मत में **विरुद्ध धर्मों का संसर्ग** वस्तु भेद में मुख्य कारण है।

---

२३. तदिह यद्यपीन्द्रियं केवलमसमर्थं......संस्कारसध्रीचीनं तु इन्द्रियं भावयिष्यति प्रत्यभिज्ञां तद्भावाऽभावाऽनुविधानात् प्रत्यभिज्ञाभावाऽभावयोः। न हि नाऽजीजनद् बीजमङ्कुरमिति मृदादिसहितमपि न जनयति। वही, पृ० १२६।

२४. मि०, तत्सिद्धमभेददर्शनं प्रत्यभिज्ञानात्मकमेकम् अनेकदेशकालावस्थासम्बन्धं पद्मरागादि गोचरयतीति, वही, पृ० १२६।

२५. नन्वियं न स्फटिकस्य पूर्वाऽपरक्षणावस्थानलक्षणं स्थिरत्वं गोचरयितुमर्हति। न खल्वेतद्विज्ञानमेकं, कारणभेदाद्, विषयभेदात्, स्वभावविरोधाच्च। वही, पृ० १२४।

२६. स इति पारोक्ष्यमयमिति च साक्षात्कारः न त्वनयोः स्वभावविरुद्धयोर्दहन-तुहिनयोरिव शक्या शक्रेणाप्येकताऽऽपादयितुम्। त्रैलोक्यस्यैक्यप्रसङ्गात्। वही, पृ० १२४।

२७. सत्यपि च स्फटिक इति व्यपदेशाभेदे देशकालभेदात् विरुद्धधर्मसंसर्गाद् अनयोः गोचरो भिद्यते। वही, पृ० १२४।

(iii) कारण-भेद—कारणों का भेद दिखलाते हुए बौद्धों की ओर से युक्ति दी जाती है—"संस्कार (स्मृति) अनुभव से उत्पन्न होता है। इसी हेतु वह पूर्व अनुभव के विषय में नियत है; अर्थात् जिस वस्तु का पहले जिस रूप में अनुभव किया गया है, मन में वैसा ही संस्कार या स्मृति होती है। यह संस्कार वर्तमान काल में विद्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं करा सकता; क्योंकि उसका पहले अनुभव नहीं किया गया। दूसरी ओर इन्द्रियाँ, जो केवल वर्तमान वस्तु का ग्रहण करने वाली है, इस वस्तु की उस पहिली सत्ता का अनुभव नहीं करा सकतीं, जिसे 'वह' (तत्ता) के द्वारा प्रकट किया जाता है; क्योंकि वह तो विद्यमान नहीं है। इस प्रकार स्मृति (अंश) का कारण संस्कार है और प्रत्यक्ष (अंश) का कारण इन्द्रियाँ हैं तथा कारण का भेद होने पर भी कार्य का अभेद हो नहीं सकता। यह कहा जा सकता है कि जब कारण भिन्न २ हैं तो कार्य अवश्य भिन्न होना चाहिये; क्योंकि कारण के भेद होने से ही कार्य का भेद होता है तथा कारण की समानता से ही कार्य की समानता होती है। यदि ऐसा न हुआ करे तो कार्य कारण के अधीन न रहेगा तथा अकस्मात् ही होने लगेगा।"[२८]

अभिप्राय यह है कि 'यह वही स्फटिक है' इस ज्ञान में—'वह' (तत्ता) के द्वारा स्मरण का निर्देश किया जा रहा है और 'यह' (इदन्ता) के द्वारा ग्रहण का निर्देश किया जा रहा है अत: स्मरण और ग्रहण क्रम से 'तत्ता' (तदो भाव: तत्ता) और 'इदन्ता' (इदमो भाव: इदन्ता) के ग्राहक हैं। वे केवल अपने २ विषय को ही प्रकट कर सकते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्मरण अनुभूतपूर्व वस्तु को प्रकट करता है और 'ग्रहण' वर्तमान वस्तु को, एक दूसरे के क्षेत्र में वे नहीं जा सकते। और, इन दोनों से भिन्न कोई अन्य विज्ञान ऐसा (प्रत्याभिज्ञा के स्थल में) है नहीं, जो दोनों के विषय का संमिश्रण न होने देने में समर्थ हो। इस प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष भी नही माना जा सकता; क्योंकि विकल्प-जन्य ज्ञान होने के कारण इसमें परमार्थसत् वस्तु का भास नहीं होता। सविकल्पक ज्ञान ही बौद्ध के मत में प्रत्यक्ष नहीं है तथा यथार्थ नहीं है, फिर यह प्रत्यभिज्ञा जिसमें अत्यधिक विकल्पों का मिश्रण है, कैसे प्रत्यक्ष हो सकती है? यह प्रत्यभिज्ञा स्मृति द्वारा उत्पन्न (स्मार्त्त) ज्ञान से भिन्न नहीं है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा वस्तुओं की स्थिरता को सिद्ध करती है, यह मनोरथमात्र है।[२९] जब प्रत्यभिज्ञा की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती तो प्रत्यभिज्ञा बेचारी वस्तुओं की स्थिरता को कैसे सिद्ध कर सकेगी?

(ख) क्षणिक वस्तुओं में प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है?—अब प्रश्न यह है कि प्रत्यभिज्ञा तो लोक-प्रसिद्ध है। सभी इस प्रत्यभिज्ञा का अनुभव करते हैं। समस्त लोकव्यवहार इसी प्रत्यभिज्ञा के आधार पर चलता है। संसार के माता-पिता, पुत्र आदि

२८. न च संस्कारः पूर्वानुभवयोनितया तद्गोचरनियतः संप्रतितनीम् अननुभूतचरीम् अस्य सत्ताम् अवगमयितुम् अर्हति। न चेन्द्रियाणि सन्निहितविषयाणि प्राक्तनीं गोचरयन्ति तत्तास्पदम् अस्य सत्ताम् असन्निहिताम। न च कारणभेदेऽपि कार्याभेदसम्भवः। कारणभेदाभेदाऽधीनत्वात् तद्भेदाभेदयोः, अन्यथाऽऽकस्मिकत्वाऽऽपत्तेः,। वही, पृ० १२४।

२९. तत्तेदन्तास्पदे च स्वगोचरमात्रचारिणी स्मरणग्रहणे न परस्परस्य गोचरं सम्भिन्तः। न चाऽऽभ्यामन्यदेकं विज्ञानमुभयविषयाऽसंभेदसमर्थं सम्भवत्युक्तादेव क्रमात्। न चास्य प्रामाण्यं, विकल्पत्वेनावस्तुनिर्भासत्वात् स्मार्त्तादविशेषाच्च। तस्मात् प्रत्यभिज्ञां* स्थापयति भावानिति मनोरथमात्रम्। वही, पृ० १२४।

*'प्रत्यभिज्ञा'—पाठ शुद्ध है।

सम्बन्ध इसी पर निर्भर है। यदि सब कुछ क्षणिक है तो यह प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? यदि 'वह देवदत्त' जो देहली में देखा गया था भिन्न है और 'यह देवदत्त' जिसे मेरठ में देखा जा रहा है और ही कोई है तो 'यह वही देवदत्त है' 'ऐसी प्रतीति कैसे होती है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है, जैसा पहले कहा चुका है, कि बौद्ध दर्शन के अनुसार केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है। वह नाम आदि की कल्पना से भी रहित होता है अत: अनेक विकल्पों का समुदाय रूप प्रत्यभिज्ञान बौद्ध मत के अनुसार एक ज्ञान नहीं तथा प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आ सकता। इसमें ग्रहण तथा स्मरण दो ज्ञानों का सम्बन्ध ही नहीं है, आपि तु नाम, देश, काल आदि विकल्पों का भी योग है, फिर यह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?[३०] हाँ, प्रत्यभिज्ञान होता है और यह लोकयात्रा का निर्वाहक भी है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु प्रत्यभिज्ञान विकल्प प्रत्यय है।[३१] और, अन्य समस्त विकल्प प्रत्ययों के समान यह भी कल्पनाजन्य (अलीक) है। अलीक ज्ञान भी लोक यात्रा में सहायक होता है, यह कहा जा चुका है।[३२] यद्यपि वस्तुमात्र क्षणिक है तथापि सादृश्य के कारण 'यह वही है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है।[३३] बौद्ध दर्शन का मत है कि एक के पश्चात् दूसरा सदृश क्षण उत्पन्न होता रहता है इससे द्रष्टा की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है और वह भिन्न २ क्षणों का पारस्परिक भेद नहीं देख पाता तथा अज्ञानियों के समान 'यह वही है' ऐसा अनुभव करने लगता है। अतः प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिमात्र है जैसा कि बौद्ध पक्ष का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—
सदृशपराऽपरोत्पत्तिवि (प्र) लब्धबुद्धयस्तु क्षणानामन्योन्यस्य भेदमपश्यन्तोऽज्ञादिवदर्वाक्-दृशस्तदेवेदं स्तम्भादीत्यध्यवस्यन्ति। न्यायकणिका, पृ० १३३।

४—सत्ता ही क्षणिकता को सिद्ध करती है

बौद्ध दर्शन में क्षणिकता की सिद्धि के लिये जो अनेक युक्तियाँ दी गई हैं उनमें मुख्य युक्ति यह कही जा सकती है कि सत्ता ही स्वयं क्षणिकता को सिद्ध करती है। जो भी सत् वस्तु है, वह क्षणिक है। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में बौद्धों की यह युक्ति इस प्रकार प्रदर्शित की गई है :—"जो सत् है, विद्यमान है, वह सब क्षणिक है, जैसे शरीर, इसी प्रकार स्फटिक आदि भी हैं—ऐसा वृद्ध बौद्ध कहते हैं। काल के परिपाक से शरीर में स्थूलता तथा क्षीणता देखी जाती है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि इसमें प्रतिक्षण सूक्ष्म परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन आन्तरिक विनाश ही है (क्योंकि पहला रूप क्षण २ में नष्ट होता जाता है और दूसरा रूप उत्पन्न होता जाता है, इसी से कालान्तर में स्थूलता अथवा ह्रास दृष्टिगोचर होने लगता है)। जिस स्फटिक आदि में वैसी स्थूलता और क्षीणता नहीं देखी जाती उसमें भी सत्ता रूप हेतु होने के कारण शरीर के समान ही प्रतिक्षण विनाश और उत्पत्ति का अनुमान किया जाता है।"[३४]

इस प्रकार बौद्धों के मत में क्षणिकता साधक अनुमान का यह स्वरूप होता है—"जो सत् है वह सब क्षणिक है, जैसे घट। विवाद का विषय शब्द आदि सत् है अतः वह

---

३०. भि०, ननु ग्रहणस्मरणरूपकारणभेदात् पारोक्ष्यापारोक्ष्यरूपविरुद्धधर्मसंसर्गाद्वा न प्रत्यभिज्ञानं नामैकः प्रत्यय;। तत्त्ववैशारदी, १.३२ (पृ० ४० पं० ११)।

३१. विकल्पप्रत्ययोऽयम्। भामती, पृ० ५३६।

३२. ऊपर, परि० ४ अनु० १० (घ)।

३३. सादृश्यनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानम्। भामती, पृ० ५३६।

३४. न्या० वा० ता०, पृ० ५४१ पं० १५-२१

भी क्षणिक है। बौद्ध-न्याय के तीन प्रकार के पूर्वोक्त हेतुओं (स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि) में से यह स्वभावहेतु है; क्योंकि क्षणिकता सत्तामात्र में व्यापक है।"[३५] क्षणिकता की सत्ता के साथ व्याप्ति कैसे है? इसका उत्तर वाचस्पति मिश्र के शब्दों में इस प्रकार है :—"बौद्ध सिद्धान्त में सत्ता का अभिप्राय है—सार्थक क्रिया की क्षमता। इससे भिन्न और कुछ सत्ता है नहीं। यह बात तो सम्भव नहीं कि कोई वस्तु अर्थक्रिया में समर्थ न हो तथा उसे सत् कहा जा सके; क्योंकि बौद्ध मत में (नैयायिक के समान) सत्ता सामान्य नाम की तो कोई चीज़ है नहीं और यदि सत्ता को मान भी लिया जाये तो सत्ता के समवाय से भी किसी वस्तु को सत् नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा मानेंगे तो न्याय-वैशेषिक के सामान्य, विशेष और समवाय नाम के पदार्थ सत् नहीं होंगे; क्योंकि वह इनमें सामान्य (सत्ता) को स्वीकार नहीं करते। यदि कोई कहे कि प्रमाण-ग्राह्यता ही सत्ता है, अर्थात् जो वस्तु प्रमाणों द्वारा गृहीत होती है वह 'सत्' कही जाती है तो इसका अभिप्राय होगा—प्रमाण का विषय होना अथवा प्रमाण का आलम्बन प्रत्यय होना और यह 'अर्थक्रियाक्षमता' ही है उससे भिन्न नहीं, इसलिये यह सिद्ध हो जाता है कि सार्थक-क्रिया को करना ही सत्ता का स्वरूप है।"[३६]

सत्ता क्या है ? इस पर विचार करते हुए बौद्ध-दर्शन द्वारा चार विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं—(१) नैयायिक के अनुसार सत्ता एक सामान्य है, जिसके कारण वस्तुओं में 'यह है, यह है' की प्रतीति होनी है अथवा (२) नैयायिक यह भी कह सकता है कि सत्ता नाम की जाति जिन वस्तुओं में रहती है वे सत् मानी जाती हैं; जैसे द्रव्य, गुण और कर्म हैं। किन्तु इसमें दोष यह आता है कि सामान्य, विशेष तथा समवाय नाम के तीन पदार्थों को भी न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय भावरूप (सत्) कहता है परन्तु उनमें सत्ता जाति को स्वीकार नहीं करता। सत्ता का (३) तीसरा रूप यह हो सकता है कि जिस वस्तु का प्रमाणों द्वारा सत् रूप में ग्रहण किया जाता है उसे सत् कहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि वह वस्तु किसी योग्य कार्य को करने में समर्थ होती है। यह तीसरा विकल्प चतुर्थ विकल्प के भीतर ही समा जाता है। बौद्ध के अनुसार यह कहा जा सकता है कि (४) जो वस्तु किसी प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ है, जो अर्थक्रियाक्षम है, वह सत् कही जाती है अतः सत्ता का स्वरूप है—सार्थक क्रिया (योग्य कार्य) में समर्थ होना या अर्थक्रिया-क्षमता। ऐसा ही लौकिक व्यवहार से भी सिद्ध होता है। पुत्र होते हुए भी पुत्र द्वारा सेवा आदि कार्य न होने के कारण 'हम निपूते हैं' ऐसा लोग कह देते हैं। और, पुत्र से भिन्न व्यक्ति भी यदि पुत्र का कार्य कर देता है तो पुत्रहीन लोग भी यह कह देते हैं कि हम पुत्रवान् हैं।[३७] इस प्रकार सत्ता का अभिप्राय है—कारणता ; अर्थात् वह वस्तु 'सत्' कही जा सकती है जो 'सार्थक' क्रिया का कारण हो सके।

---

३५. यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिरिति स्वभावहेतुः सत्तामात्रानुबन्धित्वात् क्षणिकत्वस्य। वही, पृ० ५५१।

३६. कथं पुनः सत्तामात्रानुबन्धसिद्धिः क्षणिकतायाः ? उच्यते, सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वं भावानां नान्यत्। न ह्यस्ति सम्भवः संश्च भावो न चार्थक्रियां करोतीति।...न च सत्तासामान्यं नामास्ति किंचन। नापि तत्समवायो यतः सन्नित्युच्यते। तत्सद्भावे वा न भवतां सामान्यविशेषसमवायाः सन्तो भवेयुः, तेषां सामान्याधारत्वानभ्युपगमात्। प्रमाणग्राह्यताऽपि प्रमाणविषयता प्रमाणं प्रत्यालम्बनप्रत्ययत्वमेव तच्चार्थक्रियाकारित्वान्नान्यदिति सिद्धमर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वमिति।
वही, पृ० ५५१।

३७. न्यायमञ्जरी, भाग २, पृ० १७।

५. स्थिर वस्तु में अर्थक्रियाक्षमता नहीं हो सकती

बौद्ध-दर्शन की युक्ति है कि स्थिर वस्तु किसी का कारण (उत्पादक) नहीं हो सकती, इसलिए उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। स्थिर वस्तु कारण क्यों नहीं हो सकती ? इस बात को समझाते हुए बौद्ध-दर्शन युक्तियाँ देता है कि कोई वस्तु अर्थक्रिया को दो प्रकार से सिद्ध कर सकती है—(१) क्रम से या (२) एक साथ (युगपत्)। उस वस्तु से जितने प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है या जितने कार्यों की उत्पत्ति हो सकती है उनको वह एक एक करके निष्पन्न करती है (क्रम) अथवा समस्त कार्यों की निष्पत्ति एक ही क्षण में, एक साथ (युगपत्) कर देती है। इस प्रकार वस्तु के द्वारा कार्य-सम्पादन के दो ही ढंग हैं क्रम और यौगपद्य; तीसरा कोई ढंग नहीं हो सकता। किन्तु क्रम या अक्रम से अर्थ-क्रिया-क्षमता रूप सत्ता स्थिर वस्तु में नहीं हो सकती। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों की युक्तियों का विवरण देते हुए बतलाया है—

"वस्तुओं की अर्थक्रिया क्रम और अक्रम से व्याप्त है और क्रम तथा यौगपद्य (अक्रम) स्थिर वस्तु में नहीं हो सकते। अतः अर्थक्रिया भी स्थिर वस्तु में नहीं हो सकती। जैसे किसी शिलामय पर्वत के शिखर पर यदि वृक्षत्व का अभाव विदित हो जाता है तो वह शिंशपा के अभाव को भी प्रकट करता है। यह प्रतिबन्ध सिद्धि होती है।"[३७क]

स्थिर वस्तु क्रम से या अक्रम से किसी प्रकार भी सार्थक क्रिया नहीं कर सकती, न ही किसी वस्तु का कारण हो सकती है, इस बात को स्पष्ट करते हुए बौद्ध-दर्शन की ओर से युक्तियाँ दी जाती हैं— "अक्षणिक या स्थिर वस्तु क्रम से अर्थक्रिया को नहीं कर सकती; क्योंकि भाव या पदार्थ अपने स्वरूप से ही अर्थ-क्रिया का सम्पादन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, कार्य के अन्वय, व्यतिरेक द्वारा जिस वस्तु के भाव तथा अभाव का अनुसरण किया जाता है वही वस्तु उस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होती है; [अर्थात् जिस वस्तु के होने पर ही जो कार्य होता है (अन्वय), जिसके न होने पर जो कार्य नहीं होता (व्यतिरेक), वही वस्तु उस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कही जाती है; जैसे किसी बीज के होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है किन्तु बीज के न होने पर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती यही अन्वय-व्यतिरेक कहलाता है] और, वस्तु के रूप के अन्वय-व्यतिरेक का ही कार्य द्वारा अनुसरण किया जाता है अतः वस्तु का रूप ही कार्य-उत्पादन में समर्थ है (यह मानना पड़ता है)। वस्तु का वह रूप जो कार्य उत्पादन में समर्थ है, जैसे द्वितीय आदि क्षण में विद्यमान है वैसे ही प्रथम क्षण में भी विद्यमान है तब तो जो कार्य उसे दूसरे क्षण में करने हैं उनको वह प्रथम क्षण में ही कर देगा; क्योंकि जो किसी कार्य को करने में समर्थ है उसे विलम्ब करने की क्या आवश्यकता है ? (उदाहरणार्थ—जिस बीज में अंकुर को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है वह प्रथम क्षण में ही अंकुर को उत्पन्न कर देगा विलम्ब का कोई कारण नहीं) अतः स्थिर वस्तु में क्रम से कार्य करने की शक्ति नहीं मानी जा सकती।"[३८]

३७क. भावानामर्थक्रिया क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्ता तौ च स्थिरान्निवर्त्तमानावर्थक्रियामपि व्यावर्त्तयतः वृक्षतेव निवर्तमाना शिंशपात्वम् आराद्दृश्यमानादेकशिलामयाद् भूभृत्कटकादिति प्रतिबन्ध-सिद्धिः। न्या० वा० ता०, पृ० ५५२।

३८. तथा हि न तावदक्षणिकः क्रमेणार्थक्रियां कर्तुमर्हति। स्वेन हि रूपेण भावा अर्थक्रिया-यामुपयुज्यमाना दृश्यन्ते। यद् वस्तु यत्कार्यान्वयव्यतिरेकानुविहितभावाभावं तद् वस्तु

इस पर स्थिरतावादी यदि यह कहता है कि कोई पदार्थ सहकारी कारणों की प्रतीक्षा करता है और जब सहकारी कारण प्राप्त हो जाते हैं तभी किसी कार्य को कर सकना है। इसी हेतु वह युगपत् कार्य नहीं करता अपितु क्रम ये कार्य करता है, जैसे कोई बीज है, उसमें अङ्कुर को उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी है, किन्तु वह मिट्टी, पानी आदि के सहयोग से अङ्कुर को उत्पन्न करता है और यह सहकारी क्रमशः एकत्रित होते हैं अतः समर्थ होते हुए भी स्थिर वस्तु क्रम से कार्य करती है, युगपत् नहीं।"[३९]

इसका प्रतिवाद करते हुए बौद्ध दर्शन कहता है—"इस कारण में ये सहकारी कुछ उपकार (विशेषता या अतिशय) उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं तो वह उपकार उस कारण से भिन्न है या तत्स्वरूप ही है। यदि यह मान लिया जाये कि ये सहकारी मुख्य कारण के रूप से भिन्न कोई उपकार या अतिशय उसमें उत्पन्न करते हैं तो यह उपकार या अतिशय ही कार्य का जनक होगा, वह कारण नहीं; क्योंकि उस कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु इस उपकाररूप शक्तिविशेष के होने पर कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। अतः अन्वयव्यतिरेक से यह उपकार ही कार्य का कारण ठहरता है।"[४०]

(नैयायिक)---अकेला उपकार कार्य का उत्पादक नहीं अपि तु उपकार (अतिशय) सहित कारण ही कार्य का जनक है।[४१]

(बौद्ध) यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि उपकार अर्थात् अतिशय के सहकार से कोई कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है तो यह मानना पड़ेगा कि वह उपकार उस कारण में किसी अन्य उपकार या अतिशय को उत्पन्न कर देता है जिससे वही कारण किसी कार्य के उत्पादन में समर्थ हो जाता है। ऐसा मानने पर दूसरी शक्ति-विशेष द्वारा भी किसी अन्य उपकार (अतिशय) की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और यह अनवस्था दोष हो जाएगा। यदि कहो कि यह अतिशय उस कारण में किसी अन्य अतिशय को उत्पन्न नहीं करता तो यह सहकारी कैसे हो सकता है?[४२]

(नैयायिक)—यदि सहकारी किसी कारण में अभिन्न रूप से स्थित अतिशय या उपकार को उत्पन्न करें तो क्या हानि है?

(बौद्ध)—यदि सहकारियों द्वारा कारण से अभिन्न ही उपकार (शक्तिविशेष) उत्पन्न किया जाता है तो इसका अभिप्राय है कि वह कारण पहले जैसा ही रहा अतः

तत्कार्यप्रसवसमर्थम्; रूपं च तस्य कार्येणानुकृतान्वयव्यतिरेकमिति रूपमेव समर्थं, तच्च द्वितीयादिक्षणेष्विव प्रथमेऽपि क्षणे सदिति द्वितीयादिक्षणजन्यकार्यकलापं प्रथम एव क्षणे निष्पादयेत, समर्थस्य क्षेपायोगादिति नाक्षणिकस्य क्रमवद्व्यापारता प्रसज्यते।

न्या० वा० ता०, पृ० ५५२-५५३।

३९. समर्थोऽपि क्रमवत्सहकारियोगात् क्रमेण करोतीति। वही, पृ० ५५३।

४०. तदयुक्तम्, विकल्पासहत्वात्। किमस्य सहकारिणः कं चिदुपकारमादधति न वा, आदधाना वा भावाद्भिन्नमभिन्नं वा। तत्र भिन्नोपकाराधाने भावे सत्यनुत्पत्तेरुपकारे च सत्युत्पत्तेः एवं कार्यस्योपकार एव जनको न जनको भावः। वही, पृ० ५५३।

४१. न चोपकारसहकारी भाव एव कार्यस्य जनको नोपकारमात्रमिति वाच्यम्। वही, पृ० ५५३।

४२. उपकारस्योपकारान्तरजनने अनवस्थानात्। अजनने तु सहकारिभावाभावात्। वही; पृ० ५५३।

वही कार्य को उत्पन्न कर देगा और सहकारी व्यर्थ हो जायेंगे।[43] यदि सहकारी उस कारण में कोई अतिशय नहीं उत्पन्न करता तो वह कारण सहकारियों की कोई अपेक्षा न रक्खेगा; अर्थात् वह स्वयं ही कार्य कर सकेगा। फिर तो वह कारण उत्पन्न होते ही कार्य को भी उत्पन्न कर देगा। समर्थ को विलम्ब करना उचित नहीं। यदि वह किसी निमित्त से विलम्ब करता है तो पीछे भी उस कार्य को न करेगा; क्योंकि दोनों अवस्थाओं में उसमें कोई भेद नहीं हुआ अर्थात् विलम्ब से कार्य करने का स्वभाव बना रहा।[44]

(नैयायिक)—उपकार न करते हुए अर्थात् अतिशय को न उत्पन्न करते हुए भी वे सहकारी होते हैं; क्योंकि उनके साथ मिलकर कारण किसी कार्य को करता है। इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि कारण को सहकारियों की अपेक्षा नहीं; क्योंकि उन (सहकारियों) के बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता।[45]

(बौद्ध)—यदि पदार्थ (कारण) स्वरूप से ही कार्य का उत्पादक है तो इन (सहकारियों) के बिना ही कार्य को क्यों नहीं उत्पन्न कर देता; क्योंकि इन सहकारियों के आने से पहले भी उसका स्वरूप तो विद्यमान है ही। सहकारियों के द्वारा ही यदि वह कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है तो सहकारी ही कार्य के उत्पादक कहे जायेंगे, यह कारण नहीं।[46] यदि अन्य के रूप से भी कोई पदार्थ किसी कार्य को उत्पन्न कर सकेगा तो आकाश कमल में सत्ता के द्वारा 'यह विद्यमान है' इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा।[47]

(नैयायिक)—जब पदार्थ (भाव, कारण) तथा सहकारी दोनों विद्यमान होते हैं तभी कार्य होता है जब ये दोनों (साथ) नहीं होते तब कार्य नहीं होता तथा एक से कार्य की उत्पत्ति का नियम नहीं बनता अतः दोनों (मुख्य कारण तथा सहकारी) के अधीन ही कार्य की उत्पत्ति है, यह मानना पड़ता है।[48]

(बौद्ध)—यह भी उचित नहीं, कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता, किन्तु चरमभावी निमित्त एवं सहकारियों के एकत्रित होने पर कार्य हो जाता है अतः सहकारियों से युक्त चरमभावी निमित्त (अन्त्यक्षण) में नियमपूर्वक उत्पादकता होने से उसे ही कारण माना जाता है।[49]

---

४३. अभिन्नोपकाराधाने च भाव एव जनयेत् स च प्रागप्यासीदिति सहकारिवैयर्थ्यम्। वही, पृ० ५५३।

४४. अनुपकारकत्वे वा सहकारिणो न भावेनापेक्ष्येरन्नित्युत्पन्नमात्र एव भावः कार्यमुत्पादयेत्। समर्थस्य क्षेपायोगात् क्षेपे वा न पश्चादपि कुर्यादविशेषात्। वही, पृ० ५५३।

४५. यदि मन्यते अनुपकारका अपि भवन्ति सहकारिणो यतस्तैः सह भावः कार्यं करोति। न च भावेन नापेक्ष्यन्ते तैर्विना कार्यस्यानुत्पत्तेरिति। वही, पृ० ५५३।

४६. ननु स्वरूपेण चेत्कार्यजनको भावः न* कस्मान्नेमानन्तरेण जनयति तेभ्यः प्रागपि स्वरूपसद्भावात्। सहकारिरूपेण वा जनकत्वे सहकारिण एव जनका न जनको भावः। वही, पृ० ५५३। *'न' के स्थान पर 'सः' पाठ शुद्ध है।

४७. अन्यरूपेण वा अन्यस्य जनकत्वे गगननलिनस्यापि सत्त्वेन सद्व्यवहारगोचरत्वप्रसङ्गः। न्यायकणिका, पृ० १२६ पं० १८।

४८. न चोभयभावाभावानुविधानाद् अर्थक्रियाभावाभावयोरेकस्माच्च व्यभिचारादुभयाधीनतेति साम्प्रतम्। न्या० वा० ता०, पृ० ५५३।

४९. भावे सत्यनुत्पादात्कार्यस्य व्यभिचारेण चरमभाविनिमित्तसहकारिसमवधाने सति भावादेव सहकारिसमवधानस्यैव चरमभाविनो* व्यभिचारेण कारणत्वावधारणात्। वही, पृ० ५५३-५५४। *चरमभाविनोऽव्यभिचारेण—पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

(नैयायिक, एकदेशी) अपने हेतुओं से ही विलम्ब से कार्य करने वाला पदार्थ (कारण) उत्पन्न होता है जो उत्पन्न होते ही किसी कार्य को नहीं कर सकता।[५०]

(बौद्ध)—फिर तो किसी कार्य को विलम्ब से करना इस (भाव) का स्वभाव है। वह स्वभाव सहकारियों के एकत्रित होने के समय भी रहता है या नहीं? यदि रहता है तो तब भी यह पदार्थ (भाव) कार्य को नहीं करेगा। यदि तब इसका वह (विलम्बकारिता) स्वभाव नहीं रहता तो स्वभाव के नष्ट हो जाने पर भी भाव (पदार्थ) नष्ट कैसे नहीं हुआ? यदि विलम्बकारिता इसका स्वभाव नहीं तो उत्पन्न होते ही यह कार्य का उत्पादन क्यों नहीं करता? उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि स्थिर पदार्थ क्रम से अर्थक्रिया की निष्पत्ति नहीं कर सकते[५१]।

स्थिर पदार्थ युगपत् (एकसाथ) भी अर्थक्रिया का सम्पादन नहीं कर सकते—यदि स्थिर वस्तु युगपत् अर्थक्रिया का सम्पादन कर देती है तो जितना कार्य उसने प्रथम क्षण में किया है उस समस्त कार्य को ही द्वितीय क्षण में करेगी; क्योंकि उतने कार्य के सम्पादन का सामर्थ्य उसमें द्वितीय तथा तृतीय आदि क्षण में भी विद्यमान है ही। और, एक बार की हुई वस्तु को फिर से किया नहीं जा सकता (अर्थात् किसी कुम्भकार ने जो घड़ा इस क्षण बनाया है, वही घड़ा दूसरे क्षण तो बनाया नहीं जाता); इसलिये जिस कार्य को द्वितीय आदि क्षण में करेगी, वह प्रथम क्षण में सम्पादित कार्य से अवश्य ही भिन्न होगा जब वह भिन्न होगा तो फिर क्रम ही हो गया और क्रम से कार्य सम्पादन में दोष दिखलाया जा चुका है।[५२] अथवा यदि एक दम किसी कारण ने समस्त कर्त्तव्य कर्मों को कर लिया, द्वितीय आदि क्षण में उसके करने के लिये कोई कार्य नहीं रहा अतः द्वितीय क्षण में उसमें अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य नहीं रहा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अर्थ-क्रिया-क्षमता ही सत्ता है, इसलिये किसी पदार्थ में द्वितीय क्षण में सत्ता का ही अभाव होगा तथा वह क्षणिक हो जायेगा।"[५३]

इन सब युक्तियों का सार यह है कि स्थिर वस्तु की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। वह न तो क्रम से अर्थक्रिया साधन की क्षमता रखती है, न युगपत् ही। जब उसमें किसी प्रकार अर्थक्रिया-क्षमता नहीं बन सकती तो फिर सत्ता कहाँ रही? इसका अभिप्राय यह होगा कि जिस क्षण में वस्तु सार्थक कार्य का सम्पादन करती है या अर्थक्रिया की निष्पत्ति करती है केवल उसी क्षण में वह सत् कही जा सकती है। इससे क्षणिकता स्वयं ही आ जाती है। यह कहा जा सकता है कि स्थिर वस्तु की सत्ता

---

५०. एतेनैतन्निरस्तं यदाहुरेके—स्वहेतोर्विलम्बकारी भावो जात इति नोत्पन्नमात्रः करोतीति। वही, पृ० ५५४।

५१. सा हि विलम्बकारिता अस्य स्वभावः सहकारिसमवधानकालेऽप्यस्ति न वा, अस्ति चेत्तदाऽपि न कुर्यात्। नास्ति चेत् कथं स्वभावनाशे भावो न नष्टः। अथास्य विलम्बकारिता न स्वभावः कथमुत्पन्नमात्रो न कार्यं कुर्यादिति। तस्मान्न क्रमेणार्थक्रिया भावानाम्। वही, पृ० ५५४।

५२. नापि यौगपद्येन, तस्माद्यावत्कार्यं तेनाक्षणिकेन प्रथमे क्षणे सम्पादितं तावत्सर्वं द्वितीयादि क्षणेषु सम्पादयेत्। तावत्कार्यसम्पादनस्वरूपस्य द्वितीयादिष्वपि क्षणेषु भावात्। न च सम्पादितं शक्यसम्पादनमिति यद् द्वितीयादिक्षणेषु सम्पादयति तत्प्रथमक्षणे सम्पादितादन्यदिति क्रमा एवावर्तन्त इति तत्र चोक्तो दोषः। वही, पृ० ५५४।

५३. युगपत्कृतकृत्यस्य वा द्वितीयादिषु कर्त्तव्याभावात् नार्थक्रियासामर्थ्यमस्ति, इत्यसत्त्वेन क्षणिकत्वापत्तिः। वही, पृ० ५५४।

किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती अतः वस्तु अस्थिर है क्षणिक है, यही समझ में आता है। वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध मत का उपसंहार करते हुए कहा है—**तस्मादक्षणिके सत्त्व-व्यापकयोः क्रमाक्रमयोरनुपलम्भात् व्यापकानुपलब्ध्या निवर्त्तमानं सत्त्वमक्षणिकात् क्षणिकत्वेन व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धिः। न्या० वा० ता०, पृ० ५५४ -**

भाव यह है कि जो सत् वस्तु है वह क्रम या अक्रम से सार्थक क्रिया का सम्पादन करती है अतः क्रम और अक्रम सत्ता के व्यापक हैं, सत्ता उनकी व्याप्य है। किन्तु स्थिर वस्तु क्रम या अक्रम से किसी प्रकार भी सार्थक क्रिया का सम्पादन नहीं कर सकती, इस लिये व्यापक (क्रम या अक्रम) के न होने से व्याप्य (स्थिर वस्तु की सत्ता) का अभाव सिद्ध हो जाता है। जब स्थिर वस्तु में क्रम या अक्रम से अर्थक्रियाक्षमता नहीं हो सकती तो उसकी 'सत्ता' भी कैसे मानी जा सकती है। और, जब सत्ता स्थिर वस्तु में नहीं रह सकती तो क्षणिकता के साथ सत्ता की व्याप्ति का ग्रहण होता है, अर्थात् 'जो सत् है वह क्षणिक है' (यत्सत् तत् क्षणिकम्) इस प्रकार की व्याप्ति बन जाती है। इस व्याप्ति के द्वारा समस्त वस्तुओं की क्षणिकता सिद्ध होती है।

६—विनश्वर-स्वभाव होने के कारण भावों की क्षणिकता।

सत्ता रूप हेतु से ही भावों की क्षणिकता सिद्ध नहीं होती अपितु सभी भाव (वस्तु) कार्य रूप हैं तथा नश्वर हैं; अर्थात् नाश को प्राप्त होना उनका स्वभाव ही है। 'नश्वर-स्वभाव के कारण वे क्षणिक हैं', । इस बात को बौद्ध दार्शनिकों ने भली-भांति समझाया है। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका दोनों में ही वाचस्पति मिश्र ने लगभग समान ही शब्दों में बौद्धों के इस मन्तव्य का स्पष्टरूप से उल्लेख किया है। संक्षेप में उसका भाव यह है :—

(क) **नश्वर या अनश्वर भाव के नाश के लिये हेतु की आवश्यकता नहीं।**[५४] विचारणीय यह है कि अपने कारणों से जो भाव उत्पन्न होता है वह विनश्वर होता है; अर्थात नष्ट होने योग्य होता है, अथवा अविनश्वर; अर्थात् नष्ट न होने योग्य? यदि वह नश्वर या नाश-स्वभाव वाला होता है तो उसे नष्ट करने के लिये किसी हेतु की अपेक्षा न होगी; क्योंकि वह तो स्वभाव से ही नष्ट हो जाने वाला है, नाश का हेतु उसमें क्या करेगा? जैसे—अपने कारणों से 'नील' उत्पन्न होता है उसे नीलापन प्राप्त करने के लिये अन्य किसी हेतु की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह तो स्वयं ही नीलरूप होता है।[५५] यदि कहा जाये कि कोई कार्य अपने कारणों से अविनश्वर उत्पन्न होता है; अर्थात् नष्ट न होना भावों का स्वभाव है। तब तो सैंकड़ो हेतुओं से भी उस (भाव) का कोई नाश नहीं कर सकता। उसके नष्ट न होने के स्वभाव को कौन बदल सकता है? जो उत्पत्ति से (तथा स्वभाव से) ही नील है, उसे सैंकड़ों शिल्पकार भी मिलकर पीत नहीं कर सकते।[५६]

---

५४. मि०, राहुल सां०, बौद्धदर्शन, पृ० १४६ तथा प्र० वा० २. ७२-७४।

५५. अयममिसन्धिः स्वकारणादयं भावो विनश्वरो जायतेऽविनश्वरो वा? विनश्वरश्चेद् विनाशं प्रति न हेतुमपेक्षेत न हि नीलं स्वकारणादुत्पन्नं नीलत्वे हेतुमपेक्षते तस्यैव ताद्रूप्यात्।

न्या० वा० ता०, पृ० ५४६।

५६. अविनश्वरश्चेत्तथाऽपि नास्य हेतुशतैरपि शक्यो विनाशः कर्तुम्। न हि नीलमुत्पन्नं पीतं शिल्पिशतेनापि शक्यं कर्तुम्। वही, पृ० ५४६।

अभिप्राय यह है कि यदि भाव को आप नश्वर मानते हैं तो वह क्षणिक है ही और यदि उसे अनश्वर मानते हैं तो उसका कोई भी कभी विनाश नहीं कर सकता, वह नित्य (अनन्त) हो जायेगा। यह बात न नैयायिक मानते ही हैं और न अनुभव से ही सिद्ध होती है, अतः भाव नश्वर हैं और इसी से वे क्षणिक भी हैं, यह समझ में आता है।

(ख) वस्तु का नाश हेतु के बिना होता है—नैयायिक कहता है कि जो भाव उत्पन्न होते हैं वे नश्वर हैं, इसका अर्थ यह है कि वे नाश के योग्य हैं। उनका विनाश स्वयं ही नहीं होता अपितु किसी कारण से होता है; जैसे एक घट है वह नाश के योग्य तो है पर उसका विनाश मुद्गर आदि के प्रहार से होता है अतः जिस प्रकार कार्य की उत्पत्ति कारणों के अधीन है उसी प्रकार उसका विनाश भी कारणों के अधीन है। बिना कारण के विनाश नहीं होता। चावल पकने योग्य है इसका यह अभिप्राय तो नहीं कि वे अग्नि और जल के संयोग से होने वाली फुलावट (प्रचय-भेद) के बिना ही गल जायेंगे[57]; अथवा लकड़ियाँ फटने योग्य हैं इसका यह अर्थ तो नहीं कि वे कुल्हाड़ी के प्रहार के बिना ही फट जायेंगी।[57] इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए बौद्ध दर्शन उत्तर देता है कि—'यह जो कारणों से वस्तु का विनाश होता है वह भाव (वस्तु) से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है अर्थात् वस्तु स्वरूप ही है तो वह भाव ही हुआ। तब तो नष्ट हो जाने पर भी पहले की भाँति ही वस्तु की उपलब्धि होनी चाहिये और उसमें अर्थक्रिया-क्षमता भी होनी चाहिये। उदाहरणार्थ यदि घट का नाश घट-स्वरूप ही है घट से भिन्न नहीं तो घट का विनाश हो जाने पर घट का स्वरूप ज्यों का त्यों रहा अतः घट की प्राप्ति होनी चाहिये और उससे जल लाना आदि (अर्थक्रिया) भी होनी चाहिये। साथ ही यह भी दोष है कि विनाश (अभाव) तथा वस्तु (भाव) दोनों में अभेद या एकरूपता हो ही नहीं सकती; क्योंकि दोनों के कारण भिन्न २ हैं।[58] जब कारण भिन्न २ हैं तो कार्य में भी भेद होगा; क्योंकि वस्तुओं में विरुद्ध धर्मों का होना अथवा उनके कारणों में भिन्नता होना यही तो भेद का हेतु है।

भाव और विनाश दोनों में कारण का भेद कैसे है? इस बात को न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार ही समझाते हुए बौद्ध कहता है—तन्तुओं के संयोग-विशेष से ही वस्त्र की उत्पत्ति होती है (अर्थात् नैयायिक के मत में तन्तु पट का समवायिकारण है और तन्तुओं का संयोग उसका असमवायिकारण है) इस प्रकार वस्त्र के कारण हैं—तन्तु तथा तन्तुओं का संयोग। किन्तु पट-विनाश का कारण है—तन्तुओं का विभाग अथवा तन्तुओं का नाश। न्याय-वैशेषिक के मतानुसार असमवायिकारण (जैसे पट का तन्तुसंयोग) के नाश (तन्तु-विभाग) से कार्य (पट) का नाश होता है अथवा समवायिकारण (तन्तु आदि) के नाश से कार्य (पट) का नाश होता है। भाव तथा उसके विनाश (अभाव) के कारण भिन्न २ हैं तो दोनों में अभेद कैसे हो सकता है।[59]

---

५७. न हि तण्डुलाः पचेलिमा इति विनैव दहनसलिलसंयोगप्रचयभेदं विक्लिद्यन्ति। काष्ठानि वा भिदेलिमानि इति कुठाराभिघातमन्तरेण दलन्ति। वही, पृ० ५४८, पं ५।

५८. अपि चायं विनाशो भावस्य कारणैराधीयमानो भावाद् भिन्नोऽभिन्नो वा जायते अभिन्नत्वे भाव एवासाविति विनष्टो भावः प्राग्वदुपलब्ध्यर्थक्रिये कुर्यात्। न च भावाभावयोः कारणभेदे सति सम्भवत्यभेदः। वही, पृ० ५४६। तथा न्यायकणिका, पृ० १३२।

५९. तन्तुसंयोगभेदेभ्यो हि पटो जायते तन्तुविभागाद् वा तन्तुविनाशाद् वा पटाभाव इति कारणभेदः। न्या० वा० ता०, पृ० ५४६।

"यदि नैयायिक कहे कि यह विनाश वस्तु (भाव) से भिन्न होता है तब तो हम कहेंगे कि विनाश होता रहे उससे भाव या वस्तु का क्या बिगड़ता है, क्योंकि आप कहते हैं कि अभाव तो भाव से भिन्न है। भला कहीं ऊँट के उत्पन्न होने पर पीलु नाम का फल थोड़े ही समाप्त हो जाता है।"[६०] भाव यह है कि यदि वस्तु तथा उसका विनाश दोनों भिन्न २ हैं तो कारणों द्वारा विनाश होने पर भी वस्तु का कुछ नहीं बिगड़ना चाहिये। जब वस्तु और विनाश एक दूसरे से भिन्न हैं तो उनका एक दूसरे पर प्रभाव कैसे पड़ सकता है ?

(ग) भाव के स्वरूप का तिरोधान भी विनाश नहीं हो सकता—इस पर यदि कोई कहे कि 'विनाश से वस्तु लुप्त (तिरोहित) हो जाती है।'[६१] इस बात का खण्डन करने के लिये बौद्ध दर्शन पहले के समान ही अनेक विकल्प करते हुए कहता है—"यदि वस्तु का यह लोप वस्तु से अभिन्न है तो पहले के समान ही वस्तु की उपलब्धि होनी चाहिये। यदि कहो कि लोप वस्तु से भिन्न है तब तो भिन्न होने वाले लोप की उत्पत्ति से वस्तु में न कुछ उत्पन्न होता है न कुछ नष्ट नोता है अतः वह वस्तु ज्यों की त्यों ही रहती है फिर तो पहले के समान ही उसकी उपलब्धि आदि होनी चाहिये।"[६२]

(घ) विनाश निर्हेतुक होने से भाव क्षणिक हैं—इस प्रकार बौद्ध दर्शन वस्तुवादियों की इस बात का विरोध करता है कि विनाश भी कारणों से होता है। वह निर्हेतुक विनाश स्वीकार करता है। अभाव या नाश का कोई हेतु नहीं होता, इसका उपसंहार करते हुए बौद्ध दर्शन कहता है—"इसलिये अभाव या नाश का करना (क्रिया) ही नहीं बन सकता; क्योंकि उसका कोई स्वरूप नहीं तथा वह कल्पित ही है और 'विनाश करता है' (अभावं करोति) इत्यादि प्रयोगों में 'करना' क्रिया का सम्बन्ध स्वभावरहित (सत्ताशून्य) अभाव या विनाश से नहीं हो सकता। यहाँ 'करना' का 'न' (नञ्) के साथ सम्बन्ध होता है 'भाव को नहीं करता' (भावं न करोति), यही इसका अर्थ है। जो नहीं करता, उसकी बिना किये कारणता कैसे हो सकती है ? इसलिये विनाश के कारण नहीं होते।"[६३]

'विनाश के कारण नहीं होते' इस कथन से तात्पर्य यह है कि "अपने हेतुओं से एक क्षण रहने वाली ही वस्तु उत्पन्न होती है और द्वितीय क्षण में वह स्वयं ही नष्ट हो जाती है। इस कार्य (विनाश या अभाव) के लिये उसको कारण की आवश्यकता नहीं होती। जो अपने कारणों से 'नील' उत्पन्न होता है उसे अपीत अर्थात् 'यह पीला नहीं है' ऐसा कहलाने के लिये किसी अन्य हेतु की तो अपेक्षा होती नहीं और न ही यह पूछा ही जाता

---

६०. भावाद् भिन्नत्वे तु जायतामभावो, भावस्य किमायातं न हि क्रमेलकोत्पादने पीलवो निवर्तन्ते। वही, पृ० ५४६।

६१. अभावेन भावस्तिरोधीयते इति चेत्। वही, पृ० ५४६।

६२. न, तिरोधानस्यापि भावादभेदे पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गः। भेदेऽपि तिरोधानस्यान्यस्योत्पादे अन्यस्य न किं चिदुत्पन्नं विनष्टं चेति भावतादवस्थ्यात् पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गः। वही, पृ० ५४६, ५४७।

६३. तस्मादभावस्यापि समस्तरूपविरहिणो विकल्पितस्य क्रियाऽनुपपन्नेति अभावं करोतीति करोतिक्रियाया अभावेन निःस्वभावेन सम्बन्धाऽनुपपत्तेः। नञा सह सम्बन्धों भावं न करोतीति। यश्च न करोति तस्याऽकारकस्याऽहेतुत्वमिति न विनाशहेतवः। न्यायकणिका, पृ० १३२। न्या० वा० ता०, पृ० ५४७।

है कि किस कारण से पीला नहीं है।"[६४] इससे स्पष्ट ही विदित होता है कि वस्तु क्षणभङ्गुर है।

नश्वरता से क्षणिकता को सिद्ध करते हुए बौद्ध दर्शन कहता है कि नैयायिक के मत में जो कार्य द्रव्य हैं वे अवश्य नष्ट होते हैं; अर्थात् कार्यत्व अनित्यत्व या नश्वरता में हेतु है। इससे ही वस्तुओं की क्षणिकता सिद्ध होती है—"कार्यरूप भावों का विनाश अवश्य होता है; अर्थात् जो उत्पन्न होता है वह अवश्य नष्ट होता है, यह देखा जाता है और इससे वस्तुओं की क्षणिकता का अनुमान किया जा सकता है। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि वस्तु के विनाश के लिये किसी हेतु की अपेक्षा नहीं होती। कैसे? जो जिसमें अवश्यम्भावी होता है उसके करने के लिये किसी हेतु की अपेक्षा नहीं होती; जैसे कृपाण फौलाद का बना होता है उसमें फौलादीपन लाने के लिये अन्य हेतु की अपेक्षा कहाँ होती है? इसी प्रकार कृतक भावों का विनाश भी ध्रुवभावी (अवश्यम्भावी) है इसलिये विनाश के लिये किसी हेतु की अपेक्षा नहीं।[६५] दूसरी ओर, जो किसी अन्य हेतु की अपेक्षा रखते हैं वे अवश्यम्भावी नहीं होते; जैसे वस्त्र में रंगने का कार्य वस्त्र के तन्तु आदि कारणों से भिन्न किसी (कुसुम्भ आदि अथवा रासायनिक पदार्थ रंग आदि) की अपेक्षा रखता है वह अवश्यम्भावी नहीं होता अपितु कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर होता है।[६६]

उपर्युक्त विवेचन से यह समझ में आता है कि यदि भाव (वस्तु) अपने कारणों से भिन्न किसी अन्य कारण की स्व-विनाश के लिये अपेक्षा रक्खेंगे तो फिर यह निश्चय नहीं कि विनाश का कारण नियम से उपस्थित ही हो। कदाचित् ऐसा भी हो सकता है कि विनाश का कारण उपस्थित न हो और जो कार्य वस्तुएँ हैं वे भी नष्ट न हों। यदि ऐसा हो गया तो कार्य वस्तुओं का विनाश अवश्यम्भावी कहाँ रहा? इसलिये क्षणिक भावों का यह अवश्यम्भावी विनाश प्रकट करता है कि अपने हेतुओं से एक क्षण रहने वाली वस्तु ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार भाव क्षणस्थायी हैं वे द्वितीय क्षण में स्वयं ही नहीं रहते और इनकी क्षणभङ्गुरता सिद्ध हो जाती है।[६७]

(ङ) अभाव या विनाश निरन्वय तथा निरुपाख्य है—बौद्ध दर्शन के अनुसार विनाश 'निर्हेतुक' ही नहीं है अपितु निरन्वय तथा निरुपाख्य है। किसी वस्तु का नाश

---

६४. केचित्तु तस्मात्स्वहेतोरयमेकक्षणस्थितिधर्मा भावो जात इति द्वितीयक्षणे स्वयमेव न भवति। न पुनरत्र हेतुमपेक्षते। न खलु स्वकारणतः स्वभावव्यवस्थितं नीलमुपजायमानमपीतादिभावे हेतुमपेक्षते पर्यनुयुज्यते चेति। न्यायकणिका, पृ० १३२।

६५. अपि च कृतकानां भावानामवश्यम्भावी विनाशः प्रतीयते तेनापि क्षणिकता शक्याऽनुमातुम्। तथाहि—यद्येषां ध्रुवं भावि तत्र तेषां हेत्वन्तरापेक्षा नास्ति यथा रूपादीनां लोहमयत्वे। ध्रुवभावी च कृतकानां भावानां विनाशः इति विरुद्धोपलब्धिर्विनाशस्य हेत्वन्तरायत्ततां प्रतिक्षिपति। वही, पृ० १३२। यहाँ 'रूपादीनां के स्थान पर तात्पर्यटीका में "कृपाणस्यायोमयत्वे" पाठ है। उसके आधार पर ही अर्थ किया गया है।

६६. ये हि हेत्वन्तरापेक्षा न ते ध्रुवभाविनो यथा वाससि रागादयः कुसुम्भादिसंयोगसापेक्षा नावश्यंभाविन इति। न्या० वा० ता०, पृ० ५४७।

६७. तथा यदि भावा अपि स्वहेतुभ्यो हेत्वन्तरं विनाशं प्रत्यपेक्षेरन् ततस्तस्य सन्निधाननियमप्रमाणाभावात् कश्चित्कृतकोऽपि न विनश्येत्। सोऽयमवश्यम्भावी क्षणिकानां भावानां विनाशः स्वहेतुभ्य एवैकक्षणावस्थायिनामुत्पत्तिं सूचयति। तथा च स्वयमेव न भवन्ति भावा द्वितीये क्षणे इति सिद्धः क्षणभङ्गः एतेषाम्। न्यायकणिका, पृ० १३२-१३३।

हो जाने पर उसका कोई तत्त्व (अन्वय) शेष नहीं रहता और उसका किसी रूप में कथन (उपाख्या) नहीं किया जा सकता। जैसा कि बौद्ध दर्शन की ओर से शंका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भामती टीका में दिखलाया है—

स्यादेतत्—मृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालादिषु सर्वत्र मृत्तत्वप्रत्यभिज्ञानाद् भवत्वेवम् तप्तोपलतलपतितनष्टस्य तूदबिन्दोः किमस्ति रूपमन्वयि प्रत्यभिज्ञायमानं येनास्य न निरन्वयो नाशः स्यात्। भामती, पृ० ५३४।

कारण और कार्य में तादात्म्य भाव मानने वाले वेदान्त इत्यादि का मत है कि मृत्पिण्ड से घट की रचना में मिट्टी का अन्वय घट में देखा जाता है इसी प्रकार घट के टूटने पर कपालों में घट के रूप का अन्वय देखा जाता है। अतः विनाश हो जाने पर वस्तु के कुछ रूप उसके ध्वस्त रूप में प्राप्त होते हैं; यही अन्वय है जो प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध होता है। इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन का कथन है कि यदि अभ्युपगमवाद से यह मान भी लिया जाय कि घट का रूप कपाल में अन्वित होता है तो तप्त शिलातल (या तवे) पर जो जल की बूंद डाली जाती है उसके नष्ट होने पर कौन से अवशेष दिखलाई देते हैं जो आप विनाश को निरन्वय नहीं मानते; अतः घट आदि के विनाश के स्थल में भी निरन्वय विनाश ही होता है वहाँ प्रत्यभिज्ञा केवल भ्रान्ति है। वास्तव में तो सर्वत्र ही प्रथम क्षण का विनाश हो जाता है और द्वितीय क्षण उत्पन्न होता है। प्रथम क्षण का कोई रूप अवशिष्ट नहीं रहता; जैसा कि बौद्ध दर्शन की ओर से कहा गया है—'**न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्।**' न्या० वा० ता०, पृ० ५४७। (प्र० वा०, ३.२७७) "अर्थात् जिस भाव का विनाश कहा जाता है उसका भिन्न या अभिन्न कोई और रूप (किञ्चित्) नहीं होता, केवल वह नहीं रहता, यही प्रतीति होती है।" इस प्रकार 'विनाश' यह केवल व्यवहारमात्र है।[६८]

७. क्षणिकवाद में कार्यकारण-भाव

(i) **क्षणिक वस्तु में कारणता**:—यदि समस्त भाव क्षणिक हैं तो कार्य-कारण-भाव कैसे बन सकता है? नैयायिक की शंका यह है कि कार्य से पूर्व तथा कार्यकाल में समवायी कारण का होना आवश्यक है।[६९] साथ ही कारण और कार्य में आधार तथा आधेय भाव होता है। तन्तु रूप आधार में पट की उत्पत्ति होती है तभी 'तन्तुषु पटः' यह भान होता है। यह आधाराधेय भाव समान काल में रहने वाली वस्तुओं में ही हो सकता है। जैसे 'कुण्डे में बेर हैं' या 'मेज़ पर पुस्तक है' यहां कुण्ड तथा मेज़, बेर तथा पुस्तक का आधार है, बेर या पुस्तक आधेय हैं। मेज़ और पुस्तक एक काल में विद्यमान हैं तभी इनका आधाराधेय-भाव बनता है। क्षणिकवादी के मत में तो तन्तु क्षणिक है। वह एक क्षण में नष्ट हो जाता है उससे दूसरे क्षण में पट की उत्पत्ति होती है अतएव आधाराधेय-भाव नहीं बन सकता। इस प्रकार कार्य-कारण-भाव भी नहीं बन सकता। जब तन्तुओं के नष्ट होने पर पट की उत्पत्ति होती है तो तन्तु पट का कारण कैसे कहे जा सकते हैं?

इसका उत्तर देते हुए बौद्ध दर्शन युक्तियाँ देता है—"यह बात नहीं है कि भावों को क्षणिक मानने पर कार्य-कारण-भाव वहीं बन सकता, हमारे मत में कारणविनाश के समान-

---

६८. मि०, न तस्य भावस्य किञ्चिद् विनाशोऽन्यो वा भवति। किन्तर्हि स एव केवलं न भवति। व्यवहर्तव्यैकरूपत्वात्तस्य। प्र० वा० मनो०, ३.२७७।

६९. समवायिकारणं हि कार्यात्पूर्वं च कार्यकाले चेति लोकसिद्धं तच्चैतत्क्षणिकत्वेऽनुपपन्नम्। न्या० वा० ता०, पृ० ५४२-५४३।

काल में ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। प्रथम क्षण नष्ट होता है और उत्तरक्षण की उत्पत्ति हो जाती है अतः कारण और कार्य की समानकालता बन सकती है।[७०] और कार्य से पूर्व कारण की विद्यमानता में तो कोई सन्देह ही नहीं। हां, कारण, और कार्य में आधाराधेय-भाव होता है, यह बौद्ध दर्शन को स्वीकार्य नहीं। यदि कहो कि प्रथमक्षण के नष्ट हो जाने पर उत्तर क्षण की उत्पत्ति होती है फिर कार्य और कारण की समानकालता कहाँ रही ? तो यही कहना पर्याप्त है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण की विद्यमानता आवश्यक है कार्य के काल में नहीं तब तो कार्य सिद्ध हो ही चुका है फिर उसकी उत्पत्ति के लिये अपेक्षित कारण की सत्ता का क्या उपयोग है ?[७१]

फिर शंका होती है कि लोक में तो पहिले कारण विद्यमान होते हैं; फिर कारण में व्यापार होता है; उस कारण-व्यापार के पश्चात् कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे कुल्हाड़ी लकड़ी काटने का कारण है। पहले क्षण में कुल्हाड़ी विद्यमान है, तब उसमें उठाने और प्रहार करने का व्यापार (क्रिया) होता है। इसके पश्चात् दूसरे क्षण में उससे काटना रूप (छिदिक्रिया) कार्य होता है। इस प्रकार यदि उत्पन्न होने के पश्चात् कारण में कार्य को उत्पन्न करने वाला व्यापार मानोगे तो उसका दूसरे क्षण से सम्बन्ध मानना पड़ेगा, अतः क्षणिक भावों में कारणता कैसे हो सकती है ?[७२]

उसके उत्तर में बौद्ध दर्शन का कहना है कि क्रिया और कारक में कोई वास्तविक भेद नहीं होता, केवल कल्पित भेद है। वस्तुतः भाव ही व्यापाररूप भी होता है।[७३] पदार्थों की विद्यमानता (भूति) ही क्रिया तथा कारक भी कही जाती है।[७४] संक्षेप में बौद्ध दर्शन के अनुसार कारण उसे कहते हैं जिसके होने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य हो ही जाती है। और, इस प्रकार सामग्री या समूह ही कारण है, सामग्री के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है; उदाहरणार्थ जब बीज, मिट्टी, जल आदि सामग्री एकत्रित होती है तभी बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है, एक एक के होने पर नही; इसलिये एक २ कारण नहीं, सामग्री ही कारण है।[७५] जैसा कि (धर्मकीर्ति) ने कहा भी है :—**न किञ्चिदेकमेकस्मात् सामग्र्याः सर्वसम्भवः। भामती, पृ० ५२६। प्र० वा०, २. ५३६।** अर्थात् कोई भी एक वस्तु एक (कारण) से उत्पन्न नहीं होती, बल्कि सामग्री (अनेक कारणों के समुदाय) से सभी कार्यों की उत्पत्ति होती है।" इसी प्रकार न्यायकणिका में भी वाचस्पति मिश्र ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि बौद्ध-मत में पौर्वापर्य का नियम ही कार्यकारणभाव है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं तथा सामग्री ही कारण है, एक वस्तु नहीं—**न च पौर्वापर्यनियमादन्यः कार्यकारणभावः तस्मादनेकस्मादेकं यदाह—'न किंचिदेकमेकस्मादिति'। न्यायकणिका, पृ० १३३।**

---

७०. न हि क्षणिकत्वे कार्यकारणभावो न सिध्यति। स तु सिद्धः क्षणिकत्वपक्षेऽपीति कारणविनाशसमकालत्वेन कार्योत्पादस्य, कार्यकारणयोः समानकालत्वाद् इत्यर्थः। वही, पृ० ५४३।

७१. कारणस्य हि कार्योत्पादात् प्राक्कालसत्ताऽर्थवती न कार्यकाला, तदा कार्यस्य सिद्धत्वेन तत्सिद्ध्यर्थायाः सत्तायाः अनुपयोगादिति भावः। भामती, पृ० ५३१।

७२. भूत्वा व्यापृत्य भावाः प्रायेण हि कार्यं कुर्वन्तो लोके दृश्यन्ते। तथा च स्थिरत्वम्। वही, पृ० ५३१ तथा भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसम्बन्धप्रसङ्गात्। ब्र० सू० शा०, पृ० ५३१।

७३. अथ भाव एवास्य व्यापार इति। वही, पृ० ५३१।

७४. भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते। भामती, पृ० ५३१।

७५. यस्मिन् सति भवत्येव तत्कारणं, समूहे सति च भवत्येवेति, नैकैकस्मिन्; तस्मान्नैकैकं कारणमिति भावः। न्या० वा० ता०, पृ० ३४३।

(ii) **कारण का कार्य में अन्वय नहीं :**—वेदान्त इत्यादि कारण और कार्य का तादात्म्य मानते हैं। उनका कथन है कि जो घट मिट्टी से बनता है वह मिट्टी के स्वरूप से अन्वित होता है और जो कुण्डल आदि आभूषण सुवर्ण-निर्मित हैं उनमें सुवर्ण का तादात्म्य देखा जाता है। यह अनुभूयमान तादात्म्य क्षणिकवाद में नहीं बन सकता; क्योंकि इसके अनुसार तो कार्य की उत्पत्ति के समय कारण विद्यमान नहीं रहता। जब कारण का कार्य में तादात्म्य नहीं बनता तो क्षणिकवाद में कारणता ही कैसे बन सकती है।[७६] इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन का कथन है कि कार्य में कारण का सादृश्य होता है, तादात्म्य नहीं ;—**'कारण-सादृश्यं कार्यस्य न तु तादात्म्यममिति'। भामती, पृ० ५३२।**

किन्तु यदि कारण का कार्य में सादृश्य माना जाता है तो तादात्म्य मानने वालों की ओर से यह शंका होती है कि यदि कार्य में कारण के किसी रूप का अन्वय नहीं होता तो सादृश्य भी कैसे बन सकता है। यदि कहो कि किसी रूप का अन्वय तो होता ही है तब तो वही कार्यकारण का तादात्म्य है और तादात्म्य होने पर भावों की क्षणिकता नहीं बन सकती। यदि कहो कि कारण से सर्वथा विलक्षण कार्य की उत्पत्ति होती है तब तो तन्तु और घट में परस्पर कारण-कार्य-भाव होने लगेगा।[७७]

इस प्रकार की शंकाओं का उत्तर बौद्ध दर्शन के प्रतीत्य-समुत्पाद में ही विद्यमान है। यह तो अनेक स्थलों पर स्पष्ट ही कहा गया है कि उसके मतानुसार उत्पत्ति और विनाश दोनों निरन्वय हैं[७८] सुवर्ण आदि का कोई तत्त्व कुण्डल आदि आभूषणों में अन्वित नहीं होता अपि तु प्रथम क्षण में सुवर्ण नष्ट होता है वह अपना कोई अवशेष नहीं छोड़ता। द्वितीय क्षण में कुण्डल की उत्पत्ति होती है तब कुण्डल में सुवर्ण का कोई सार समन्वित नहीं होता। केवल सादृश्य के कारण ये दोनों समान हैं, यह प्रतीति होती है। जिस प्रकार उत्पत्ति निरन्वय है इसी प्रकार विनाश भी निरन्वय है, यह ऊपर कहा जा चुका है।[७९]

८. क्षणिक वस्तुओं में सहकारिता कैसे होती है ?

(i) **सहकारिता का अभिप्राय**—'सामग्री ही कारण है।' यह मानने पर एक सहज शंका होती है कि क्षणिकवाद में कारणों का सामग्रय कैसे होता है ? साथ ही यह भी विचार उठता है कि जब सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं तो वे एक दूसरे का उपकार कैसे कर सकती हैं ?[८०] बौद्ध के मत में अंकुर की उत्पत्ति में मिट्टी, जल आदि सहकारी कारण हैं तथा बीज प्रधान कारण है। ये एक क्षण में उपस्थित हो जाते हैं और अंकुर की उत्पत्ति होती है। उसी क्षण में पृथ्वी, जल, उष्णता तथा वायु आदि सहकारी बीज का उपकार तो कर नहीं सकते ; क्योंकि कोई उपकार करने के लिए अथवा शक्ति-विशेष (अतिशय) का उत्पादन करने के लिए उन्हें दूसरे क्षण भी ठहरना पड़ेगा, जो क्षणभङ्गवाद में सम्भव नहीं। फिर वे अंकुररूप कार्य के सहकारी कारण कैसे कहे जा सकते हैं ? इसके उत्तर में

७६. तथापि नैवोपपद्यते क्षणिकस्य कारणभावः। मृत्सुवर्णकारणा हि घटादयः रुचकादयश्च मृत्सुवर्णात्मनाऽनुभूयन्ते। यदि च न कार्यसमये कारणं सत् कथं तेषां तदात्मनानुभवः। भामती पृ० ५३२।

७७. वही, पृ० ५३१-५३२।

७८. निरन्वयोत्पादविनाशयोः। न्या० वा० ता०, पृ० ५४२।

७९. ऊपर, परि० ८ अनु० ६ (ङ)।

८०. न च क्षणिकपक्ष उपकार्योपकारकभावोऽस्ति। भामती, पृ० ५३०।

बौद्ध दर्शन कहता है—वास्तव में सहकारी कारण प्रधान कारण की कुछ भी सहायता नहीं करते, क्योंकि क्षणिकवाद में पारस्परिक सहायता असम्भव है। "किन्तु वे इस हेतु सहकारी कहलाते हैं; क्योंकि वे साथ मिलकर उसी कार्य को करते हैं प्रधान कारण के द्वारा जिसकी उत्पत्ति होती है।"[८१] वाचस्पति मिश्र ने इस मन्तव्य को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है :—

न वाऽसहकारिता क्षित्यादीनां तैरेव सहाङ्कुरजननात्। तेषामपि कार्यात्पूर्वभावस्य नियमतोऽविशेषात्। तन्मात्रत्वादेव च कारणतायाः। न्या० वा० ता०, पृ० ५५५।

"अर्थात् यह ठीक है कि अंकुरोत्पत्ति का कारण समर्थ बीजक्षण ही है किन्तु इससे पृथ्वी आदि की सहकारिता में अन्तर नहीं आता; क्योंकि (१) उनके साथ मिलकर ही बीजक्षण अंकुर का उत्पादक होता है, (२) वे क्षिति आदि भी कार्यरूप अंकुर की उत्पत्ति से पूर्व नियत रूप से रहते हैं तथा नियतरूप से पूर्व स्थिति मात्र ही (तन्मात्र) कारणता का प्रयोजक है।"

अब स्थिरतावादी की ओर से शंका होती है कि फिर भी सहकारी की क्या आवश्यकता है? क्योंकि "क्षणिक भाव (वस्तु) अर्थक्रिया-उत्पादन के स्वभाव वाला है या नहीं। यदि कहो कि अर्थक्रिया को उत्पन्न करना उसका स्वभाव नहीं है तब तो वह असत् ही है (क्योंकि बौद्ध मत में अर्थक्रियाकारित्व ही तो सत्ता है जब भाव में यह नहीं है तो वह सत् नहीं असत् है)। यदि कहो कि अर्थक्रिया को उत्पन्न करना वस्तु का स्वभाव है तब तो सहकारी इसका क्या करते हैं? उत्पन्न होते ही बीज अंकुर को पैदा कर देगा। यदि समर्थ बीज उत्पन्न होकर अंकुर को पैदा कर ही देता है, तो उस समर्थ बीज की उत्पत्ति किससे होती है? यदि पहले बीजक्षण से समर्थ बीजक्षण की उत्पत्ति होती है, तब तो उस बीज-सन्तान में जो बीजक्षण आते हैं वे सभी सामान्यतः बीज हैं अतः सभी में अंकुरोत्पादन का सामर्थ्य है। इस हेतु कुसुम के पश्चात् बीज रूप में आते ही उसे अंकुर को उत्पन्न कर देना चाहिये।"[८२]

इस शंका का समाधान करते हुए बौद्ध दर्शन ने क्षणिकवाद में कार्योत्पत्ति का विशद रूप से विवेचन किया है। साथ ही कार्योत्पत्ति में सहकारी कारण कैसे उपकार करते हैं? यह भी स्पष्ट किया है। संक्षेप में भाव यह है—"इसमें सन्देह नहीं कि भाव क्षणिक हैं और सामग्री से कार्य की उत्पत्ति होती है। बौद्धमत में भी उपादान प्रत्यय (नैयायिक के समवायिकरण के समान अथवा सांख्य के उपादान कारण के समान) और सहकारी प्रत्यय भिन्न २ होते हैं। वे सभी साथ मिलकर एक कार्य करते हैं, जैसा कि कहा जा चुका है। उनके कार्य करने का क्रम यह है कि जब कोठार या गोदाम से आये हुए पूर्व बीजक्षण की क्षिति, पवनादि के क्षणों के साथ स्थिति होती है तो उससे कुछ अतिशय या संस्कार-विशेष सहित दूसरे बीजक्षण की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार एक से दूसरे

---

८१. मि०, द्विविधश्च सहकारी परस्परोपकारी एककार्यकारी च। इह च क्षणिके वस्तुन्यतिशयाधानायोगादेककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते। न्यायबिन्दुटीका, पृ० १३।

८२. क्षणिको भावोऽर्थक्रियाजनकस्वभावो न वा, न चेदसन्नेव, तज्जनकस्वभावश्चेत्किमस्य सहकारिभिः। उत्पन्नमात्रमेव बीजमङ्कुरं जनयेत्। ननूत्पन्नो बीजक्षणः समर्थो जनयत्येवाङ्कुरं कुतः समर्थस्योत्पत्तिः पूर्वस्माद् बीजक्षणात्। तर्हि तत्सन्तानवर्तिनां सर्वेषां बीजत्वाविशेषादङ्कुरजननसामर्थ्यमिति कुसुमानन्तरलब्धजन्ममात्रमेव बीजमङ्कुरं जनयेत्।
न्या० वा० ता०, पृ०, ५५४-५५५।

अतिशय-युक्त बीजक्षण की उत्पत्ति होते २ (परम्परया) अन्तिम समर्थ बीज की उत्पत्ति हो जाती है। बीज-सन्तान में जो अन्तिम बीजक्षण है, जिसमें अंकुरोत्पादन का सामर्थ्य है उसे ही अन्त्यक्षण या समर्थ बीजक्षण कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में इसे 'कुर्वद्रूप' भी कहते हैं। कुर्वद्रूपता का अर्थ है—अतिशय-विशेष, जिसको प्राप्त हुआ बीजक्षण अपने कार्य अर्थात् अंकुर को उत्पन्न करने में तत्काल समर्थ हो जाता है यही कुर्वद्रूपता या सामर्थ्य है। यह समर्थ बीजक्षण समर्थ मिट्टी, पानी आदि के क्षणों के साथ रहता हुआ, किन्तु उनकी किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा के बिना ही, अंकुर रूप कार्य का उत्पादन करता है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—"पूर्व पूर्व बीज, पृथ्वी, पवन आदि के क्षणों का समवधान होने से अतिशय-युक्त उत्तर उत्तर क्षण की उत्पत्ति होते होते परम्परा से समर्थ (कुर्वद्रूप) अन्त्यक्षण की उत्पत्ति होती है और वह समर्थ क्षिति इत्यादि क्षणों के साथ, किन्तु उनसे निरपेक्ष रहता हुआ (अर्थात् अपने कार्य में पूर्णतया आत्मनिर्भर होकर) अंकुर को उत्पन्न करता है।[८३]

इस प्रकार बौद्ध दर्शन में समर्थ कारण किसी दूसरे सहकारी की अपेक्षा किये बिना ही कार्य का उत्पादन करता है। जब समर्थ बीजक्षण की उत्पत्ति हो जाती है तो वह समर्थ बीजक्षण, पृथ्वी, जल और उष्णता आदि की अपेक्षा किये बिना ही अंकुर रूप कार्य को उत्पन्न कर देता है। किन्तु इस बात को मानने में अनेक आपत्तियां उठाई जाती हैं जिनका सारांश न्यायकणिका तथा तात्पर्यटीका के आधार पर निम्न प्रकार से अंकित किया जा सकता है।

(ii) विरोधियों की शङ्काओं का समाधान :—

प्रश्न —यदि यह समर्थ बीजक्षण पृथ्वी इत्यादि के साथ होते हुए भी उनकी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता तो उनके बिना ही अंकुर रूप कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं कर देता ?

उत्तर—क्योंकि अंकुर की उत्पत्ति कारणसामग्री के अधीन है अर्थात् बीज, क्षिति, पवन, जल, उष्णता आदि के समवधान होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है अतः सामग्री के अभाव में कार्य (अंकुर) की उत्पत्ति न होगी।[८४]

प्रश्न —जब समर्थ बीजक्षण अंकुर की उत्पत्ति निरपेक्ष भाव से स्वयं ही कर सकता है तो फिर क्षिति आदि की सहकारिता का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—क्योंकि उनके साथ रहकर ही बीजक्षण कार्य (अंकुर) को उत्पन्न करता है अतः वे सहकारी कहे जाते हैं। वे क्षिति, जल, पवन, उष्णता आदि बीज के समान ही नियमपूर्वक अंकुर रूप कार्य से पूर्व रहते हैं तथा कारणता का स्वरूप ही यह है जो कार्य से नियमपूर्वक पहिले उपस्थित रहे। इसी से क्षिति आदि भी अंकुर के कारण (सहकारी) हैं ही।[८५]

---

८३. पूर्वपूर्वक्षितिबीजपवनादिक्षणसमवधानोत्पन्नातिशयवदुत्तरक्षणपरम्परालब्धजन्माऽन्त्यो बीजक्षणः समर्थः समर्थक्षित्यादिक्षणसहभूरनपेक्ष एवाङ्कुरं जनयति। वही, पृ० ५५५। यहाँ बनारस संस्करण 'में समर्थक्षित्यादिलक्षणसहभूः'—यह पाठ है किन्तु न्यायकणिका आदि के आधार पर उपरि उद्धृत पाठ ही शुद्ध है।

८४. न चास्य क्षित्यादिसहभुवस्तदनपेक्षस्यापि तैर्विना करणं तदेकसामग्र्यधीनस्य तदभावेऽभावात्। वही, पृ० ५५५।

८५. न वाऽसहकारिता क्षित्यादीनां तैरेव सहाङ्कुरजननात्। तेषामपि कार्यात्पूर्वभावस्य नियमतोऽविशेषात्। तन्मात्रत्वादेव च कारणतायाः। वही, पृ० ५५५।

प्रश्न —यदि वे कारण एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते (परस्परमनपेक्षाणाम्) तो अन्य कार्य का आरम्भ क्यों नहीं कर देते ?

उत्तर—ऐसा इसलिये नहीं होता कि केवल उतने कार्य की (तन्मात्रस्य) ही उनसे प्राप्ति देखी जाती है अतः नियमपूर्वक उस कार्य के उत्पादन में ही (तत्रैव) उनकी सामर्थ्य है।[८६]

प्रश्न —जिस कार्य (अंकुर) को समर्थ बीजक्षण ही कर सकता है उसे अन्य कारण नहीं करेंगे; क्योंकि किये हुए को तो फिर से किया नहीं जाता (कृताकरणतया)।

उत्तर—यहाँ 'किया हुआ है'—(कृतमिति) इस प्रकार की प्रतीति सम्भव नहीं; क्योंकि वे सब कारण तो साथ मिलकर कार्य कर रहे हैं अभी किया कहाँ गया है ? और जो भाव (बीज, पृथ्वी आदि) अपने २ कारणों से (उपसर्पण प्रत्यय से) सन्निहित हुए हैं वे बुद्धियुक्त चेतन तो हैं नहीं जो यह सोचकर हट जायें कि हम में से एक ही इसे करने में समर्थ है, हम सबको इकठ्ठा होने की क्या आवश्यकता है ?[८७]

प्रश्न—बीज तो बुद्धियुक्त नहीं परन्तु क्या कृषक भी प्रेक्षावान् नहीं है जो कोठार से बीज (गेहूँ) को लेकर जुती हुई भूमि में डाल देता है ? (जब समर्थ बीजक्षण क्षिति, जल आदि की अपेक्षा रक्खे बिना ही अंकुर को उत्पन्न कर सकता है तो उस किसान को क्या आवश्यकता है कि वह कोठी में से गेहूँ निकाल कर मिट्टी में मिला देता है ?)

उत्तर—मिट्टी, जल आदि के सन्निधान से पूर्व बीजक्षण की अपेक्षा उत्तर २ क्षण में परम्परया अतिशय (संस्कार-विशेष) उत्पन्न होता है तभी समर्थ बीज में अंकुर को उत्पन्न करने की सामर्थ्य देखी जाती है और कोठी में रक्खे हुए बीज में सैंकड़ों वर्षों में भी अंकुरोत्पादन का सामर्थ्य नहीं देखा जाता अतएव कृषक खेत में बीज बोता है।[८८]

प्रश्न—क्या यह (समर्थ) बीज-क्षण अपनी सन्तान मात्र से (बिना किसी पृथ्वी आदि के सन्निधान के) उत्पन्न नहीं हो सकता ?

उत्तर—नहीं। (तथा चेत्=यदि वैसा ही है अर्थात् नहीं हो सकता)।

प्रश्न —तो कार्य-सम्पादन में अन्य सहकारी की अपेक्षा क्यों नहीं है ? (वह सहकारियों के योग से उत्पन्न होता है फिर कार्य करने में सहकारी की आवश्यकता क्यों नहीं ?)

उत्तर—ठीक है, यह अपनी उत्पत्ति के लिए सहकारियों की अपेक्षा रखता ही है, किन्तु अपने कार्य को करने के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखता। इस (समर्थ बीजक्षण) को अपने कार्य (अंकुरजनन) में ही निरपेक्ष हम कहते हैं, अपनी उत्पत्ति में नहीं।[८९]

---

८६. न वानपेक्षाणामपि प्रत्येकं कार्यान्तरारम्भणं तन्मात्रस्य तेभ्य उपलब्धेस्तत्रैव सामर्थ्यनियमात्। वही, पृ० ५५५।

८७. न च कृतकरणतयेतरेषामक्रिया सहक्रियायां कृतमित्यसम्भवात्। न च स्वकारणलब्धसन्निधयो भावाः प्रेक्षावन्तः शक्यमिदमस्मास्वेकेनापि कर्तुं कृतं नः सर्वेषां सन्निधानेनेत्यालोच्य निवर्तितुमीशते। वही, पृ० ५५५।

८८. किमयं कृषीवलोऽपि न प्रेक्षावान् यः कुसूलादपनीय बीजमावपति भूमौ परिकर्षितायाम् ? क्षित्यादिसहभाविन एवातिशयोत्पादपरम्परयाऽङ्कुरजननसामर्थ्यदर्शनात् बीजस्य, कुसूलस्थाद् वत्सरशतेनापि तददर्शनात् तत्रावपतीति चेत्। न्यायकणिका, पृ० १३४। न्या० वा० ता०, पृ० ५५६।

८९. अथ किमयं न स्वसन्तानमात्रप्रभवसमर्थो बीजक्षणः ? तथा चेत्—कथं सन्तानान्तरं सहकारि नापेक्षेत कार्यकरणे ? नन्वपेक्षत एव चैष स्वोत्पादे न स्वकार्ये तत्र चास्यानपेक्षत्वमुच्यते न तु स्वोत्पत्तौ। न्यायकणिका, पृ० १३४। न्या० वा० ता०, पृ० ५५६-५५७।

प्रश्न —इसकी उत्पत्ति के लिये भी इसकी सन्तान में विद्यमान पूर्व बीज-क्षण निरपेक्षरूप से समर्थ है ही। इसी प्रकार उस पहले बीज-क्षण की उत्पत्ति के लिए भी उसकी सन्तान में स्थित उससे पूर्व बीजक्षण स्वतन्त्र रूप से (निरपेक्ष) ही जागरूक है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व बीज-क्षण के अपने कार्य में निरपेक्ष भाव से समर्थ होने के कारण कोठार में बीज रक्खे हुए ही कृषक कृतार्थ हो जायेगा, इस कष्ट-साध्य कृषिकर्म की क्या आवश्यकता हैं।[९०]

उत्तर—यह ठीक नहीं; क्योंकि इस लोक में दो प्रकार का कार्य होता है—एक तो सहकारियों के द्वारा संस्कार-विशेष (अतिशय) की उत्पत्ति होते-होते परम्परा से उत्पन्न होता है और दूसरा सहकारी-कृत अतिशय की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न हो जाता है। इनमें (अंकुर की उत्पत्ति प्रथम प्रकार की है) अंकुर की उत्पत्ति अतिशय-विशेष की उत्पत्ति होते-होते दूसरों (सहकारियों) की अपेक्षा से होती है, किन्तु जो बीजक्षण में आदिम अतिशय उत्पन्न होता है वह तो सहकारियों द्वारा उत्पन्न किये हुए अतिशय-विशेष की अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न हो जाता है। यह दोनों प्रकार का कार्य बीजक्षण के द्वारा अपनी बीजसन्तति मात्र से ही नहीं हो सकता और पृथिवी आदि के क्षण-सन्तानों की अपेक्षा से ही अपने सन्तान में स्थित (बीजक्षण) भिन्न सन्तान के उपस्थित होने से (भिन्न-सन्तानवर्तित्वात्) कभी कार्य करता है (उसके न होने पर नहीं करता) इसीलिये कृषिकर्म की आवश्यकता है।[९१]

संक्षेप में भाव यह है कि एक बीजक्षण से दूसरा बीजक्षण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बीजक्षणों की परम्परा चलती रहती है। यही बीजक्षणों का प्रवाह बीज-सन्तान है। इसमें दूसरे बीजक्षण की उत्पत्ति तो अपनी सन्तानमात्र से होती रहती है, तथा उपसर्पण प्रत्यय के द्वारा सहकारी-समवधान मात्र से ही आदिम अतिशय उत्पन्न हो जाता है। उसके लिए सहकारियों द्वारा उत्पादित अतिशय-परम्परा की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु बीज से जो अंकुर पैदा होता है उसमें क्रम यह है कि मिट्टी जल आदि सहकारियों द्वारा अतिशय उत्पन्न होते-होते अन्त में समर्थ बीज की उत्पत्ति हो जाती है तब उस समर्थ बीज-क्षण से अंकुर की उत्पत्ति होती है। यदि ये सहकारी होते हैं तो अंकुर की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। इसी हेतु मिट्टी, जल आदि क्षणसन्तानों को भी अंकुर का कारण माना जाता है और बीज-सन्तान का क्षिति, जल आदि सन्तानों से समवधान करने के लिए कृषि-कर्म की आवश्यकता है ही। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में बतलाया है।[९२]

---

९०. ननूत्पत्तावप्यस्य स्वसन्तानवर्त्ती जागर्ति पूर्व एव निरपेक्षः क्षणः। एवं तस्य पूर्वः पूर्वः स्वसन्ततिपतित एवाऽनपेक्षो जागर्ति जनने इति कुसूलनिहितबीज एव स्यात् कृती कृषीबलः, कृतमस्य प्रेक्षावतः कृषिकर्मणा दुःखाकरेणेति। न्यायकणिका, पृ० १३४।

९१. यदि मन्येत द्विविधमिह कार्यम्। एकं सहकारिभिराहिताऽतिशयविशेषं परम्पराप्रसवधर्मकं, द्वितीयं तु सहकार्यतिशयनिरपेक्षजननम्। तत्राङ्कुरे आहितातिशयविशेषं पराऽपेक्षजन्म। आद्योऽतिशयस्तु सहकारिकृताऽतिशयपरम्परा-निरपेक्षोत्पादः। न चैतदुभयविधमपि कार्यं बीजस्य सन्तानमात्रादुत्पत्तुमर्हतीति क्षित्यादिसन्तानान्तराऽपेक्षमेव स्वसन्तानवर्त्तिभिन्नसन्तानवर्तित्वात् कादाचित्कं कार्यं करोतीति कल्पते कृषिकर्म। वही, पृ० १३४।

९२. ननु समानकुसूलजन्मसु बहुषु बीजसन्तानेषु कस्मात् किञ्चिदेव बीजं परम्परयाङ्कुरजननाऽनुगुणमुपजनयति बीजक्षणं नाऽन्ये बीजक्षणाः भिन्नसन्ताने पतिताः। न खलूपसर्पणप्रत्ययात

(iii) **सहकारी प्रत्यय और उपसर्पण प्रत्यय का अन्तर**—बौद्धमत में ये अन्य सन्तान (सन्तानान्तर) दो प्रकार के हैं—(१) सहकारी प्रत्यय और (२) उपसर्पण प्रत्यय। ये दोनों ही बीजसन्तति में सामर्थ्य को जगाने वाले हेतु हैं। इसी से अन्तिम बीजक्षण अर्थात् समर्थ बीजक्षण उत्पन्न होकर अंकुर की उत्पत्ति का कारण होता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपसर्पण प्रत्यय का अर्थ है—समीप लाने वाले कारण। यह कहा जा सकता है कि जो कारण कोठी में रक्खे हुए गेहूँ को मिट्टी, जल आदि के समीप लाते हैं, उपादान प्रत्यय (बीजादि) का सहकारी प्रत्यय (पृथिवी, जल आदि) से समवधान कराते हैं, वे उपसर्पण प्रत्यय कहलाते हैं। रत्नकीर्ति ने क्षणभङ्गसिद्धि में देवदत्तादि किसी व्यक्ति के उस हाथ आदि को उपसर्पण प्रत्यय कहा है जो बीज आदि को अपने समान सन्तानों से पृथक् करके उसमें आद्यातिशय का जनक होता है।[९३] उपसर्पण प्रत्यय के होने के पश्चात् बीजसन्तति में जो बीजक्षण उत्पन्न होता है वह कोठी में रक्खे हुए बीज की अपेक्षा एक विशेष संस्कार को लेकर उत्पन्न होता है वही आदिम अतिशय है—शक्ति-विशेष या संस्कार-विशेष है, जो अंकुर की उत्पत्ति को दृष्टि में रखकर आद्यातिशय कहा जाता है। इस प्रकार बीजक्षण में आदिम अतिशय को उत्पन्न करने वाले उपसर्पण प्रत्यय हैं।

जब बीज-सन्तान का पृथिवी आदि सन्तानों से समवधान हो जाता है तब जो बीजक्षण उत्पन्न होते हैं वे अतिशय-विशेष को लेकर ही उत्पन्न होते हैं। एक बीज क्षण के पश्चात् दूसरा बीजक्षण भी संस्कार-विशेष को लेकर होता है और अन्त में ऐसा एक बीजक्षण उत्पन्न हो जाता है जो अंकुरोत्पादन में समर्थ होता है। मोटे रूप में पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि के संयोग से फूला हुआ सा अंकुरोत्पादन के लिये उत्सुक सा जो बीजक्षण उत्पन्न हो जाता है वही समर्थ बीजक्षण है। यहाँ पृथिवी आदि सहकारी प्रत्यय कहे जाते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है यह बीजक्षण अपनी उत्पत्ति के लिए ही सहकारियों की अपेक्षा रखता है, अंकुर को उत्पन्न करने के लिए नहीं। उसमें तो यह स्वतः ही समर्थ है। ये उपसर्पण प्रत्यय तथा सहकारी प्रत्यय दोनों ही उपादान प्रत्यय में सामर्थ्य प्रबोध के हेतु हैं[९४] जैसा कि आचार्य वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट ही बतलाया है—

"कभी तो कार्य की उत्पत्ति में जो सहकारी कारण हैं वे ही अन्य सन्तान होते हैं जैसे अंकुर की उत्पत्ति में बीज के सहकारी कारण (मिट्टी आदि) सामर्थ्य को जगाने वाले हेतु हैं। और, कभी जो मिट्टी, जल आदि को मिलाने के कारण (मेलनहेतवः) हैं वे ही

प्राक् तेषां समानासमानसन्तानवर्तिनां कश्चित् परस्परातिशयो बीजक्षणानाम्। अथोपसर्पण-प्रत्ययात् प्राक् न तत्सन्तानवर्तिनो जनयन्ति परम्परयाप्यङ्कुरजननाऽनुगुणं बीजक्षणम्। बीजमात्रजननात्तु तेषां कस्यचिद्बीजक्षणस्योपसर्पणप्रत्ययसहभुव आद्यातिशयोत्पादः। वही, पृ० १३५।

९३. तथाह्युपसर्पणप्रत्ययेन देवदत्तकरपल्लवादिना सहचरो बीजक्षणः पूर्वस्मादेव पुञ्जात् समर्थो जातोऽनपेक्ष आद्यातिशयस्य जनक इष्यते। क्षणभङ्गसिद्धि, पृ० ४६ तथा—केषुचिदेव कर्मकरकरपल्लवसहचरेषु। वही, पृ० ४९। (पटना संस्करण, पृ० ७३ तथा ७५)

९४. सहकारी प्रत्यय तथा उपसर्पणप्रत्यय दो भिन्न २ प्रकार के कारण हैं। यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। प्रमाणवार्त्तिक १.२७ की मनोरथनन्दिवृत्ति से भी इसकी पुष्टि होती है। अतः डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने जो सहकारी प्रत्यय और उपसर्पण प्रत्यय को एक बतलाया है (Critique of Indian Realism, p. 194) वह प्रामाणिक नहीं। इसी प्रकार श्चेरबात्स्की ने जो समनन्तर प्रत्यय और उपसर्पण प्रत्यय को एक दिखलाया है (CCB., P. 90), वह भी युक्तिसंगत नहीं।

(बीज में) सामर्थ्य को जगाने के हेतु होते हैं, जैसे बीजों के आदिम संस्कार-विशेष (अतिशय) की उत्पत्ति में सामर्थ्य को जगाने वाले उपसर्पण प्रत्यय हैं। इस प्रकार यह विदित होता है कि बीज अन्य सन्तानों के समवधान से ही कार्यविशेष (अंकुर आदि) को उत्पन्न करता है, अन्य सन्तानों द्वारा उत्पादित अतिशयरूप सामर्थ्य की अपेक्षा के बिना कभी अंकुर का उत्पन्न करना, कभी न करना (कादाचित्कं) नहीं होता। ये दो प्रकार के सहकारी प्रत्यय तथा उपसर्पण प्रत्यय (बीज आदि उपादान प्रत्यय में) सामर्थ्य को जगाने वाले हेतु हैं।"[९५]

इस प्रकार बौद्ध दर्शन ने कार्य-कारण-भाव का व्यावहारिक दृष्टि से निरूपण किया है। यहाँ वस्तुवादियों के समान वास्तविक कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों की ओर से स्पष्ट ही कहा है—**'न वास्तवः कश्चित् कार्यकारण-भावो नामास्ति सम्बन्धः प्रतीत्यसमुत्पादमात्रं तत्।'**[९५क] यह प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है, इसका अग्रिम अनुच्छेद में निरूपण किया जायेगा।

९—प्रतीत्य-समुत्पाद का स्वरूप

प्रतीत्य-समुत्पाद बौद्ध दर्शन का सार है। बुद्ध भगवान् ने स्वयं ही कहा है—जो प्रतीत्य-समुत्पाद को देखता है, यह धर्म को देखता है जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्य-समुत्पाद को देखता है।[९६] यह प्रतीत्य-समुत्पाद अत्यन्त गम्भीर है। बौद्ध दर्शन का कार्य-कारणभाव, कारण तथा कार्य का विच्छिन्न प्रवाह, क्षणिकवाद और शून्यवाद आदि इसी प्रतीत्य-समुत्पाद में समा जाता है। इस संसार के मूल में यही नियम कार्य कर रहा है, जड़ और चेतन का नियामक तथा उत्पत्ति और विनाश का प्रदर्शक यह प्रतीत्य-समुत्पाद ही है। बौद्ध दर्शन में इसके अर्थ और स्वरूप का क्रमशः विकास हुआ है। वाचस्पति मिश्र ने कई स्थलों पर प्रतीत्य-समुत्पाद का विविध रूपों में उल्लेख किया है किन्तु उससे इसके विकासक्रम पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। प्रतीत्य-समुत्पाद के स्वरूप को दिखलाते हुए वे लिखते हैं—

संक्षेपतो हि प्रतीत्यसमुत्पादलक्षणमुक्तं बुद्धेन 'इदं प्रत्ययफलम्' इति। 'उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्द्वा स्थितैषा धर्माणां धर्मता'। "धर्मस्थितिता धर्मनियामकता प्रतीत्य-समुत्पादानुलोमता" इति। भामती, पृ० ५२६।

"संक्षेप में प्रतीत्यसमुत्पाद का लक्षण बुद्ध ने (यह) किया है—'यह (कार्य) कारण समुदाय (प्रत्यय) का फल है।' 'बुद्ध के मत में कार्य और कारण (धर्माणाम्) का कार्य-कारणभाव सम्बन्ध (धर्मता) उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति से नियत किया गया है।' 'कार्य (धर्म) की कारण के नियम से उत्पत्ति होती है (स्थितता) और कारण (धर्म) में कार्य के प्रति नियामकता होती है।' कारण को प्राप्त करके (प्रतीत्य) जो (कार्य द्वारा) उत्पत्ति का अनुसरण किया जाता है (समुत्पादानुलोमता) वही कारण-कार्य-सम्बन्ध है (धर्मता)।"

९५. सन्तानान्तराणि तु कादाचित्ककार्योत्पत्तौ ये सहकारिप्रत्ययाः त एव तथा यथाङ्कुरोत्पत्तौ सहकारिणो बीजस्य सामर्थ्यप्रबोधहेतवः कदा चित्त्वेषां क्षित्यादीनां ये मेलनहेतवस्त एव सामर्थ्याऽवबोधहेतवो भवन्ति तथा बीजानामाद्याऽतिशयोत्पादने सामर्थ्यप्रबोधहेतव उप-सर्पणप्रत्ययाः। सर्वथा सन्तानान्तरैरनाहिताऽतिशयसामर्थ्यं न बीजं कार्यविशेषं कादाचित्कं करोति। सामर्थ्यप्रबोधहेतवश्च द्वये सहकारिप्रत्यया उपसर्पणप्रत्ययाश्चेति। न्यायकणिका, पृ० १३४-१३५।

९५क. न्या० वा० ता०, पृ० ३८७।

९६. मज्झिमनिकाय, १.३.८।

यहाँ वाचस्पति मिश्र ने बुद्ध-सूत्रों के अनुसार प्रतीत्य-समुत्पाद की व्याख्या की है। आगे चलकर बौद्ध दर्शन में प्रतीत्य-समुत्पाद का स्वरूप विकसित हो गया था, जैसा कि आगे दिखलाया जायेगा। प्रतीत्य-समुत्पाद शब्द का अर्थ है—कारणों के होने पर (प्रतीत्य) कार्यों की उत्पत्ति (समुत्पाद)। जिसे श्चेरबात्स्की ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"कुछ धर्मों की अन्य धर्मों की अपेक्षा से सामूहिक उत्पत्ति ही प्रतीत्य-समुत्पाद है।"[९७] प्रत्यय शब्द कारण का समानार्थक सा प्रतीत होता है।"[९८] किन्तु बौद्ध दर्शन में प्रत्यय शब्द का वही अर्थ नहीं है जो कि न्याय आदि दर्शन में कारण शब्द से लिया जाता है। असल में प्रत्यय शब्द बौद्ध दर्शन में कारण-समुदाय अर्थ को प्रकट करने वाला है, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—**प्रत्ययो हेतूनां समवायः। हेतुं हेतुं प्रत्ययन्ते हेत्वन्तराणि इति, तेषामयमानानां भावः प्रत्ययः। समवाय इति यावत्। भामती, पृ० ५२६।** "हेतुओं का समुदाय ही प्रत्यय है। जो एक २ हेतु की ओर अन्य हेतु गमन करते हैं, उन गमन करने वाले हेतुओं का भाव ही प्रत्यय है; अर्थात् समुदाय।"

बौद्ध दर्शन के अनुसार समुदाय या सामग्री ही कारण है, यह कहा जा चुका है। धर्म शब्द बौद्ध दर्शन में तत्त्व (element) का समानार्थक है। जैसा कि श्चैरबात्स्की ने लिखा है—"बौद्धों का तत्त्व एक सर्वथा भिन्न इकाई है, यह न तो समुदाय मात्र (यौगिक Compound) है, न ही एक द्रव्य (Phenomenon) है। किन्तु एक ऐसा तत्त्व है जिसे 'बौद्ध दर्शन 'धर्म' कहता है।"[९९] ऊपर उद्धृत सूत्रों में कार्य तथा कारण दोनों के लिये "धर्म शब्द" का प्रयोग किया गया है; जैसा कि भामती की टीका वेदान्तकल्पतरु में स्पष्ट किया गया है—'धर्माणां कार्याणां कारणानां च; अर्थात् धर्मों की=कार्यों की तथा कारणों की। इन धर्मों की धर्मता अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से निश्चित होती है। जिसके होने पर ही जो होता है और न होने पर नहीं उत्पन्न होता वही कारण कहा जाता है। जो कार्यों का नियामक है वही कारण है और जो कारण द्वारा नियम्य है वही कार्य है। इस प्रकार कारणों के होने पर कार्य की उत्पत्ति होना; कारण और कार्य का पूर्वापर नियम ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। जैसा कि वसुबन्धु ने भी कहा है—'अस्मिन् सति इदं भवति'[१००]—'इस वस्तु के होने पर यह होता है' इस प्रकार का कारणकार्यभाव ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। साथ ही वसुबन्धु ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'संस्कृत और 'प्रतीत्य-समुत्पन्न' दोनों समानार्थक हैं—"संस्कृतत्व और प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व (अर्थात् संस्कार और प्रतीत्य-समुत्पाद) ये दोनों पर्याय हैं। संस्कृत का अर्थ है—कारणों के द्वारा एकत्र होकर किया गया तथा प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व का अर्थ है—भिन्न-भिन्न (तं तं उस उस, विविध) कारणों के प्राप्त होने पर (प्रतीत्य) उत्पन्न होना—।[१०१] किन्तु इस समानता का उल्लेख वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हो सका है।

---

९७. The combined origination (*Sam-utpāda*) of some elements with regard (*Pratitya*) to other elements. CCB., pp. 23-24.

९८. प्रत्ययः कारणम्। न्या० वा० ता०, पृ० २९८ पं० ५।

९९. मि०: CCB., p. 26.

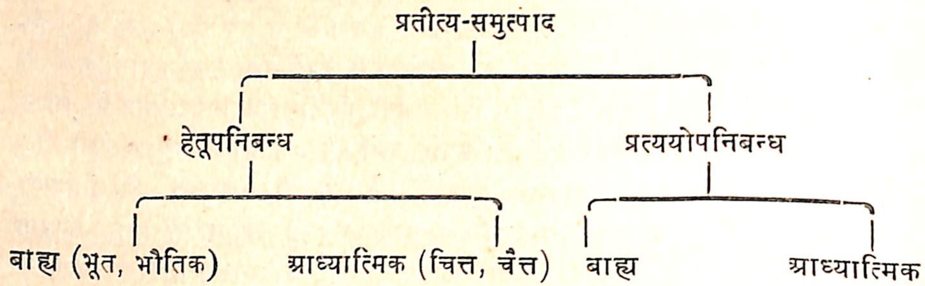
१००. अभि०, ३. १८ तथा २४, उद्धृत CCB., p. 24.

१०१. अभि०, २.४५, उद्धृत CCB., p. 24, fn. 84.

१०. बुद्ध-सूत्रों के अनुसार प्रतीत्य-समुत्पाद के भेद

प्रतीत्य-समुत्पाद का विस्तृत विवेचन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के अनुसार इसके भेद तथा प्रभेदों का उल्लेख किया है—**अथ पुनरयं प्रतीत्यसमुत्पादो द्वाभ्याँ कारणाभ्यां भवति हेतूपनिबन्धतश्च प्रत्ययोपनिबन्धतश्च। स पुनर्द्विविधो बाह्य आध्यात्मिकश्च। भामती, पृ० ५२६।** "अर्थात् यह प्रतीत्य-समुत्पाद दो कारणों से होता है—(१) हेतूपनिबन्ध से (२) प्रत्ययोपनिबन्ध से। फिर भी यह दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य, (२) आध्यात्मिक।"

पहले इसके दो भेद किये जाते हैं (१) हेतूपनिबन्ध (२) प्रत्ययोपनिबन्ध। जहाँ एक २ कारण की दृष्टि से कार्यकारणभाव का विचार किया जाता है, वहाँ हेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद है तथा जहाँ कारण-समुदाय की दृष्टि से कार्यकारणभाव का विचार किया जाता है वहाँ प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्य-समुत्पाद है।[१०२] ये दोनों प्रकार के कार्यकारणभाव बाह्य (भूत, भौतिक) और आध्यात्मिक (चित्त-चैत्त) सभी वस्तुओं पर लागू होते हैं। इसी हेतु दोनों (हेतूपनिबन्ध तथा प्रत्ययोपनिबन्ध) दो दो प्रकार के हो जाते हैं; जैसे—



बाह्य और आध्यात्मिक सभी पदार्थों पर प्रतीत्य-समुत्पाद लागू होता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रतीत्य-समुत्पाद के चक्र से कोई भी वस्तु नहीं बचती। जैसा कि आगे वर्णन किया जायेगा,[१०३] वस्तुवादियों का कूटस्थ नित्य आत्मा भी एक विज्ञानों का प्रवाह मात्र रह जाता है। बुद्ध ने स्वयं ही कहा है—"यह पाँच उपादान स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं।[१०४]"

बाह्य वस्तुओं में हेतूपनिबन्ध प्रतीत्य-समुत्पाद को दिखलाते हुए कहा गया है—"जो यह बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुर से पत्ता, पत्ते से तना (काण्ड), तने से नाल, नाल से गर्भ, गर्भ से (शूक) शूक से पुष्प और पुष्प से फल होता है। यहाँ बीज के न होने पर अंकुर नहीं होता। इसी प्रकार पुष्पपर्यन्त के न होने पर फल नहीं होता। बीज के होने पर ही अंकुर होता है तथा पुष्पपर्यन्त के होने पर ही फल होता है। वहाँ बीज को यह

---

१०२. हेतोरेकस्य कार्येणोपनिबन्धस्तथोक्तः। प्रत्ययानां मिलितानां नानाकारणानां कार्येणोपनिबन्धस्तथाऽभिहितः। वेदान्तकल्पतरु, ५२६। वस्तुतः यहां हेतूपनिबन्ध तथा प्रत्ययोपनिबन्ध दोनों प्रकार के प्रतीत्य-समुत्पाद का स्वरूप अधिक स्पष्ट नहीं।

१०३. आगे, परि० १० अनु० १।

१०४. मज्झिमनिकाय, १·३८। मि०, राहुल सां, बौद्धदर्शन, पृ० ३४।

ज्ञान नहीं होता कि मैं अंकुर को उत्पन्न करता हूँ। अंकुर को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं बीज के द्वारा उत्पन्न किया गया हूँ। इसी प्रकार पुष्पपर्यन्त को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं फल को उत्पन्न करता हूँ तथा फल को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं पुष्प के द्वारा उत्पन्न किया गया हूँ। इसलिये बीज आदि में चेतना न होते हुए भी और उनका कोई अन्य अधिष्ठाता न होते हुए भी कार्यकारणभाव का नियम देखा जाता है।"[१०५]

यहाँ उदाहरण के द्वारा दो बातें स्पष्ट की गई हैं। एक तो कारण के होने पर ही कार्य होता है—हेतु के निमित्त से (हेतूपनिबन्धतः) ही कार्य की उत्पत्ति होती है। बिना हेतु के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार कारण और कार्य का अन्वय-व्यतिरेक है। यह प्रतीत्य-समुत्पाद का एक अंग है। दूसरी बात यह है कि कार्य की उत्पत्ति के लिये कारण का होना अनिवार्य है उसके लिये किसी चेतन नियन्ता या संचालक की आवश्यकता नहीं है। इस कार्यकारणभाव में चेतना का कोई उपयोग दृष्टिगोचर नहीं होता; क्योंकि चेतनता बीज आदि में मानी जाए या इनका अधिष्ठाता कोई अन्य चेतन माना जाए। दोनों प्रकार की चेतनता के लिये कोई प्रमाण नहीं। जो बीज आदि कारण किसी कार्य को उत्पन्न करते हैं, वे यह सोचते नहीं कि हम अमुक कार्य को उत्पन्न कर रहे हैं और न कार्य (फल आदि) ही यह सोचते हैं कि हम अमुक कारण से उत्पन्न हो रहे हैं। अतएव कारण या कार्य में तो चेतनता का कोई चिह्न है नहीं। इसके अतिरिक्त कोई अन्य चेतन वहाँ कार्य का संचालन करता नहीं दिखलाई देता। अतः कारण के उपस्थित हो जाने पर कार्य हो जाता है और कार्य के उत्पादन के लिये किसी चेतन की आवश्यकता नहीं। यह भी प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक अङ्ग हैं।

बाह्य प्रत्ययोपनिबन्ध की व्याख्या करते हुए कहा गया है—"हेतुनिबन्ध कहा गया अब प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रत्ययोपनिबन्ध कहा जाता है। हेतुओं का समुदाय (ही) प्रत्यय है... जैसे ६ धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा ऋतु) के योग से बीजहेतुक अंकुर उत्पन्न होता है। इसमें पृथ्वी धातु बीज में संग्रह कार्य करती है जिससे अंकुर कठिन हो जाता है। जल धातु बीज को स्निग्ध करती है (उसे फुलाती है)। ताप (तेज धातु) बीज का परिपाक करता है (अवयव विकास करता है)। वायु धातु बीज को प्रेरणा देती है (अभिनिर्हरति) जिससे अंकुर बीज से निकल आता है। आकाश धातु बीज को अवकाश देती है और ऋतु बीज की परिणति करती है (अर्थात् ऋतु के अनुसार बीज परिणामोन्मुख होता है)। इन सभी धातुओं के अविकलरूप से मिलने पर तथा बीज के उगने पर अंकुर उत्पन्न होता है, इनके बिना नहीं। यहाँ पृथ्वी धातु को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं बीज में संग्रह कार्य कर रही हूँ। ऋतुपर्यन्त को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं बीज की परिणति करती

---

१०५. तत्र बाह्यस्य प्रतीत्य-समुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः—यदिदं बीजादङ्कुरोऽङ्कुरात् पत्रं पत्रात्काण्डं काण्डान्नालो नालाद् गर्भो गर्भाच्छूकः शूकात्पुष्पं पुष्पात् फलमिति। असति बीजेऽङ्कुरो न भवति, यावदसति पुष्पे फलं न भवति। सति तु बीजेऽङ्कुरो भवति, यावत्पुष्पे सति फलमिति। तत्र बीजस्य नैवं भवति ज्ञानमहमङ्कुरं निर्वर्तयामि, इति। अङ्कुरस्यापि नैवं भवति ज्ञानमहं बीजेन निर्वर्तित इति। एवं यावत्पुष्पस्य नैवं भवत्यहं फलं निर्वर्तयामीति। एवं फलस्यापि नैवं भवत्यहं पुष्पेणाभिनिर्वर्तितमिति। तस्मादसत्यपि चैतन्ये बीजादीनामसत्यपि चान्यस्मिन्नधिष्ठातरि कार्यकारणभावनियमो दृश्यते। भामती, पृ० ५२६।

हूँ। अंकुर को भी यह (भान) नहीं होता कि मैं इन कारणों के द्वारा उत्पन्न किया गया हूं।"[१०६]

बाह्य पदार्थों—भूत भौतिक पदार्थों—की उत्पत्ति में ही यह प्रतीत्यसमुत्पाद अपना कार्य नहीं करता अपि तु शरीर और विज्ञान (आध्यात्मिक) सभी इसके अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं। आध्यात्मिक रूप में इसका प्रयोग निम्न प्रकार से दिखलाया गया है:— "आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद भी दो कारणों से होता है—हेतूपनिबन्ध से और प्रत्ययोपनिबन्ध से। इसका हेतूपनिबन्ध यह है—जो ये अविद्या के कारण से संस्कार (उत्पन्न) होते हैं (संस्कार से विज्ञान और इसी प्रकार जातिपर्यन्त उत्पन्न हो जाते हैं) तथा जातिपर्यन्त के कारण जरा-मरण आदि होते हैं। यदि अविद्या न होती तो संस्कार न उत्पन्न होते। इसी प्रकार जाति (जन्म) पर्यन्त न होते। यदि जन्म न होता तो जरा-मरण आदि न होते। यहाँ (इस उत्पत्ति क्रम में) अविद्या को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं संस्कारों को उत्पन्न करती हूं। संस्कारों को भी यह नहीं होता कि हम अविद्या द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। इसी प्रकार जन्मपर्यन्त (में से किसी) को यह नहीं होता कि मैं जरा-मरण आदि को उत्पन्न करता हूँ। जरा-मरण आदि को भी यह नहीं होता कि हम जन्म आदि के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। अतः अविद्या आदि के स्वयं चेतन न होते हुए भी तथा किसी अन्य चेतन के अधिष्ठातृत्व के बिना ही संस्कार आदि की इसी प्रकार उत्पत्ति हो जाती है जैसे अचेतन बीज आदि के होने पर अन्य चेतन के नियन्त्रण के बिना ही अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है। (असल में तो) अपने (कारण) को प्राप्त करके यह (कार्य) उत्पन्न हो जाता है इतना ही देखा जाता है, क्योंकि चेतन के नियन्तृत्व की उपलब्धि नहीं होती। यह आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद का हेतूपनिबन्ध है।"[१०७]

अविद्या से लेकर जरा-मरण पर्यन्त संचारचक्र के द्वादश अरे हैं। यह द्वादश अरों वाला संसारचक्र प्रतीत्यसमुत्पाद नामक कार्यकारणभाव के नियमानुसार ही चलता रहता है।

---

१०६. उक्तो हेतूपनिबन्धः। प्रत्ययोपनिबन्धः प्रतीत्यसमुत्पादस्योच्यते। प्रत्ययो हेतूनां समवायः...। यथा षण्णां धातूनां समवायाद् बीजहेतुरङ्कुरो जायते। तत्र च पृथिवीधातुर्बीजस्य संग्रहकृत्यं करोति यतोऽङ्कुरः कठिनो भवति, अब्धातुर्बीजं स्नेहयति, तेजोधातुर्बीजं परिपाचयति, वायुधातुर्बीजमभिनिर्हरति यतोऽङ्कुरो बीजान्निर्गच्छति, आकाशधातुर्बीजस्य अनावरणकृत्यं करोति, ऋतुरपि बीजस्य परिणामं करोति, तदेतेषामविकलानां धातूनां समवाये बीजे रोहत्यङ्कुरो जायते नान्यथा। तत्र पृथिवीधातोर्नैवं भवत्यहं बीजस्य संग्रहकृत्यं करोमीति। यावदृतोर्नैवं भवत्यहं बीजस्य परिणामं करोमीति अङ्कुरस्यापि नैवं भवत्यहमेभिः प्रत्ययैर्निर्वर्तित इति। वही, पृ० ५२६-५२७।

१०७. तथाध्यात्मिकः प्रतीत्यसमुत्पादो द्वाभ्यां कारणाभ्यां भवति हेतूनिबन्धतश्च प्रत्ययोपनिबन्धतश्च। तत्रास्य हेतूपनिबन्धः—यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्कारा यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणादीति। अविद्या चेन्नाभविष्यन्नैव संस्कारा अजनिष्यन्त। एवं यावज्जातिः। जातिश्चेन्नाभविष्यन्नैव जरामरणादय उदपत्स्यन्त। तत्राविद्यायाः नैवं भवत्यहं संस्कारानभिनिर्वर्तयामीति। संस्काराणामपि नैवं भवति वयमविद्यया निर्वर्तिता इति। एवं यावज्जात्या अपि नैवं भवत्यहंजरामरणाद्यभिनिर्वर्तयामीति। जरामरणादीनामपि नैवं भवति वयं जात्यादिभिर्निर्वर्तिता इति। अथ च सत्स्वविद्यादिषु चेतनान्तरानधिष्ठितेष्वपि संस्कारादीनामुत्पत्तिः, बीजादिष्विव सत्स्वचेतनेषु चेतनान्तरानधिष्ठितेष्वप्यङ्कुरादीनाम् इदं प्रतीत्य प्राप्येदमुत्पद्यत इत्येतावन्मात्रस्य दृष्टत्वाच्चेतनाधिष्ठानस्यानुपलब्धेः। सोऽयमाध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः। वही, पृ० ५२७।

किसी चेतन (आत्मा, ईश्वर आदि) अविष्ठाता की यहां कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। अविद्या आदि के होने पर संस्कार आदि की उत्पत्ति हो जाती है उनके न होने पर नहीं होती। इससे यह स्पष्ट ही है कि अविद्या आदि ही संस्कार आदि का कारण हैं, अन्य कोई चेतन आदि इसके नियामक नहीं। यह संसारचक्र अनादिकाल से इसी प्रकार चला आ रहा है। जैसे बाह्य जगत् में देखा जाता है कि बीज आदि के होने पर अंकुर आदि उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार अविद्या आदि से संस्कार आदि की उत्पत्ति हो जाती है, कोई चेतन इसमें कुछ नहीं करता। प्रतीत्य-समुत्पाद की महिमा ही ऐसी है जो लोक विदित है। "अमुक कारण के होने पर अमुक कार्य की उत्पत्ति होती है" यह बात लोक प्रसिद्ध ही है। कहना न होगा कि ईश्वरवादियों के समान किसी कर्मफल के नियामक या सृष्टि आदि के संचालक की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। भौतिक और मानसिक सभी वस्तुओं में कारणों के होने पर स्वयं ही कार्योत्पत्ति होती देखी जाती है फिर किसी स्थिर चेतना की कल्पना को स्थान कहाँ है?

इस शरीर का निर्माण भी प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमानुसार हो हो जाता है:—"अब (आध्यात्मिक) प्रत्ययोपनिबन्ध बतलाते हैं—पृथिवी, जल तेज, वायु, आकाश तथा विज्ञान धातुओं के समवाय से काया की उत्पत्ति होती है। वहाँ पृथिवी धातु काया के काठिन्य को उत्पन्न करती हैं, जल काया को स्निग्ध करता है, तेज धातु भुक्त-पीत वस्तु का परिपाक करती है, वायु धातु शरीर में श्वास आदि क्रिया कराती है और आकाश धातु शरीर के भीतर अवकाश उत्पन्न करती है। विज्ञान धातु वह कही जाती है जो नाम-रूप के अंकुर अर्थात् कलल आदि रूप शरीर को उत्पन्न करती है तथा इन्द्रियों के पांचों विज्ञानों से युक्त एवं कर्मसहित (सास्रवं) मनोविज्ञान को उत्पन्न करती हैं। जब आध्यात्मिक पृथिवी आदि धातुएं अविकल रूप से उपस्थित हो जाती हैं तब सब धातुओं के समवाय से काया की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ पृथिवी आदि धातु को यह (ज्ञान) नहीं होता कि हम शरीर के काठिन्य आदि का सम्पादन कर रहें हैं। काया को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं इन कारणों द्वारा उत्पन्न हुई हूँ। तो भी पृथिवी आदि अचेतन धातुओं से किसी अन्य चेतन के अधिष्ठान के बिना ही इसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति हो जाती है जिस प्रकार बीज से अंकुर की। यह प्रतीत्यसमुत्पाद सभी को दृष्टिगत होता है अतः इसे अन्यथा नहीं कहना चाहिये।"[१०८]

अभिप्राय यह है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार काया की उत्पति में भी किसी परमात्मा आदि का हाथ नहीं। जिस प्रकार कारण-सामग्री से अंकुर आदि की उत्पति होती है उसी प्रकार कारण-समवाय से ही शरीर की उत्पत्ति हो जाती है।

---

१०८. अथ प्रत्ययोपनिबन्धः—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशविज्ञानधातूनां समवायाद् भवति कायः। तत्र कायस्य पृथिवीधातुः काठिन्यं निर्वर्तयति। अब्धातुः स्नेहयति कायम्। तेजोधातुः कायस्याशितपीते परिपाचयति। वायुधातुः कायस्य श्वासादि करोति। आकाशधातुः कायस्यान्तः सुषिरभावं करोति। यस्तु नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति पञ्चविज्ञानकायसंयुक्तं सास्रवं च मनोविज्ञानं, सोऽयमुच्यते विज्ञानधातुः। यदा ह्याध्यात्मिकाः पृथिव्यादिधातवो भवन्त्यविकलास्तदा सर्वेषां समवायाद् भवति कायस्योत्पत्तिः। तत्र पृथिव्यादिधातूनां नैवं भवति वयं कायस्य काठिन्यादि निर्वर्तयाम इति। कायस्यापि नैवं भवति ज्ञानमहमेभिः प्रत्ययैरभिनिर्वर्तित इति। अथ च पृथिव्यादिधातुभ्योऽचेतनेभ्यश्चेतनान्तरानधिष्ठितेभ्योऽङ्कुरस्येव कायस्योत्पत्तिः। सोऽयं प्रतीत्यसमुत्पादो दृष्टत्वान्नान्यथयितव्यः। वही, पृ० ५२७।

११—प्रतीत्यसमुत्पाद में कारणसामग्री का एकत्रीकरण

प्रश्न यह होता है कि यदि यह भी मान लिया जाये कि कारण होने पर कार्य स्वयं ही हो जाता है; कार्य के उत्पादन में किसी चेतन का कोई योग नहीं होता तो भी पृथिवी आदि कारणों को एकत्रित करने वाला तो कोई चेतन होना ही चाहिये। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने लिखा है "चेतन कुम्भकार आदि मिट्टी दण्ड आदि सामग्री को एकत्रित करके समुदाय रूप घट की रचना करते हुए देखा जाता है। मृत्तिका, दण्ड आदि से कार्य करने वाले तथा उनके प्रयोग को जानने वाले कुम्हार के न होने पर स्वयं अचेतन मिट्टी दण्ड आदि तो घट की रचना करते नहीं। इसी प्रकार जुलाहे के न होने पर तन्तु, वेम आदि स्वयं ही कपड़ा नहीं बना देते। इसीलिये कार्य की उत्पत्ति उसके कारणों के मिलने (कारणसमवधान) के अधीन है उसके बिना हो नहीं सकती और कार्य की उत्पत्ति के लिये जो कारणों का समवधान है वह चेतन की बुद्धि के अधीन है, चेतन की बुद्धि के बिना कारणों का एकत्रीकरण या मिलन नहीं हो सकता।"[१०९]

"यदि कहो कि बीज से अंकुर की उत्पत्ति के समान पृथिवी आदि से काया की उत्पत्ति हो जाती है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बीज से अंकुर की उत्पत्ति भी विवाद का विषय ही है अतः वह भी पक्ष के अन्तर्गत ही है।"[११०]

इस का उत्तर देते हुए बौद्ध दर्शन की ओर से कहा जाता है—**तेऽमी परस्परहेतुकाः जन्मादिहेतुका अविद्यादयो, अविद्यादिहेतुकाश्च जन्मादयो घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानाः सन्तीति तदेतैरविद्यादिभिराक्षिप्तः संघात इति। भामती, पृ० ५२८।** "ये (अविद्या आदि) एक दूसरे से उत्पन्न होने वाले हैं, जैसे—जन्म आदि के द्वारा अविद्या आदि उत्पन्न होते हैं तथा अविद्या आदि के द्वारा जन्म आदि की उत्पत्ति होती है। (इनका कहीं आदि अन्त नहीं कहा जा सकता) ये घटीयन्त्र के समान निरन्तर (एक के पश्चात् दूसरा) आवृत्त होते रहते हैं। इनका समुदाय भी इन अविद्या आदि के द्वारा ही उत्पन्न हो जाता है।"

इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—**अस्थिरा अपि भावाः सदा संहता एवोदयन्ते-व्ययन्ते च न पुनरितस्ततोऽवस्थिताः केनचित् पुञ्जीक्रियन्ते। तथा च कृतमत्र संहन्त्रा चेतनेन इति भावः। भामती, पृ० ५३०।**

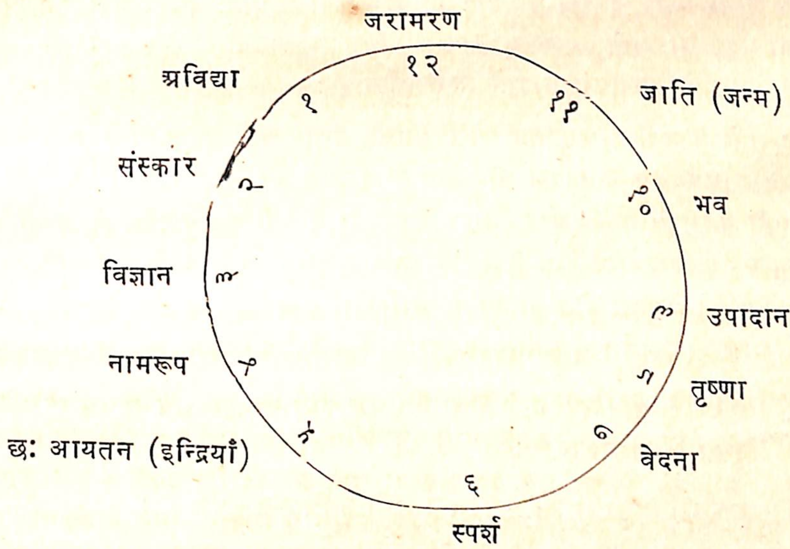
"क्षणिक पदार्थ भी सदा समुदाय रूप में ही प्रकट होते हैं तथा विलीन हो जाते हैं, वे इधर उधर पड़े हुए किसी (चेतन) के द्वारा एकत्रित नहीं किये जाते अतएव किसी संघात करने वाले चेतन की क्या आवश्यकता है, यह भाव है।"

---

१०९. चेतनो हि कुलालादिः सर्वं मृद्दण्डाद्युपसंहृत्य समुदायात्मकं घटमारचयन् दृष्टः। नह्यसति मृद्दण्डादिव्यापारिणि विदुषि कुलाले स्वयमचेतना मृद्दण्डादयो व्यापृत्य जातु घटमारचयन्ति। न चासति कुविन्दे तन्तुवेमादयः पटं वयन्ते। तस्मात् कार्योत्पादस्तदनुगुणकारणसमवधानाधीनस्तदभावे न भवति। कार्योत्पादानुगुणं च कारणसमवधानं चेतनप्रेक्षाधीनमसत्यां चेतनप्रेक्षायां न भवितुमुत्सहत इति। वही, पृ० ५२४-५२५।

११०. बीजादङ्कुरोत्पत्तेरपि प्रत्ययोपनिबद्धाया विवादाध्यासितत्वेन पक्षनिक्षिप्तत्वात्। वही, पृ० ५२८।

इस प्रकार कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारणसमुदाय भी भूत-भौतिक या चित्त-चैत्तिक विविध कारणों से ही हो जाता है। यह कारणपरम्परा अनादि काल से चली आ रही है। अतः बिना चेतन के कैसे हो जाता है? कारणों का समवधान कौन करता है? इस प्रकार के प्रश्नों का स्थान ही नहीं है। बीज आदि से अंकुर की उत्पत्ति में जैसे कारणों का समवधान होता है और कार्य की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार शरीर आदि तथा जन्म आदि की उत्पत्ति में भी समझा जा सकता है। बीज आदि से अंकुर का उत्पादन करता हुआ कोई चेतन प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता फिर शरीर आदि की उत्पत्ति में भी चेतन का क्या योग हो सकता है? वास्तव में तो संसार-चक्र को चलाने वाला यही १२ अङ्गों वाला प्रतीत्य-समुत्पाद है :—



१२—निष्कर्ष

भाव यह है कि बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद के अनुसार ही यहाँ कार्य-कारण-भाव की कल्पना की गई है जिसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहा जाता है। कारण और कार्य का अविच्छिन्न प्रवाह नहीं, अपितु एक विच्छिन्न परम्परा है। कारण का कार्य में अन्वय नहीं होता, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।[१११] कारण नष्ट हो जाता है और कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। न्यायवार्त्तिक के "कारण को प्राप्त करके (प्रतीत्य) कार्य की उत्पत्ति होती है" इस कथन की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है— **प्रतीत्य पूर्वभावं विकृत्य इत्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० ३६७।** प्रतीत्य का अर्थ है पूर्वपदार्थ (कारण) को विकृत करके।"

कारण, कार्य के इस विच्छिन्न प्रवाह को बुद्ध भगवान् ने "दूसरा ही उत्पन्न होता है दूसरा ही नष्ट होता है।"[११२] इन शब्दों में कहा था। आगे चलकर इसी से शून्यवाद का जन्म हुआ। वाचस्पति मिश्र के विवेचन में प्रतीत्यसमुत्पाद का यह इतिहास झलक रहा

---

१११. ऊपर, परि० ८ अनु ७ (ii)।

११२. संयुक्तनिकाय १२.७। मि०, राहुल सां०; बौद्धदर्शन, पृ० ३३।

है, किन्तु उसका स्पष्ट स्वरूप यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। 'प्रत्ययः कारणम्' (न्या० वा० ता०, पृ० २९८) से यही विदित होता है कि 'प्रतीत्य' का अर्थ है—कारणों के होने पर (कारणं प्राप्य)। यही प्रतीत्य-समुत्पाद का प्रारम्भिक अर्थ रहा होगा। सम्भवतः विकसित होते होते 'प्रतीत्य' का अर्थ 'विकृत्य' हो गया तथा न्यायसूत्रकार गोतम ने "नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्"[११३] में जिस मत की ओर संकेत किया है वही स्पष्ट रूप से प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ माना जाने लगा; अर्थात् अभाव या शून्य से उत्पत्ति→कारण के नष्ट होने पर कार्योत्पत्ति→कारण और कार्य का विच्छिन्न प्रवाह→क्षणिकता। जैसा कि नागार्जुन (१.५) ने कहा है—"यहाँ जो कारणों के (नष्ट) होने पर वस्तुओं की उत्पत्ति (प्रतीत्य भावानां भावः) है वह शून्यता ही है।"[११४]

इस प्रकार जिस प्रतीत्य-समुत्पाद को बौद्ध-सूत्रों में प्रायः संसार-चक्र पर लागू कर के दिखलाया गया था, आगे चलकर उसकी विविध व्याख्याएँ हुईं। संक्षेप में प्रतीत्य-समुत्पाद के विषय में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं :—

बुद्ध-सूत्रों में प्रतीत्य-समुत्पाद को विशेषकर संसार-चक्र पर लागू करके दिखलाया गया है, किन्तु सामान्यरूप से कारण और कार्य के सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये भी; जैसा कि श्चेरबात्स्की ने लिखा है—"लोक-विश्रुत बुद्ध-सूत्रों में प्रतीत्य-समुत्पाद को प्रायेण जीवन चक्र पर लागू करके दिखलाया गया है यद्यपि इसका सामान्य अर्थ (कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है) प्रत्येक बौद्ध के मन में उपस्थित रहता है।"[११५] वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में प्रतीत्य-समुत्पाद से ये अर्थ प्रस्फुटित होते हैं:—

(क) कारण के होने पर कार्य होता है। यह कार्य-कारण-भाव अन्वय-व्यतिरेक से नियत किया जाता है।

(ख) भूत-भौतिक तथा चित्त-चैत्तिक सभी प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं।

(ग) प्रतीत्य-समुत्पाद को मान लेने पर किसी चेतन (नित्य आत्मा या नियामक परमेश्वर) के मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

(घ) द्वादशाङ्ग प्रतीत्य-समुत्पाद से ही संसार-चक्र निरन्तर चलता रहता है।

आगे चलकर इस प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ विकसित हुआ—इसे कारण और कार्य के विच्छिन्न प्रवाह के रूप में माना गया तथा नागार्जुन ने इससे 'शून्यवाद' का भाव ग्रहण किया।

———

११३. न्यायसूत्र, ४.१.१४।

११४. इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता। नागार्जुन, विग्रह०, का० २२।

११५. CCB., p. 25 L. 1–3.

परिच्छेद ९

बौद्ध दर्शन का अपोहवाद

१. बाह्यार्थवादियों का सामान्य या जाति

न्याय-वैशेषिक आदि बाह्यार्थवादी दर्शन सामान्य नाम का एक पदार्थ स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि अनेक वर्तमान घटों के लिये तथा भूत एवं भविष्य के घटों के लिये भी 'घट' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उन सब में 'यह घट है' इस प्रकार की समान प्रतीति भी होती है। इस समान प्रतीति का कोई कारण मानना चाहिये। अतः इन समस्त घटों में कोई ऐसा समान धर्म है जिसके कारण सभी वस्तुओं में समानता की प्रतीति तथा व्यवहार होता है। यही समान धर्म सामान्य (समानानां भावः सामान्यम्) कहलाता है। इस सामान्य को 'जाति' नाम से भी पुकारा जाता है।

सामान्य अनेक वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहती है तथा नित्य है।[1] न्याय-वैशेषिक ने जिस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म आदि की सत्ता को बाह्य जगत् में माना है इसी प्रकार सामान्य को भी एक बाह्य पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। न्याय-वैशेषिक यथार्थवादी है। वह प्रमाणों के अनुसार वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करने का पक्षपाती है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—**'संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'**। न्या० वा० ता०, पृ० ३९९। "अर्थात् वस्तु को स्वीकार करने में भगवती प्रतीति ही हमारा आधार है।" यद्यपि आरम्भ से ही न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में सामान्य का यह स्वरूप नहीं था तथापि कालक्रम से विकसित होते २ उसका वर्तमान स्वरूप निष्पन्न हो गया।[2] आज न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार सामान्य या जाति का स्वरूप यह है कि अनेक वस्तुओं का ऐसा समान धर्म सामान्य कहलाता है—जो उनमें समवाय सम्बन्ध से रहता है (अर्थात् अपनी आश्रयभूत वस्तुओं से उसका नित्य[3] सम्बन्ध है) वह नित्य है, सजातीय वस्तुओं में समानता की प्रतीति का कारण है तथा विजातीय वस्तुओं से पृथक्ता की बुद्धि उत्पन्न करता है, उसकी बाह्य जगत् में सत्ता है तथा इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं में इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण होता है।

यह सामान्य दो प्रकार की है—(१) (केवल) सामान्य और (२) सामान्य-विशेष। न्याय-वैशेषिक के प्राचीन सूत्रों तथा भाष्यों में इनका इन नामों से उल्लेख किया गया है तथा उत्तरकालीन न्यायमुक्तावली आदि ग्रन्थों में (१) पर सामान्य और (२) अपर सामान्य आदि शब्दों से कथन किया गया है। (केवल) सामान्य या पर सामान्य वह है जो समानाकारक बुद्धि (अनुवृत्ति प्रत्यय) को ही उत्पन्न करती है; जैसे 'सत्ता' नामक सामान्य है। वह द्रव्य, गुण तथा कर्म में 'ये सत् (सत्तायुक्त) हैं', इस प्रकार की समान प्रतीति को

१. नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्। न्यायमुक्तावली, का० ८।

२. सामान्य के स्वरूप विकास का इतिहास इस निबन्ध के क्षेत्र से बाहर है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। देखिये Critique of Indian Realism, pp. 310-314.

३. नित्यसम्बन्धः समवायः।

उत्पन्न करती है, इनका किसी से भेद नहीं प्रकट करती; क्योंकि न्याय-वैशेषिक के मतानुसार इनसे भिन्न जो सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव नामक पदार्थ हैं, उनमें समवाय सम्बन्ध से कोई चीज़ नहीं रहती, इसलिये वहाँ सत्ता से युक्त या अयुक्त होने की कोई बात ही नहीं है। दूसरी सामान्य-विशेष या अपर सामान्य है जो किन्हीं वस्तुओं की समानता प्रकट करती है अतः वह सामान्य कहलाती है और किन्हीं वस्तुओं से भिन्नता (व्यावृत्ति) दिखलाती है इसलिये वह विशेष है, जैसे 'द्रव्यत्व' इत्यादि। 'द्रव्यत्व' समस्त पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहता है अतः उनकी समानता का बोधक है, किन्तु यह गुण तथा कर्म में नहीं रहता इसलिये पृथिवी आदि का गुण तथा कर्म से भेद भी प्रकट करता है।[४]

जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बतलाता है, न्याय-वैशेषिक के मतानुसार जहाँ समान प्रतीति होती है, वहाँ सभी जगह सामान्य या जाति नहीं मानी जाती। उदाहरणार्थ सभी पाचकों में 'यह पाचक है' 'यह पाचक है'—इस प्रकार की प्रतीति होती है किन्तु 'पाचकत्व' नामक कोई सामान्य या जाति नहीं मानी जाती।[५] समानता और भिन्नता की प्रतीति कराने वाला होकर भी कोई समान धर्म 'सामान्य' पद का अधिकारी नहीं होता, इस बात पर न्याय-वैशेषिक ने विस्तारपूर्वक विचार किया है तथा जाति के बाधक कौन २ कारण हैं, इसे स्पष्ट करते हुए उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद भाष्य की किरणावली नामक व्याख्या में ६ बातें गिनाई हैं।[६] उनकी विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में स्पष्ट व्याख्या की है।

इस प्रकार सामान्य या जाति एक पारिभाषिक शब्द है। ऐसे समान धर्म को जाति नहीं कहा जा सकता, जिसमें जाति का लक्षण घटित नहीं होता अथवा जहाँ जाति का बाध हो जाता है। किन्तु ऐसे समान धर्मों की लोक में प्रतीति तो होती ही है। उनके लिये न्याय-वैशेषिक ने 'उपाधि' शब्द का व्यवहार किया है। 'जाति' शब्द की अपेक्षा 'उपाधि' शब्द का क्षेत्र व्यापक है। किसी भी सामान्य-बोधक या विशेषण रूप धर्म के लिये उपाधि शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। ऐसे धर्म नित्य भी हो सकते हैं तथा अनित्य भी जैसे 'काशीवासित्व (काशी में रहना) अनेक जनों का समान धर्म है, यह अनित्य है, कल ही कोई व्यक्ति काशी को छोड़कर अयोध्या में वास कर सकता है। अतः ऐसे समान धर्म को जाति नहीं कहा जा सकता। यह उपाधि मात्र है। किन्तु कहीं २ कोई धर्म नित्य होते हुए भी जातिकोटि में नहीं आता, जैसे आकाश में रहने वाला 'आकाशत्व' धर्म है। वह नित्य है, किन्तु जाति नहीं; क्योंकि 'आकाशत्व' अनेक व्यक्तियों में नहीं रहता। 'आकाश' को तो एक ही माना गया है। 'आकाशत्व' को जाति मानने में व्यक्ति का अभेद (व्यक्तेरभेदः) बाधक है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जाति और उपाधि में एक पारिभाषिक भेद है। उपाधि अनेकों में भी रह सकती है, एक में भी। वह नित्य भी हो सकती है अनित्य भी। इसी प्रकार उसकी कहीं बाह्य जगत् में सत्ता हो सकती है, कहीं नहीं भी। किन्तु जाति का क्षेत्र नियत है। 'जाति' पद का वाच्य होने के लिये प्रथमतः ये तीन बातें आवश्यक हैं:—

४. मि०, न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य, २.२.६८।

५. समानबुद्धें भिन्नेषु प्रसोत्री या जातिः साऽवश्यं समानप्रत्ययं प्रसूते न पुनर्या समानप्रत्ययं प्रसूते सा जातिः, पाचकादिषु व्यभिचारादिति। न्या० वा० ता०, पृ० ४६५।

६. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः। किरणावली (कलकत्ता १९११), पृ० १६१।

(१) नित्य होना (२) अनेकों में रहना तथा (३) समवाय सम्बन्ध से रहना (अनेक-समवेतत्व)। इसके अतिरिक्त लक्षणकारों द्वारा संकलित अन्य 'संकर' आदि भी 'जाति' होने में बाधक होते हैं। संक्षेप में यही सामान्य या जाति का स्वरूप है।

२. सामान्यवाद का महत्त्व

प्रमाण तथा प्रमेय तत्त्वों के विवेचन की दृष्टि से 'सामान्य' या जाति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अवयवी की सिद्धि और बाह्य जगत् में स्थित सामान्य की सिद्धि बाह्यार्थ-साधन के दो महान् आधार हैं। इसीलिये न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के सभी विख्यात विद्वानों ने सामान्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न किया है। उद्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र और श्रीधर आदि सभी ने सामान्य की स्थापना की है। इस विषय पर बौद्धों से भी अनेक संघर्ष हुए हैं और प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिग्नाग, धर्मकीर्त्ति आदि ने सामान्यवाद का खण्डन किया है तथा अपोहवाद की स्थापना की है।

न्याय-वैशेषिक का मन्तव्य है कि जिन पदार्थों को जिस रूप में जाना जाता है वे पदार्थ उसी रूप में बाह्य जगत् में विद्यमान हैं। 'यह घट है' यहां घटत्व-विशिष्ट घट का प्रत्यक्ष होता है, अतः घटत्व और घट दोनों का ही बाह्य जगत् में अस्तित्व है। इसी हेतु उसने घटत्व-विशिष्ट घट का ज्ञान कराने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष को यथार्थ ज्ञान माना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है[७] सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में न्याय-वैशेषिक और बौद्ध दर्शन का बड़ा संघर्ष रहा है। बौद्ध दर्शन का विचार है कि 'यह घट है' इत्यादि प्रतीति में 'घट' आदि संज्ञा का संसर्ग हो जाता है यह केवल इन्द्रिय से प्राप्त नहीं अपितु विकल्पों से युक्त है अतः यह प्रत्यक्ष नहीं कही जा सकती। किन्तु नैयायिकों का तो यह दृढ़ निश्चय रहा है कि सविकल्पक ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह अर्थ-जन्य है तो इससे जाने हुए पदार्थ भी यथार्थ माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। यदि दिग्नाग सम्प्रदाय के समान सविकल्पक को प्रत्यक्ष न माना गया, तो इसकी प्रामाणिकता कहाँ रही? इसीलिये न्याय-वैशेषिक ने सविकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि पर बल दिया है। तथा सविकल्पक ज्ञान की यथार्थता के लिये सामान्य का बाह्य जगत् में अस्तित्व सिद्ध किया है।[८]

सामान्यवाद का प्रमाण और प्रमेय दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी हेतु बौद्ध दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक में इसके विषय में महान् संघर्ष हुआ है। इस संघर्ष में सामान्य का स्वरूप विकसित हुआ है। प्रशस्तपाद, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त और श्रीधर ने बौद्धों के आक्षेपों का उत्तर देने के लिये विविध प्रकार से सामान्य के स्वरूप को अभिव्यक्त किया है। जिस सामान्य का स्वरूप तथा बाह्य जगत् में अस्तित्व आदि न्याय-सूत्र एवं वात्स्यायन-भाष्य में स्पष्ट नहीं था, दिग्नाग और धर्मकीर्ति जैसे तार्किकों के साथ संघर्ष में उसका रूप निखर गया। फिर न्याय-वैशेषिक ही नहीं मीमांसा के ग्रन्थों में भी सामान्य का बलपूर्वक निरूपण किया गया।

सामान्य के इस स्वरूप विकास में वाचस्पति मिश्र का भी महत्त्वपूर्ण योग है। सुप्रसिद्ध बौद्ध-तार्किक धर्मकीर्त्ति ने प्रशस्तपाद और उद्योतकर द्वारा प्रस्तुत सामान्य के स्वरूप

---

७. ऊपर, परि० ६ अनु० ७।

८. मि०, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, Critique of Indian Realism, pp. 306-310.

का प्रभावशालिनी युक्तियों द्वारा खण्डन किया था। वाचस्पति मिश्र ने उनके आक्षेपों का निराकरण करते हुए सामान्य के बुद्धि-ग्राह्य स्वरूप का प्रतिपादन किया। उन्होंने विशेष रूप से न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में बौद्ध-दर्शन की सामान्य-खण्डन-विषयक युक्तियों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। उसके आधार पर ही अग्रिम अनुच्छेदों में विवेचन किया जा रहा है।

३. व्यक्तियों में जाति की स्थिति का अभाव

न्याय-वैशेषिक का कथन है कि गोत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से गौ आदि व्यक्तियों में रहती है। इस पर बौद्धों की ओर से कहा जाता है कि जाति या सामान्य नाम की वस्तु किसी प्रकार भी व्यक्तियों में नहीं रह सकती। "अभिप्राय यह है कि सामान्य नाम की कोई यथार्थ वस्तु ऐसी नहीं जो परमार्थसत् वस्तु में रहती हो। प्रश्न यह है कि यह जो गोत्व आदि जाति है, यह केवल गोरूप व्यक्तियों (पिण्ड या शरीर) में रहती है या सब जगह रहती है? यदि गोत्व जाति सब जगह रहती है तब तो सभी वस्तुएँ गाय हो जायेंगी। जैसे (न्याय-वैशेषिक के अनुसार) गोत्व के सम्बन्ध से चित्रा (कबरी) आदि सभी गायें कहीं जाती हैं (कोई गौ श्वेत है, कोई श्यामा, कोई चित्रा; किन्तु सभी में गोत्व है अतः सभी गायें हैं), इसी प्रकार समस्त विश्व में ही यदि गोत्व विद्यमान है तो गोत्व के सम्बन्ध से समस्त विश्व ही 'गौ' कहलाने लगेगा। (इस दोष के निवारण हेतु) यदि यह कहा जाये कि कुछ शरीरों अर्थात् गोव्यक्तियों में ही गोत्व है (सर्वत्र नहीं), तो जो गाय (व्यक्ति) किसी स्थान पर अब उत्पन्न होगी उसमें गोत्व कहाँ से आयेगा? कारण यह है कि पिण्ड (शरीर) की उत्पत्ति से पूर्व तो वहाँ गोत्व था नहीं और दूसरी गौ व्यक्ति के शरीर से भी इस नवोत्पन्न गौ में गोत्व नहीं आ सकता; क्योंकि गोत्व तो निष्क्रिय है (वह एक स्थान से दूसरे स्थान में कैसे जा सकता है?)। यदि यह मान लिया जाये कि 'गोत्व' एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में चला जाता है तो वह शरीर गोत्व से रहित हो जायेगा, जिसे छोड़कर गोत्व इस नवोत्पन्न गौ व्यक्ति में प्रविष्ट होगा। यदि कहा जाये कि नवीन गौ व्यक्ति के उत्पन्न होने पर गोत्व भी उत्पन्न हो जाता है।[९] तब तो सामान्य अनित्य हो जायेगी (जो कि नैयायिक आदि को अभीष्ट नहीं) दूसरा दोष यह भी होगा कि गोत्व जाति की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति रूप विरुद्ध धर्मों के होने के कारण व्यक्ति में भेद हो जायेगा (फिर दोनों व्यक्ति समान न रहेंगी) तब गोत्व नामक धर्म सामान्य कैसे रह सकेगा (असामान्य हो जायेगा)। तब तो इन महान् आपत्तियों से भयभीत होकर कल्पित या मानस (सांवृतम्, संवृतिसत्) ही सामान्य है, यह मानना चाहिये, वस्तुसत् नहीं।[१०]

---

९. यदैव वस्तु तदैव गोत्वेनाभिसम्बध्यते। न्या० वा०, पृ० ३१८।

१०. अयमभिसन्धिः न सामान्यं नाम वस्तुसद् यस्याश्रयो वस्तुभूतोऽनुस्रियते। तथा हि तत्पिण्डे वा वर्तते सर्वत्र वा, यदि सर्वत्र सर्व एव गावः प्रसज्येरन् यथा हि शाबलेयादयो गोत्वाभिसम्बन्धाद् गाव एवं विश्वमेव तत्सम्बद्धमिति गौः प्रसज्येत। अथ केषुचिदेव पिण्डेषु वर्तते तदा वक्तव्यं ततो यदा क्वचिद् देशे पिण्डो जायते तदा वक्तव्यं कुतस्त्यं पुनरस्य गोत्वमिति। न तावत्तत्रापि पिण्डोत्पादात्पूर्वमासीन्नापि पिण्डान्तरादागतं तस्य निष्क्रियत्वात्पिण्डान्तरत्याग-प्रसङ्गाच्च। न च पिण्डे जायमाने जायते अनित्यत्वापत्तेः पिण्डान्तरस्थ च गोत्वाज्जन्माजन्मस्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन भेदे सत्यसामान्यत्वप्रसंङ्गः। तदितो महाव्यसनाद्बिभ्यता सांवृतमेव सामान्यमास्थेयं न पारमार्थिकमिति। न्या० वा० ता०, पृ० ४००।

वाचस्पति मिश्र का यह विवेचन धर्मकीर्ति के सामान्य-खण्डन का साराँश मात्र है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में इसी प्रकार सामान्य का खण्डन किया है।[११]

४. व्यक्ति में जाति की स्थिति सम्बन्धी दो मत

वाचस्पति मिश्र के जाति-खण्डन सम्बन्धी विवेचन से तथा प्रमाणवार्त्तिक के एतद्विषयक अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय 'व्यक्ति में सामान्य की स्थिति' के विषय में दो मत प्रचलित थे—(१) प्रत्येक सामान्य सर्वगत है; अर्थात् गोत्व आदि प्रत्येक सामान्य सर्वत्र रहती है। (२) सामान्य सर्वगत नहीं, किन्तु अपने विषय में सर्वत्र विद्यमान है; अर्थात् गोत्व आदि जाति संसार की समस्त गोव्यक्तियों में ही रहती है उनसे भिन्न स्थान पर सर्वत्र विद्यमान नहीं है।[१२]

उपर्युक्त मतों में से प्रथम मत प्रशस्तपाद का प्रतीत होता है। जैसा कि प्रशस्तपाद ने बतलाया है—"यद्यपि सामान्य किसी प्रदेश में सीमित नहीं; अर्थात् वे सर्वत्र विद्यमान है : किन्तु किसी सामान्य के व्यञ्जक (अवयवसंस्थान या आकृति, जिसे प्रशस्तपाद ने 'उपलक्षण' शब्द से प्रकट किया है) तथा उसकी कारणसामग्री (अर्थात् समवायी कारण) नियत स्थान पर ही उपलब्ध होते हैं अतएव वह (सामान्य) अपने समस्त विषयों में ही प्रकट होती है। स्वव्यक्तियों के मध्य के अवकाश में वह प्रकट नहीं होती, क्योंकि वहाँ पर उस (सामान्य) का न संयोग सम्बन्ध है न ही समवाय सम्बन्ध है।"[१३]

द्वितीय मत किसका है, यह विवाद का विषय है। कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक में स्पष्टतया इस मत का उल्लेख मिलता है।[१४] जैसा कि डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने उल्लेख किया है जयन्त भट्ट ने स्वीकार किया है कि इस मत को कुछ न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने भी माना है।[१५] ऐसा प्रतीत होता है कि उद्योतकर का भी यही मत है। न्यायवार्त्तिक के अनुशीलन से यही विदित होता है। प्रतिपक्षी को उत्तर देते हुए उद्योतकर बतलाते हैं—

"जाति सर्वगत है यह कौन मानता है? वह सर्वगता तो इसलिये कही जाती है कि वह अपने विषय में सर्वत्र विद्यमान है। तब गोत्व का अपना विषय क्या है? जहाँ गोत्व विद्यमान है, वही उसका अपना विषय है। गोत्व कहाँ विद्यमान है? जहाँ गोत्व के कारण समानाकारक बुद्धि (अनुवृत्ति प्रत्यय) होती है, वहाँ गोत्व विद्यमान है।

---

११. न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः।
अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि।
स्वस्थानादचलतोऽन्यत्र वृत्तिरयुक्तिमत्। प्र० वा० (मनो०), ३. १५१-१५२।

१२. तथा हि तत् पिण्डे वा वर्तते सर्वत्र वा। न्या० वा० ता०, पृ० ४००।

१३. यद्यप्यपरिच्छिन्नदेशानि सामान्यानि भवन्ति तथापि उपलक्षणनियमात् कारणसामग्रीनियमाच्च स्वविषयसर्वगानि। अन्तराले च संयोगसमवायवृत्त्यभावादव्यपदेश्यानि। प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ३१४, पंक्ति १९।

१४. पिण्डेष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः। श्लोकवार्त्तिक अपोह, ५५१।
(उद्धृत) न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० २८६, पं० ४।

१५. मि०, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, Critique of Indian Realism, pp. 334–338।

गोत्व समानाकारक बुद्धि कहाँ उत्पन्न करता है ? जो उसका साधन है उसमें। गोत्व तो नित्य है उसका साधन होने का क्या अभिप्राय है ? जिससे गोत्व की अभिव्यक्ति होती है, वही उसका साधन कहलाता है। ककुद आदि अंगों से युक्त जो वस्तु (गोव्यक्ति है) उसके बिना तो गोत्व की अभिव्यक्ति होती नहीं (अत: वही गोत्व का साधन है)।"[१६]

इस प्रकार उद्योतकर के मतानुसार गोत्व आदि जाति अपनी समस्त व्यक्तियों में रहती है (स्वविषये सर्वत्र वर्तते)। उद्योतकर के इस मत का धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में विस्तारपूर्वक खण्डन किया है, जैसा कि प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कर्णगोमि द्वारा न्यायवार्तिक के उपर्युक्त उद्धरण को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करने से स्पष्टतया विदित होता है।[१७]

धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु की टीका का अनुशीलन करने से भी ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम मत वैशेषिक का है तथा द्वितीय न्याय का है। विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण देते हुए न्यायबिन्दु में कहा गया है—

तत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिः सम्बध्यते तत्सर्वगतं यथाकाशम्, अभिसम्बध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत्सामान्यमिति। न्यायबिन्दु, पृ० ८८।

इस पर आचार्य धर्मोत्तर लिखते हैं—'**इह सामान्यं कणादमहर्षिणा निष्क्रियं दृश्यमेकं चोक्तम्। युगपच्च सर्वैः स्वैः स्वैः सम्बन्धिभिः समवायेन सम्बद्धम्। तत्र पैलुकेन कणादशिष्येण व्यक्तिषु व्यक्तिरहितेषु च देशेषु सामान्यं स्थितं साधयितुं प्रमाणमिदमुपन्यस्तम्—यथाकाशमिति।' न्यायबिन्दुटीका, पृ० ८८।**

द्वितीय मत का उल्लेख करते हुए धर्मोत्तर लिखते हैं—**पैठरप्रयोगं दर्शयन्नाह—द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत्तत्रास्ति। तद्यथा—क्वचिद-विद्यमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति।**

न्यायबिन्दु, पृ० ८९-९०।

यहाँ पैलुक तथा पैठर शब्दों का क्रमशः वैशेषिक और नैयायिक अर्थ ही उपर्युक्त प्रतीत होता है; किन्तु इसमें श्चेरबात्स्की को आपत्ति यह है कि वैशेषिक और नैयायिक के इस प्रकार के सामान्यसम्बन्धी मन्तव्यों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।[१८] यदि ऊपर के प्रशस्तपाद भाष्य तथा न्यायवार्तिक के अवतरणों का उपरिलिखित अभिप्राय अनुपयुक्त नहीं है तो धर्मोत्तर के कथन की पुष्टि में यही स्पष्ट प्रमाण हो सकता है। इस प्रकार

---

१६. केन सर्वगतत्वं जातेरभ्युपगम्यते ? अपि तु स्वविषये सर्वत्र वर्त्तत इति सर्वगतेत्युच्यते। कः पुनर्गोत्वस्य स्वोविषयः ? यत्र गोत्वं वर्त्तते। क्व पुनर्गोत्वं वर्त्तते ? यत्र गोत्वनिमित्तोऽनुवृत्तप्रत्ययो भवति। क्व पुनरनुवृत्तप्रत्ययं गोत्वं करोति ? यत्तस्य साधनम्। कः पुनर्नित्ये गोत्वे गोः साधनार्थः ? यत्तेन व्यज्यते। न हि ककुदादिमदर्थव्यतिरेकेण गोत्वस्य अभिव्यक्तिरस्ति। न्या० वा०, पृ० ३१५।

१७. देखिये, प्रमाणवार्त्तिक स्ववृत्ति, कर्णगोमि टीका, पृ० ३०१।

१८. But no connection between these names and the doctrine of the reality of universals has as yet been on record.

B L, Vol. II, p. 226 fn. 1.

स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति तथा वाचस्पति मिश्र से पूर्व न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में सामान्य-स्थिति विषयक दो मत थे। धर्मकीर्ति ने उन दोनों मतों का खण्डन किया था, जिसे वाचस्पति मिश्र के शब्दों में ऊपर दिखलाया गया है।

६. वाचस्पति मिश्र की नवीन उद्भावना

धर्मकीर्ति के आक्षेपों का उतर देते हुए वाचस्पति मिश्र ने व्यक्ति में सामान्य की स्थिति के विषय में एक नवीन उद्भावना की है। वह इस प्रकार है:—"ऐसी भी कुछ वस्तुएँ हैं, जो साथ रहते हुए भी एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखतीं जैसे दूसरों (बौद्धों) के मत में समान काल में रहने वाले, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श तथा (समानकालीन) विज्ञान हैं जो परस्पर सम्बन्ध नहीं रखते। वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार दिक्, काल, आकाश और आत्मा साथ २ सर्वत्र विद्यमान हैं (व्यापक हैं) तो भी इनका आपस में कोई सम्बन्ध (संयोग या समवाय) नहीं माना जाता। इसी प्रकार, सामान्य भी सर्वत्र रहती है, किन्तु इसका समस्त वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं होता। हाँ, जो इसकी व्यक्तियाँ हैं उनसे इसका सम्बन्ध होता ही है। जहाँ नवीन व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं वहाँ ऐसे सामान्य और समवाय विद्यमान हैं जिन का किसी से सम्बन्ध नहीं। उन व्यक्तियों की उत्पत्ति ही सामान्य और समवाय का सम्बन्ध करा देती है। व्यक्तियों का यह सम्बन्ध अपने कारण की महिमा से ही हो जाता है। इस में शंका का अवसर नहीं। इसलिये वस्तुओं की प्रमाणसिद्ध गति को जानने वाले (नैयायिक आदि) बौद्धों के इन (उपर्युक्त) आक्षेपों से भयभीत नहीं होते।[१९]

वाचस्पति मिश्र के मन्तव्य का निष्कर्ष यह है—(१) समस्त सामान्य सर्वत्र विद्यमान हैं (२) उनका समवाय भी व्यक्ति की उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान है। (३) विद्यमान सामान्य का केवल अपनी व्यक्तियों से ही सम्बन्ध होता है, अन्य व्यक्तियों से नहीं। क्यों? वस्तु-स्वभाव की विचित्रता के कारण। (४) जहाँ नवीन व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं वहाँ किसी व्यक्ति से असम्बद्ध सामान्य और समवाय प्रथमतः विद्यमान हैं (५) व्यक्तियों का जन्म ही सामान्य और समवाय का सम्बन्ध है; अर्थात् व्यक्ति सामान्य के समवाय से विशिष्ट ही उत्पन्न होती है—**जातः सम्बद्धश्चेत्येकः कालः····· न हि जातिमान् जात्यसम्बद्धोऽस्ति**। न्या० वा० ता०, पृ० ३८५। इस प्रकार बौद्धों के इस आक्षेप का भी निराकरण हो जाता है कि जाति के उत्पन्न होने तथा न होने की अवस्था में व्यक्ति में भेद हो जायेगा। (६) व्यक्ति और जाति का इस प्रकार का सम्बन्ध अपने कारणों की सामर्थ्य से है और वस्तुओं के स्वभाव के विषय में शंका करना उचित नहीं।

---

१९. सन्ति हि केचिद् भावा ये सहावस्थानेऽपि परस्परमसम्बद्धा यथा समानकाला गन्धरसरूपस्पर्शा विज्ञानानि च बहूनि परेषां समानकालान्यप्यसंसर्गीणि। दिक्कालाकाशात्मानश्च सहावस्थाना अपि परस्परासंसर्गिणो वैशेषिकाणां तथा सामान्यमपि सर्वासंबद्धमपि सर्वैः सहावतिष्ठते। यास्त्वस्य व्यक्तयस्ताभिः परं सम्बध्यते। तथा च यत्र जायन्ते व्यक्तयस्तत्रासम्बद्धावपि स्तः सामान्यसमवायाविति। तासां जन्मैव सामान्यसमवायावच्छेदः। स च स्वकारणादननुयोज्य इति वस्तुगतिं प्रामाणिकीं विद्वांसो नास्माद् दूषणाद् बिभ्यतीति। न्या० वा० ता०, पृ० ४०१।

वाचस्पति मिश्र की इस नवीन उद्भावना का बौद्ध दार्शनिकों ने जो बलपूर्वक खण्डन किया था वह तो उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में ही उपलब्ध हो सकता है। सामान्यवाद के खण्डन सम्बन्धी वे युक्तियां पण्डित अशोक आदि की कृतियों में सुरक्षित हैं।[२०]

७. शब्द-प्रयोग भी सामान्य की यथार्थसत्ता का बोधक नहीं

न्याय-वैशेषिक के अनुसार व्यवहार और शब्द-प्रयोग भी किसी वस्तु के स्वरूप की सिद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण साधन हैं। लोक में 'गौ' से भिन्न 'गोत्व' (जाति) समझी जाती है जिससे समस्त गायों में समानता की प्रतीति होती है। इसी प्रकार गौ व्यक्ति के लिए 'गाय' (गौः) आदि शब्द का प्रयोग किया जाता है तथा जाति के लिए 'गोत्व' आदि का। अतः व्यपदेश (व्यवहार) और शब्द-प्रयोग द्वारा गौ व्यक्ति से गोत्व पृथक् ही है, यह प्रतीत होता है। जैसाकि उद्योतकर ने अनुमान का प्रयोग दिखलाया है :—

गौ व्यक्ति से गोत्व (जाति) भिन्न वस्तु है। (प्रतिज्ञा)

क्योंकि दोनों में भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार होता है तथा भिन्न-भिन्न शब्दों से दोनों का कथन किया जाता है। (हेतु)

जैसे चैत्र (चैत्र नामक कोई व्यक्ति) और अश्व।[२१] (उदाहरण)।

इस पर बौद्ध-दर्शन का कथन है कि शब्दों का प्रयोग वस्तुओं की परमार्थता के अनुसार नहीं होता और लोक का व्यवहार भी वस्तुओं की परमार्थसत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। जो शब्द वक्ता के द्वारा जिस प्रकार से वाचक रूप में प्रयुक्त किया जाता है वह शब्द बाह्य अर्थ की अपेक्षा किये बिना उसी रूप में अर्थ का वाचक हो जाता है।[२२]

वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध-दर्शन के इस मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट किया है— "शब्द तो मानस कल्पनाओं के आधार पर होते हैं। जो विकल्पों का विषय है उसी में शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है; क्योंकि कार्य और कारण का सामानाधिकरण्य होता है; अर्थात् जिस विषय की मानस कल्पना (विकल्प) होती है, उसी विषय को प्रकट करने वाले शब्द होते हैं। ये विकल्प सद् असद् धर्मी तथा सद् असद् धर्म के विषय में हुआ करते हैं।[२३] अतएव ये चार प्रकार के हैं, जैसे—'गौ' यहाँ गौ यथार्थ धर्मी है। 'ईश्वर' यहाँ धर्मी कल्पित (असद्) है। 'नील' यहाँ यथार्थ (नीलरूप) धर्म है तथा 'नित्य' यहाँ धर्म कल्पित (असद्) है (क्योंकि बौद्धमत में कुछ भी नित्य नहीं, सर्वमनित्यम्)। और, वह[२४] (सामान्य आदि) पदार्थ विकल्पों का विषय है जो कल्पना द्वारा जाना जाता है (विकल्प्यते)[२५] जो देश, काल और अवस्था का भेद होने पर भी 'यह वही है' इस प्रकार

२०. पण्डित अशोक; सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता।
(Published in Six Buddhist Nyaya tracts)

२१. गोतोऽर्थान्तरं गोत्वं व्यपदेश-शब्द-विषयत्वात् चैत्राश्ववत्। न्या० वा०, पृ० ३३४।

२२. यद्यथा वाचकत्वेन वक्तृभि र्विनियम्यते।
अनपेक्षितबाह्यार्थं तत् तथा वाचकं वचः॥ प्र० वा०, ३. ६५।

२३. सदसद्धर्मिसदसद्धर्म—यही पाठ शुद्ध है। मि०, BL. Vol. II, p. 405 fn. 4.

२४. 'न च' के स्थान पर 'स च' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

२५. 'विकल्प्यते' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

एक रूप में जाना जाता है। विकल्पों के विषय ही शब्दों के वाच्य हैं; क्योंकि उन में ही शब्दों का संकेत किया जा सकता है। स्वलक्षण तो तीनों लोकों से विलक्षण हैं उनमें शब्द का संकेत किया नहीं जा सकता। अतएव स्वलक्षण विकल्पों के विषय भी नहीं हो सकते और सामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं, जो विकल्प तथा शब्दों का विषय हो सके। इसीलिए सामान्ययुक्त स्वलक्षण भी शब्दों का विषय नहीं हो सकते; क्योंकि जब सामान्य का ही अभाव है तो उससे युक्त स्वलक्षण कैसे हो सकते हैं।"[२५क]

वाचस्पति 'मिश्र के उपर्युक्त विवेचन का आधार दिग्नाग[२६] की एक कारिका है। इस कारिका में स्पष्ट रूप से यह बतलाया गया है कि शब्द परमार्थवस्तु का तो स्पर्श भी नहीं करते फिर शब्दों के प्रयोग से सामान्य आदि की सिद्धि करना कैसे सम्भव हो सकता है? कारिका का सार यह है—"शब्दों का कारण मानसकल्पना है (विकल्पयोनयः) और मानस कल्पनाएँ शब्दों के आधार पर होती हैं। इस प्रकार इन दोनों का परस्पर कारणकार्यभाव है और शब्द परमार्थसत् वस्तु का स्पर्श भी नहीं करते।"[२७]

अनुमान प्रमाण के द्वारा ही, बौद्ध-दर्शन के अनुसार, सामान्य का ग्रहण होता है। किन्तु अनुमान से जिस वस्तु का ग्रहण होता है उसे दिग्नाग सम्प्रदाय ने परमार्थसत् वस्तु नहीं माना। केवल स्वलक्षण ही तो उनके मत में परमार्थसत् वस्तु है। स्वलक्षण तो अनुमान का (ग्राह्य) विषय हो ही नहीं सकता।[२८] फलतः सामान्य परमार्थसत् वस्तु नहीं अपि तु अनादि कालीन वासनाओं के कारण जो मानस कल्पनाएँ (विकल्प) हैं उन्हीं से सामान्य की प्रतीति होती है तथा विकल्प-निष्ठ अथवा मिथ्या सामान्य का ही अनुमान के द्वारा बाह्य रूप में ग्रहण किया जाता है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"वह (अनुमान) तो......सामान्य धर्मों का आश्रय लेता है। और, अनेक देश, काल तथा अवस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाली एक सामान्य (यथार्थ) नहीं हो सकती अतः अनादि विकल्पवासना से उत्पन्न विकल्पों के आधार पर विकल्पाकार वाली अथवा अलीक सामान्य की बाह्य रूप में स्थिति ही अनुमान का विषय है।"[२९]

---

२५. क विकल्पयोनयो हि शब्दास्तदेवाभिनिविशन्ते यद्विकल्पानां गोचरः। कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्येन प्रतिपत्तेः। चतुष्टयी चेयं विकल्पानां सदसद्धर्मिसद्धर्मावगाहिनां जातिः। गौरीश्वरो नीलं नित्यमित्येवमादीनां न (स) च विकल्पानां गोचरो यो विकल्पते देशकालावस्थाभेदेनैकत्वेनानुसन्धीयते तदेवेदमिति। एव च स शब्दगोचरः तत्र शब्दानां शक्यसंकेतत्वात्। न च स्वलक्षणानि त्रैलोक्यविलक्षणान्येवमिति न विकल्पविषयः। न च सामान्यं नाम किञ्चिदस्ति यद्विषयः स्यात्। अत एव न तद्वन्ति स्वलक्षणान्यपि तेषां सामान्यानामभावे तद्वत्तायाः स्वलक्षणेष्वभावात्। न्या० वा० ता०, पृ० ४८३-४८४।

२६. श्चेरबात्स्की, BL. Vol. II, p. 405 fn. 1.

२७. विकल्पयोनयः शब्दाः, विकल्पाः शब्दयोनयः।
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि। न्या० वा० ता०, (कलकत्ता संस्करण) पृ० ६८१ टि० क।

२८. न च स्वलक्षणमनुमानस्यापि गोचरः। न्या० वा० ता०, पृ० १८।

२९. तद्धि......सामान्यधर्मावाश्रयते। न च सामान्यमेकमनेकदेशकालावस्थासंसर्गि भवितुमर्हति। तदिदमनादिवासनोद्भूतविकल्पाधिष्ठानं विकल्पाकारस्य वाऽलीकस्य बाह्यत्वमनुमानगोचरोऽभ्युपेयम्। वही, पृ० १८।

८. व्यक्ति और सामान्य का आधार-आधेय भाव नहीं हो सकता।

सामान्य नाम की वस्तु व्यक्ति में (समवाय सम्बन्ध से) रहती है। इस बात का बौद्ध-दर्शन में भली भाँति खण्डन किया गया है। इन युक्तियों को वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार दिखलाया है :—"यदि सामान्य को वस्तुसत् भी मान लिया जाये, तो भी व्यक्ति (स्वलक्षण) उसका आधार नहीं हो सकती; क्योंकि जो सामान्य (आपके मत में) नित्य है व्यक्ति के द्वारा उसका कुछ उपकार नहीं किया जा सकता। आधार वही होता है जो आधेय का उपकार करता है (नित्य वस्तु का व्यक्ति क्या उपकार कर सकती है जो उस व्यक्ति को आधार माना जा सके?)[३०]; जैसे पतनशील बेरों को कुण्डे आदि के द्वारा एक स्थान पर स्थित कर दिया जाता है (इसी से कुण्डा बेर का आधार कहलाता है)। इसी प्रकार नित्य (सामान्य) का तो कुछ किया नहीं जाता अतः वह आधेय कैसे हो सकती है? जब सामान्य का कोई व्यक्ति आधार न होगी तो सभी सामान्य स्वतन्त्र होंगी और इस प्रकार अपने नामों द्वारा जानी गई वृक्षत्व और शिंशपात्व आदि सामान्य स्वतन्त्र ही होंगी (उनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध न होगा; क्योंकि किसी एक आधार में दोनों नहीं रहतीं) फिर इनका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता, जैसे गौ तथा अश्व का सामानाधिकरण्य नहीं होता।"[३१]

भाव यह है कि व्यक्ति को जाति का आधार मानने पर ही यह कहना युक्तिसंगत होता है कि शिंशपात्व जाति तथा वृक्षत्व जाति एक व्यक्ति (समान अधिकरण) में रहती हैं तभी 'यह शिंशपा वृक्ष है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। किन्तु यदि सामान्य नित्य है तो व्यक्ति उसका आधार नहीं हो सकती। तब शिंशपात्व और वृक्षत्व दोनों स्वतन्त्र होंगे और एक आधार में रहना रूप जो सामानाधिकरण्य है, वह न बन सकेगा।

यदि यह मान भी लिया जाये कि नित्य वस्तु का भी उपकार किया जा सकता है तथा नित्य सामान्य भी व्यक्ति में आश्रित हो सकती है। तब तो यह तर्क हो सकता है कि—"कोई (वृक्ष आदि) स्वलक्षण जिस स्वभाव से वृक्षत्व नामक जाति का उपकार करता है क्या उसी स्वभाव से शिंशपात्व जाति का भी? अथवा अन्य शक्ति से (शिंशपात्व का) उपकार करता है। यदि यह माना जाये कि वृक्ष नामक स्वलक्षण भिन्न-भिन्न स्वभावों (शक्ति) के द्वारा वृक्षत्व और शिंशपात्व जातियों का उपकार करता है तो वृक्षत्व का आधार अन्य स्वलक्षण होगा और शिंशपात्व का आधार दूसरा स्वलक्षण होगा; क्योंकि दोनों का भिन्न २ स्वभाव है। फिर इन दोनों वृक्षत्व और शिंशपात्व का इसी प्रकार सामानाधिकरण्य न होगा जिस प्रकार गाय और अश्व का नहीं होता"।[३२]

"यदि प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाये कि 'वृक्ष' नामक स्वलक्षण एक स्वभाव के द्वारा ही समस्त सामान्यों का उपकार करता है। तब तो यह दोष होगा कि वस्तु का

---

३०. मि०, नित्यस्यानुपकार्यत्वान्नाधारः। प्र० वा०, ३.१४३।

३१. अपि चास्तु सामान्यं वस्तुसत् तथाऽपि नित्यत्वादनुपकार्यतया स्वलक्षणाधारत्वानुपपत्तिः आधारत्वमपि हि करणत्वमेव। पतनधर्माणो हि बदरादयः कुण्डादिभिरपतनधर्माणः क्रियन्ते। न च नित्यं क्रियत इति नाधेयम्। तथा वृक्षत्वशिंशपात्वे स्वतन्त्रे एव सामान्ये स्वशब्दाभ्यामवगमिते न गौरश्व इतिवत्सामानाधिकरण्यं भजताम्। न्या० वा० ता०, पृ० ४८४।

३२. अपि च भवतु नित्यस्याप्युपकार्यत्वेनाधेयत्वं तथाऽप्येतद्विकल्पनीयम्। किं येनैव स्वभावेन तत्स्वलक्षणं वृक्षत्वमुपकरोति तेनैव शिंशपात्वमपि अथ स्वभावान्तरेण। अथ हि स्वभावान्तरेण स्वभावभेदादन्यत्स्वलक्षणं शिंशपात्वाधारोऽन्यच्च वृक्षत्वाधार इति पुनरपि गौरश्व इतिवत्सामानाधिकरण्याभाव एव। वही, पृ० ४८४।

स्वभाव एक है, उससे उपकृत (या उसमें आश्रित) जो अनेक सामान्य हैं उनमें से किसी एक सामान्य से विशिष्ट स्वलक्षरण का शब्द या विकल्पों द्वारा ग्रहण हो जाने पर उन सब सामान्यों का ग्रहण होने लगेगा, जिनकी सत्ता उस एक वस्तु के उपकार पर आश्रित है।[३३] और, इस प्रकार सद्, द्रव्य, पार्थिव, वृक्ष, शिंशपा आदि के विषय में होने वाले ज्ञानों की समानता हो जायेगी तथा इनके बोधक शब्द पर्याय होने लगेंगे; क्योंकि ये सब वस्तु के एक ही स्वभाव द्वारा उत्पन्न होंगे। जैसा कि (धर्मकीर्ति ने) कहा है—"एकोपकारके[३४] इत्यादि।"[३५]

इसलिये विकल्पों द्वारा सामान्य-विशिष्ट व्यक्तियों का ग्रहण नहीं होता। और, न ही उनके द्वारा सर्वतोभिन्न स्वलक्षण (extreme particular) का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार इस मत का भी निराकरण हो जाता है (अपास्तम्) कि ज्ञान से ग्राह्य (बाह्य वस्तु के) आकार द्वारा सामान्य-विशिष्ट बाह्य वस्तु का ग्रहण हो जाता है।[३६]

६. सामान्य या जाति विकल्पजन्य है, परमार्थसत् नहीं

यदि कोई कहे कि विकल्प अपने अबाह्य (मानस) आकार को बाह्य रूप में कल्पित कर लेते हैं अतएव वे अपने आकार को ही बाह्य सामान्य के रूप में अनुभव करते हैं;— जैसा कि (धर्मोत्तर ने) बतलाया है—"अनुमान विकल्प द्वारा (स्व) सामान्यरूप मिथ्यावस्तु (अनर्थ) का ग्रहण होता है और वह उसमें (बाह्य) परमार्थसत् वस्तु का अध्यास (आरोप) कर लेता है इसीसे वस्तु के अभिलाषी मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है"।[३७]

इस मत की समीक्षा करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध-दर्शन की ओर से बतलाया है कि सामान्य तो केवल विकल्पों का विषय है। यह ज्ञान या ज्ञान का आकार नहीं, न ही बाह्य जगत् में इसकी स्थिति है अपि तु यह अलीक (मिथ्या कल्पित) ही है।

"प्रथमतः प्रश्न यह है कि यह अध्यवसाय क्या है? क्या इसका अर्थ (१) वस्तु का ग्रहण[३८] करना है अथवा (२) वस्तु में कुछ (विशेषता की उत्पत्ति) करना है।[३९] अथवा (३) भिन्न २ ज्ञानों में पारस्परिक सम्बन्ध करना (योजना) है या (४) अन्य (मानसिक आकार) का अन्य (बाह्य) में आरोप करना है।

---

३३. तदेकोपकारनिबद्धस्वभावानाम्=तस्य (=स्वलक्षणस्य) एकस्य उपकारेण निबद्धः स्वभावः येषां तेषां (सामान्यानाम्)—ऐसी सामान्य जिनकी सत्ता उस एक व्यक्ति पर आश्रित है।

३४. इसका विस्तृत विवेचन ऊपर (परि० ६ अनु० ७ घ) में किया गया है।

३५. अथैकेन स्वभावेन स्वलक्षणं सर्वसामान्योपकारि तथाऽपि स्वभावाभेदे तदुपकाराधीनस्वभावानां सामान्यानां च मध्ये एकसामान्यवतः स्वलक्षणस्य एकेन शब्देन विकल्पेन वा ग्रहणे सर्वेषां तदेकोपकारनिबद्धस्वभावानां सामान्यानां ग्रहणात्सद्द्रव्यपार्थिववृक्षशिंशपाविकल्पानां शब्दानां च पर्यायत्वप्रसङ्गः। यथाऽऽह।
"एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे। दृष्टे तस्मिन्नदृष्टा ये तद्ग्रहे सकलग्रहः।" इति।
न्या० वा० ता०, पृ० ४८४।

३६. तस्मान्न सामान्यवद्भेदगोचरा विकल्पाः। स्वलक्षणभेदगोचरत्वनिषेधेन ज्ञानग्राह्याकारगोचरत्वमप्यपास्तम्। वही, पृ० ४८४।

३७. स्वाकारमबाह्यं बाह्यमध्यवस्यन् विकल्पः स्वाकारबाह्यविषय इति चेत्। यथाऽऽह "स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तिरिति।" वही, पृ० ४८४ मि०, (न्यायबिन्दुटीका, पृ० १६)।

३८. नैयायिक के अनुसार इन्द्रियाँ वस्तु देश में जाकर उसका निश्चयात्मक ज्ञान (अध्यवसाय) करती हैं। मि०, BL. Vol. II, P. 409

३९. मीमांसक के अनुसार ज्ञान द्वारा वस्तु में 'ज्ञातता' नामक विशेषता उत्पन्न की जाती है, मि०, वही, पृ० ४०६।

(इनमें से प्रथम तथा द्वितीय पक्ष स्वीकार नहीं किये जा सकते; क्योंकि) विकल्प अपने द्वारा भासित की हुई मिथ्या वस्तु को परमार्थवस्तु के रूप में कैसे ग्रहण कर सकते हैं या कैसे परिवर्तित कर सकते हैं ? कोई पीत वस्तु सैंकड़ों शिल्पियों के द्वारा भी नील नहीं की जा सकती अथवा नील रूप में गृहीत नहीं की जा सकती ।

(तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं विकल्पों द्वारा यदि यह अध्यवसाय किया जायेगा कि 'यह स्वलक्षण वह है" तो यह युक्तियुक्त नहीं) स्वलक्षण तो विकल्पों का विषय नहीं यह कहा जा चुका है और बिना ग्रहण किये हुए स्वलक्षण में कोई विकल्प अपने आकार का सम्बन्ध कैसे जोड़ सकता है ?

(चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि) विकल्प अपने मिथ्या आकार का बाह्य यथार्थ वस्तु में आरोप नहीं कर सकता । प्रथम तो विकल्प अपने आकार का ग्रहण किये बिना उसका आरोप नहीं कर सकता, अतः इसके द्वारा स्वाकार का ग्रहण मानना पड़ेगा ।[४०] फिर प्रश्न यह कि वह विकल्प पहले स्वीकार का ग्रहण करता है तब उसका बाह्य में आरोप करता है अथवा जिस समय अपने आकार का ग्रहण करता है उसी समय बाह्य में आरोप कर लेता है । इनमें से प्रथम पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि विकल्पज्ञान तो क्षणिक है वह क्रम से (दो क्षण में होने वाले) ग्रहण और समारोप को कैसे कर सकता है ? द्वितीय पक्ष में तो जिस विकल्प का 'अहम्' आकार से युक्त निर्विकल्पक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा बाह्य रूप में (अनहंकारास्पदं) समारोप किया जा रहा है वह (विकल्प) अपने स्वाभाविक रूप में नहीं प्रतीत होता (नास्वगोचरः=स्वागोचरः), यह भिन्न[४१] रूप में (बाह्य जगत् में) नहीं जाना जा सकता, न ही बाह्य स्वलक्षण से अभिन्न रूप में जाना जा सकता है, क्योंकि विकल्पज्ञान स्वलक्षण को भासित नहीं कर सकता । इसलिए विकल्पों का विषय (सामान्य) न ज्ञान-रूप है, न ज्ञान का आकार है और न ही बाह्य वस्तु ही है, अतः उसे मिथ्याकल्पित ही मानना चाहिये । जैसा कि धर्मोत्तर ने कहा है[४२]—

विकल्पबुद्धि के द्वारा अन्य वस्तुओं से भिन्न (विविक्तम् अपरैः) जो रूप दिखलाई देता है वह हमारी बुद्धिमात्र (कल्पनामात्र) है, बाह्य पदार्थ नहीं ।[४३]

---

४०. स्वाकार (विकल्पाकार) संवेदन का विषय है विकल्पों का नहीं—यदि मन्येत न विकल्पानां विषयः स्वाकारोऽपि तु संवेदनस्य । न्यायकणिका, पृ० २५७ पं १७ ।

४१. भिन्नः' पाठ शुद्ध है । BL. Vol. II, p. 410 fn. 6.

४२. यह अवतरण न्यायबिन्दुटीका में नहीं है, सम्भवतः 'प्रमाणविनिश्चयटीका' से उद्धृत किया गया है । देखिये, BL. Vol. II, P. 411 fn. 1.

४३. अथ कोऽयमध्यवसायः । किं ग्रहणमाहोस्वित्करणम् उत योजना अथ समारोपः । तत्र स्वप्रतिभासमनर्थमर्थं कथं गृह्णीयात् कुर्याद्वा विकल्पः न हि पीतं नीलं शक्यं ग्रहीतुं कर्तुं वा शिल्पिशतेनापि । नाप्यगृहीतेन स्वलक्षणेन स्वाकारं योजयितुमर्हति विकल्पः । न च स्वलक्षणं विकल्पगोचर इति चोपपादितम् । न च स्वाकारमनर्थमर्थं आरोपयति । न तावदगृहीतः स्वाकारः शक्य आरोपयितुमिति तद्ग्रहणमेषितव्यम् । तत्किं गृहीत्वा आरोपयति अथ यदैव गृह्णाति तदैवारोपयति । न तावत् पूर्वः पक्षः न हि विकल्पज्ञानं क्षणिकं क्रमवन्तौ ग्रहणसमारोपौ कर्तुमर्हति । उत्तरस्मिंस्तु पक्षेऽविकल्पस्वसम्वेदनप्रत्यक्षाद्विकल्पाकारादहंकारास्पदादनहंकारास्पदं समारोप्यमाणो विकल्पो नास्वगोचरो न शक्यो भिन्नः प्रतिपत्तुं नापि बाह्यस्वलक्षणैकत्वेन शक्यः प्रतिपत्तुं विकल्पज्ञानेन स्वलक्षणस्य बाह्यस्याप्रतिभासनात्। तस्मादेष विकल्पविषयो न ज्ञानं न ज्ञानाकारो नापि बाह्य इत्यलीक एवास्थेयः । यथाऽऽह भदन्तधर्मोत्तरः । "बुद्ध्या कल्पिकया विविक्तमपरैर्यद्रूपमुल्लिख्यते बुद्धिर्नो न बहिरिति ।" न्या० वा० ता०, पृ० ४८४-८५ ।

१० बौद्ध-दर्शन के अनुसार समानता की प्रतीति

बौद्ध-दर्शन में जो सामान्य का बलपूर्वक खण्डन किया गया है इसका यह अभिप्राय नहीं है कि समस्त गायों में समानता की प्रतीति नहीं होती। गौ व्यक्तियों में समानता की प्रतीति तो लोक-सिद्ध ही है। सामान्यवाद के खण्डन का अभिप्राय यह है कि सामान्य की बाह्य जगत् में सत्ता मानकर उसकी नित्यता आदि को सिद्ध करने के लिए जो महान् प्रयास न्याय-वैशेषिक आदि ने किया है तथा जो सामान्य की सिद्धि को बाह्यार्थवाद के साधन के रूप में उन्होंने मान लिया है, वह युक्तियुक्त नहीं है। उसी का खण्डन करना बौद्ध-दर्शन को अभीष्ट है। इसी से स्थान स्थान पर यह स्मरण कराया गया है कि सामान्य परमार्थसत् नहीं है।[४४] सामान्य के कल्पित, अलीकरूप को तो बौद्ध-दर्शन मानता ही है।[४५] जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—**वैनाशिकानां वा सामान्यादिर्नो बहि: किं त्वलीकं तद्विषयं च ज्ञानं मिथ्याज्ञानमिति। न्या० वा० ता०, पृ० ८७।**

अब प्रश्न यह है कि बौद्ध-दर्शन के अनुसार अनेक गायों में समानता की प्रतीति कैसे होती है? इनके उत्तर में कहा गया है कि कुछ वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है जिसके कारण उनमें समानता की प्रतीति हो जाती है। सामान्य के कारण उनमें ऐसा नहीं होता।[४६] उदाहरणार्थ शिंशपा, खदिर, वटवृक्ष आदि में वृक्षत्व नाम का कोई धर्म नहीं दिखलाई देता फिर भी इनमें 'ये वृक्ष हैं'—इस प्रकार की समानाकारक बुद्धि होती है, किन्तु जल आदि में नहीं।[४७] भाव यह है कि समान हेतु से उत्पन्न होने के कारण अथवा एक कार्य करने के कारण कुछ वस्तुओं में समानता की प्रतीति हो जाती है। इसके लिये सामान्य को मानने की आवश्यकता नहीं।

समानता की प्रतीति का क्रम यह है कि 'घट' आदि का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होने के पश्चात् 'यह घट है' इस प्रकार का विकल्प ज्ञान होता है। इस विकल्प ज्ञान में शब्द तथा सामान्य आदि की प्रतीति हो जाती है। इस पर यह शंका हो सकती है कि विकल्प तो बाह्य वस्तु के विषय में नहीं हुआ करते तब विकल्प-जन्य सामान्य ज्ञान आदि के द्वारा बाह्य वस्तुओं में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी?[४८]

इसका उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध-दर्शन के मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—**तस्मान्निर्विकल्पकपृष्ठभाविनो विकल्पाः तदुपनीतबाह्यस्वलक्षणभेदं स्वग्राह्यालीकस्यागृह्णन्तः तदभिमुखं प्रवर्तयन्ति व्यवहर्तॄनर्थिनः पारम्पर्येण तत्सम्बन्धात् प्राप्तेर्न्न विसम्वादयन्ति लोकम्। न्या० वा० ता०, पृ० ४८५।**

"अर्थात् यह ठीक है कि विकल्पों के ग्राह्य (स्वग्राह्य) जो सामान्य आदि हैं ये मिथ्याकल्पित (अलीक) हैं तथापि उनकी बाह्यरूप में प्रतीति हो जाती है और वे व्यवहार

४४. न सामान्यं नाम वस्तुसत्। वही, पृ० ४००।

४५. पारमार्थिकस्य गोत्वस्य निषेधः क्रियते न तु कल्पितस्य। प्र० वा०, कर्णगोमिटीका, पृ० १११।

४६. न समानानामुत्पन्नानां भावानां सामान्ययोगात समानरूपता स्वहेतुभ्य एव तथा निष्पन्नत्वात् प्र० वा०, कर्णगोमिटीका, प० ११०।

४७. वही, पृ० १७८।

४८. तथापि विकल्पज्ञानाद् बाह्याभिमुखी प्रवृत्तिस्तदर्थिनां न स्यात्। न्या० वा० ता०, पृ० ४८५।

के अभिलाषी जनों की बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति करा देते हैं; क्योंकि इन कल्पित सामान्य आदि का परम्परा से बाह्य (वस्तुसत् स्वलक्षण) के साथ सम्बन्ध है ही इसलिए विकल्पज्ञान से भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है और लोगों की असफल प्रवृत्ति नहीं होती। इन से बाह्य में प्रवृत्ति कैसे हो जाती है? निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा जिस बाह्य स्वलक्षण का ग्रहण किया जाता है उसका विकल्पों द्वारा अध्यवसाय (तदुपनीत) किया जाता है। जब वे विकल्प मानस सामान्य आदि का ग्रहण करते हैं और बाह्य स्वलक्षण का अध्यवसाय करते हैं तो कल्पित सामान्य आदि का बाह्य (अध्यवसित) स्वलक्षण से भेद-ग्रहण नहीं कर पाते (भेदम् अगृह्णन्तः) इसीलिये बाह्य में प्रवृत्ति करा देते हैं।"

बौद्ध-दर्शन के अनुसार सामान्य अलीक या मिथ्याकल्पित है इसकी प्रतीति भ्रान्तिमात्र है। भ्रान्ति का कारण है भेदाग्रह अर्थात् बाह्य के साथ मिथ्या सामान्य का भेद का ग्रहण न होना। यहाँ अभेद-ग्रह को भ्रान्ति का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि मिथ्या सामान्य की परमार्थसत् बाह्य स्वलक्षण के साथ अभेद प्रतीति सम्भव ही नहीं है। कारण यह है कि विकल्प तो केवल मिथ्या सामान्य का ग्रहण करते हैं, वे बाह्य स्वलक्षण का ग्रहण नहीं करते। जब वे बाह्य स्वलक्षण का ग्रहण ही नहीं करते तो उसके साथ अभिन्नता की प्रतीति कैसे करा सकते हैं? जिन दो वस्तुओं का ग्रहण किया जा सकता है, उनमें ही अभेद (अभिन्नता) की प्रतीति हो सकती है; किन्तु यदि उनमें से एक का ही ग्रहण किया जाता है तब दूसरी वस्तु से उसका अभेद नहीं जाना जाता। हाँ, एक वस्तु का ग्रहण होने पर भी किसी कल्पित या मानस वस्तु के साथ उसके भेद की प्रतीति (भेदाग्रह =भेद+अग्रह) नहीं हुआ करती। जैसा कि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में कहा गया है—**बाह्यभेदाग्रहश्चास्य बाह्यत्वं न पुनर्बाह्याभेदग्रहः। विकल्पगोचरे**[४९] **बाह्ये तदभेदग्रहस्याशक्यत्वात्।** न्या० वा० ता०, पृ० ४८५।

इस प्रकार सामान्य की प्रतीति विकल्पजन्य है, भ्रान्तिमात्र है और सामान्य मिथ्या ही है।[५०] इसकी कल्पनामात्र से ही व्यवहार हो जाता है। व्यवहार मात्र से किसी वस्तु की परमार्थता या बाह्य जगत् में सत्ता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, सांवृतिक वस्तुओं से भी लोक व्यवहार होता है।

अब विचारणीय यह है कि क्या विकल्पों के द्वारा अलीक (मिथ्या) सामान्य का परमार्थसत् स्वलक्षणों के साथ भेदाग्रह हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति ने कहा है—"इस बात का तो व्याख्याता ही विवेचन करते हैं व्यवहार करने वाले नहीं। वे तो विकल्पों से जाने हुए अर्थ को ही अर्थक्रिया में समर्थ बाह्य स्वलक्षण मानते हुए, विकल्पग्राह्य और वस्तुभूत अर्थ को एक जान कर कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं उनके अभिप्राय से ही यह कहा जाता है"।[५१]

---

४९. यहां बनारस-संस्करण में 'विकल्पगोचरे' यह पाठ है। विकल्पागोचरे पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। श्चेरबात्स्की ने उपलब्ध पाठ का अर्थ इस प्रकार किया है—यदि बाह्य वस्तु विकल्पों का विषय हो जाये तो सन्देह (अभेदग्रह अन्यथाख्याति) हो ही नहीं सकता। BL. vol. II, P. 411.

५०. तत् सिद्धमलीकं बाह्यं विषयो विकल्पानां शब्दानां चेति। न्या० वा० ता०, पृ० ४८६।

५१. व्याख्यातार एवं विवेचयन्ति न तु व्यवहर्तारः। ते तु स्वावलम्बनमेव अर्थक्रियायोग्यं मन्यमानाः विकल्पयथार्थावेकीकृत्य प्रवर्तन्ते। तदभिप्रायवशादेवमुच्यते। प्रा० वा० स्ववृत्ति, पृ० १७०।

स्पष्ट ही है कि यह समाधान तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता; किन्तु इसका उपयुक्त समाधान तात्पर्यटीका में मिलता है। बौद्धों के इस मन्तव्य को वाचस्पति मिश्र ने जैसा स्पष्ट किया है वैसा सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ है। जैसा कि अभी निरूपण किया गया है, वाचस्पति मिश्र ने अलीक सामान्य का सविकल्पक द्वारा अध्यवसित (तदुपनीत) स्वलक्षण के साथ भेदाग्रह दिखलाया है। भाव यह है कि सामान्य का जिस अध्यवसित स्वलक्षण से भेदाग्रह होता है वह परमार्थसत् नहीं है मिथ्या है, अतः कोई दोष नहीं। मिथ्या-कल्पित स्वलक्षण से बौद्ध-दर्शन का क्या अभिप्राय है यह अग्रिम अनुच्छेद में निरूपित किया जायेगा।

विकल्पों के विषयभूत अध्यवसित स्वलक्षणों का भेद-ग्रहण न होने से समानता की प्रतीति कैसे हो जाती है ? इसे स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—"विकल्पों (सविकल्पक ज्ञान) के जो विषय (अध्यवसित स्वलक्षण) हैं, उनका पारस्परिक भेद उन्हीं विकल्पों के द्वारा गृहीत नहीं होता, न अन्य विकल्पों के द्वारा ही गृहीत होता है। भेद का ग्रहण न होने के कारण मनुष्य भ्रान्ति से (विकल्पों से जाने गये विषयों का) अभेद समझ लेता है (अभिमन्यते)। उन विषयों के अभेद के कारण (उनकी प्रतीति कराने वाले) विकल्पों (अवमर्ष) को अभिन्न मान लेता है। उन विकल्पों का अभेद मानकर निर्विकल्पक ज्ञानों को अभिन्न समझने लगता हैं; क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान ही उन विकल्पों के हेतु हैं। निर्विकल्पक ज्ञान को अभिन्न मान लेने के कारण वह मनुष्य स्वलक्षणों को भी अभिन्न (समान) समझने लगता है; क्योंकि वे स्वलक्षण निर्विकल्पक ज्ञान के विषय हैं। जैसा कि (धर्मकीर्त्ति ने)[५२] कहा है—'विकल्पों द्वारा अपने विषयों में एकाकारक प्रतीति (एक प्रत्यव-मर्षस्य) होने के कारण (क्रमशः) सविकल्पक बुद्धि तथा निर्विकल्पक बुद्धि अभिन्न समझी जाने लगती है और इस प्रकार की अभिन्न बुद्धि का कारण होने से स्वलक्षणों में भी अभिन्नता की प्रतीति हो जाती है।'[५३]

संक्षेप में अध्यवसित स्वलक्षणों में भेद का ग्रहण न होने (भेदाग्रह) के कारण उनके ग्राहक विकल्पों में समानता की प्रतीति हो जाती है। फिर विकल्पों के कारणभूत निर्विकल्पक ज्ञान में तथा तब निर्विकल्पक ज्ञान के निमित्त स्वलक्षणों में भी समानता की भ्रान्ति हो जाती है। उपर्युक्त कारिका की वृत्ति में धर्मकीर्ति ने बतलाया है कि यह जो समानाकारक बुद्धि है वह व्यक्तियों के अतद्व्यावृत्तिरूप स्वभाव के कारण ही होती है।[५४]

११. बौद्धों का अपोह

बौद्ध-दर्शन का मन्तव्य है कि समानता की प्रतीति किसी भावरूप (सत्) सामान्य के कारण नहीं होती अपि तु अभावरूप (निषेधात्मक) समानता के कारण होती है।

५२. प्र० वा० (मनो०), ३.१०८।

५३. तेषां च विकल्पविषयाणां न तैरेव विकल्पैः परस्परतो भेदो गृह्यते नापि विकल्पान्तरैरिति भेदाग्रहादभेदमभिमन्यते पुरुषः तदभेदाच्चावमर्षाणाम् अभेदः तदभेदाच्च तद्धेतूनामविकल्पधियामभेदः तदभेदाच्च स्वलक्षणानामविकल्पधीविषयाणामप्यभेदः। यथाऽऽह।

"एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नतेति॥"

न्या० वा० ता०, पृ० ४८५-४८६।

५४. देखिए, प्र० वा० स्ववृत्ति, १.१०८।

उदाहरणार्थ संसार की समस्त गायें एक दूसरी से भिन्न हैं उनमें केवल यही समानता है कि वे दूध देना इत्यादि एक कार्य करती हैं (एककार्यकारिता) तथा समान कारणों से उनकी उत्पत्ति होती है। उनमें एक अभावात्मक समानता भी है। वह यह कि वे सभी गाय से अन्य (अगौ) अश्व आदि से भिन्न हैं। इसे ही अतद्व्यावृत्ति कहा जाता है। जिसका अर्थ है—"जो वस्तु वह नहीं है (अतद्) उसकी व्यावृत्ति अर्थात् निषेध"; जैसे गायों में गाय से भिन्न (अगौ=अश्व आदि) का निषेध। बौद्ध-दर्शन में इसे अपोह नाम से पुकारा जाता है।

बौद्ध-दर्शन में अनेक तर्कों एवं युक्तियों से 'अपोह' की अभावात्मकता को सिद्ध किया गया है। इसे 'अतद्व्यावृत्तिरूप' या 'अन्यव्यावृत्तिरूप' कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका तथा न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में अपोह के स्वरूप की विशद व्याख्या की है। प्रमाणवार्त्तिक[५५] की निम्न कारिका द्वारा उन्होंने अपोह के स्वरूप का निरूपण किया है—

तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः।
व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षाभङ्गभावतः।[५६] **न्यायकणिका, पृ० १८६।**

"('ये गाय हैं') इस समानाकारक बुद्धि में (तस्यां) जो दृश्य तथा विकल्प के एकीकरण से बाह्य सा आकार भासित होता है, जिसमें सजातीयों (अन्य गायों) से एकता और विजातीयों से पृथक्ता (व्यावृत्तमिव) का भास होता है वह समानाकारक बुद्धि निस्तत्त्व है, परमार्थसत् नहीं, क्योंकि वह परीक्षा करने पर कुछ नहीं प्रतीत होती।"[५७]

अपोह की अन्यव्यावृत्तिरूपता को सिद्ध करने वाली बौद्ध-दर्शन की युक्तियों का वाचस्पति मिश्र ने तीन रूपों में संकलन किया है—**तच्चेदमन्यव्यावृत्तिरूपं भावाभावसाधारण्याच्चात्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्यापादनाच्च ताद्रूप्यानुभवाच्च। न्या० वा० ता०, पृ० ४८६।** "अर्थात् यह अपोह इन (तीन) कारणों से अन्यव्यावृत्तिरूप है—(१) यह सत् (भावरूप) और असत् (अभावरूप) दोनों प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है। (२) यह अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं में समानता प्रकट करता है (३) अन्यव्यावृत्तिरूप में ही इसका अनुभव भी होता है।"

(१) इनमें से प्रथम हेतु की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है:—"जो वस्तु भावरूप तथा निषेधरूप दोनों के साथ साधारणतया सम्बन्ध रखती है वह अन्यव्यावृत्ति रूप ही हो सकती है; जैसे अमूर्त्तत्व है, जो विज्ञान (जो कि भाव रूप है) और शशविषाण (जो कि अभाव रूप है) दोनों में समानरूप से है। इसी प्रकार विकल्पों के विषय जो घट, पट आदि हैं, जिन पर यहाँ विचार किया जा रहा है, वे भी भाव तथा अभाव से सामान्यतः सम्बन्ध रखने वाले हैं—यह स्वभावहेतु (स्वभावहेतु नामक अनुमान का अंग) है। उदाहरणार्थ विकल्प का विषय है—'यह गौ है' अथवा 'यह गौ नहीं है।' यहाँ विकल्प के विषय 'गौ' का भाव (अस्ति) तथा अभाव (नास्ति) से साधारणतया सम्बन्ध है। यदि यहाँ 'गौ' स्वलक्षण

---

५५. प्र० वा० (मनो०), ३.७६।

५६. प्रमाणवार्त्तिक में 'परीक्षानङ्गभावतः' यह पाठ है। उसी के अनुसार व्याख्या की गई है।

५७. परीक्षायाः विचारस्य, अनङ्गभावतः अनाश्रयात् निस्तत्त्वम्। मनोरथनन्दिवृत्ति।

के समान केवल विधिरूप (भावरूप of an positive nature) में ही होती तो इसका 'नहीं है' (नास्ति) अर्थात् अभाव से सम्बन्ध न हो सकता; क्योंकि भाव तथा अभाव का विरोध है (जो वस्तु भावरूप है, वह अभावरूप नहीं हो सकती)। यहाँ (विधिरूप) 'गौ' का 'है' (अस्ति) से भी सम्बन्ध न होता; क्योंकि यह तो पुनरुक्तिमात्र ही होती (जब 'गौ' भावरूप है तो गौ कहने से ही उसकी सत्ता का बोध हो जाता है फिर उस सत्ता के वाचक 'है' शब्द का प्रयोग पुनरुक्ति मात्र ही है)। कोई एक ही वस्तु कभी सद्रूप में, कही जाती है। कभी असद् रूप में यह बात बिना निमित्त के नहीं हो सकती। न यह किसी अनिश्चित[५८] निमित्त से ही हो सकती है, और जो भाव (विधि)[५९] रूप ज्ञान (निर्विकल्पक) का विषय (स्वलक्षण) है अथवा जो स्वयं भावरूप[६०] ही है वह इसका निमित्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो भावरूप[६१] धर्म से युक्त है (फिर वह भाव और अभाव दोनों का साधारण निमित्त कैसे हो सकता है)। इस प्रकार इसका निमित्त वही हो सकता है जहाँ (भाव अभाव) साधारण ग्रहण की संभावना है (साधारण ग्रहण का व्यापक निमित्तवत्ता है)। यहाँ जो भावरूप पदार्थ (स्वलक्षण) है वह विपक्ष है, उसमें निमित्तवत्ता (व्यापक) नहीं है; अर्थात् वह भावाभाव-साधारणग्रहण का निमित्त नहीं हो सकता, अतः साधारण ग्रहण अन्यव्यावृत्ति के द्वारा होता है, यह प्रतीत होता है (जहाँ-जहाँ साधारण प्रतीति होती है, वहाँ-वहाँ अन्यव्यावृत्ति होती है—यह व्याप्ति बनती है)।[६२]

भाव यह है कि जो वस्तु समान रूप से भाव तथा अभाव दोनों की समानाधिकरण होती है वह अन्यव्यावृत्तिरूप ही हो सकती है, भावरूप नहीं।

(२) दूसरे हेतु की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं—"अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं (स्वलक्षणों) की समानता (सालक्षण्य) अन्यव्यावृत्ति के द्वारा ही हो सकती है; जैसे—गौ, अश्व, भैंस और हाथी इन अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं में सिंह से सभी की भिन्नता होने के कारण (सिंह से भिन्नतारूप) समानता (सालक्षण्य) हो जाती है (यद्यपि गौ, अश्व आदि सभी जीव एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं तथापि उनमें यह समानता है कि वे सभी सिंह से भिन्न हैं)। इसी प्रकार बाह्य स्वलक्षण की, जो कि भाव (विधि) रूप है तथा वस्तुभूत है, अत्यन्त विलक्षण बुद्धिकल्पित तथा अलीक (अपरमार्थसता) विकल्प के विषय के साथ समानता भी अन्यव्यावृत्ति के द्वारा हो सकती है। यह स्वभाव-हेतु है।

---

५८. अन्यनिमित्त।

५९. विधिरूपविषयः, विधिरूपस्य विषयः (षष्ठी तत्पुरुष)

६०. तत्स्वरूपविषयः, तत्स्वरूमेव विषयः (कर्मधारय)।

६१. विधिधर्मापातिनः विधिधर्मे आपतितुं शीलं येषां ते।

६२. तथा हि यद्भावाभावसाधारणं तदन्यव्यावृत्तिरूपमेव। यथाऽमूर्त्तत्वं तत् खलु विज्ञाने च शशविषाणे च साधारणम्। तथा च विवादाध्यासिता विकल्पविषयाः घटपटादय इति स्वभावहेतुः। गौरस्ति गौर्नास्तीति हि भावाभावसाधारणो गवादिर्विकल्पविषयो विधिरूपस्व-लक्षणवद् भावासाधारण्ये नास्तीत्यनेन न संबध्यते विरोधात्। अस्तीत्यनेनापि न संबध्यते पौनरुक्त्यात्। भावाभावसाधारणग्रहणं च नानिमित्तं नाप्यन्यनिमित्तं नहि विधिरूपविषयस्य तत्स्वरूपविषयस्य वा विधिधर्मापातिनस्तत्र निमित्तभावः संभवति। तस्मान्निमित्तवत्तया साधारणग्रहणं व्याप्तं बिपक्षान्निमित्तवत्त्वस्य व्यापकस्यानुपलब्ध्या निवर्त्तमानमन्यव्यावृत्ति-विषयत्वेन व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धिः। न्या० वा० ता०, पृ० ४८६।

बाह्य वस्तु जो स्वलक्षण है, वह भावरूप होते हुए भी गौ-भिन्न वस्तुओं से पृथक् (अगोव्यावृत्त) ही है। विकल्प का विषय (अलीक, अपोह) भी यदि अगोव्यावृत्तिरूप होगा तभी स्वलक्षण के साथ उसकी समानता हो सकेगी, अन्यथा नहीं। अतः सामान्य अन्यव्यावृत्तिरूप होनी चाहिये। क्योंकि सादृश्य भी निमित्त से ही हुआ करता है (निमित्तवत्ता सादृश्य का व्यापक है अर्थात् जहाँ सादृश्य होता है वह किसी निमित्त से होता है)। वह सादृश्य की निमित्तवत्ता विपक्ष अर्थात् भावरूप स्वलक्षणों में नहीं हो सकती अतएव वह अपने साध्य (अन्यव्यावृत्ति) से व्याप्त होती है; अर्थात् अन्यव्यावृत्ति ही सादृश्यग्रहण का निमित्त है।[६३]

(३) तृतीय हेतु (ताद्रूप्यानुभवाच्च) की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं:—"विकल्पों का विषय अन्यव्यावृत्ति रूप है, यह अनुभव भी होता है, यदि अन्यव्यावृत्ति की प्रतीति न हो तो 'गाय को बांधो' यह आदेश मिलने पर कोई व्यक्ति अश्व को भी बांध देगा; क्योंकि उसे गौ की अश्व से भिन्न रूप में प्रतीति नहीं होती। और, यदि अश्व से भिन्न रूप में गौ की प्रतीति होती है तो अगौ (अश्व आदि) से व्यावृत्त (अपोह रूप) प्रतीति कैसे न मानी जाये? इसलिये शब्द तथा विकल्पों का विषय अन्यव्यावृत्ति या अपोह ही होता है।[६४] इस प्रकार अपोह की अन्यव्यावृत्तिरूपता अनुमान का ही विषय नहीं है अपि तु अनुभव से भी यह स्पष्टतः विदित है कि अपोह अतद्व्यावृत्ति रूप है।

१२. अपोह का स्वलक्षण के साथ सादृश्य कैसे सम्भव है?

यहाँ न्याय-वैशेषिक की ओर से यह शंका की जाती है कि स्वलक्षण तो भावरूप है तथा विकल्प का विषय (अलीक) अभाव रूप है फिर इन दोनों की अन्यव्यावृत्ति द्वारा भी समानता कैसे हो सकती है[६५]? इसके उत्तर में बौद्ध-दर्शन की ओर से कहा जाता है— "(जिस अलीक अर्थ को विकल्प ग्रहण करते हैं उसका विकल्पों द्वारा अध्यवसित स्वलक्षण के साथ सादृश्य होता है) वह अध्यवसाय का विषय होने वाला स्वलक्षण (जैसा कि ऊपर कहा[६६] गया है; अनुमान आदि विकल्पों का ग्राह्य विषय सामान्य लक्षण है और अध्यवसेय विषय स्वलक्षण है) भी वस्तुसत् नहीं; अपि तु कल्पित ही है। इसी हेतु उसमें भावरूपता और अभावरूपता का कोई विरोध नहीं होता; क्योंकि विरुद्ध धर्मों का समावेश पारमार्थिक वस्तु में ही असम्भव है, अवस्तु (कल्पित पदार्थ) में तो हो ही सकता है। अतः यह (अध्यवसित स्वलक्षण) भावरूपता को छोड़कर अभावरूपता को ग्रहण कर लेती है

६३. अपि चात्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्यम् अन्यव्यावृत्तिकृतमेव। यथा गवाश्वमहिषमातङ्गानामत्यन्तविलक्षणानामपि सिंहव्यावृत्त्या सालक्षण्यम्। तथा च बाह्यस्य स्वलक्षणस्य विधिरूपस्य परमार्थसताऽपरमार्थसताऽत्यन्तविलक्षणेन सालक्षण्यमिति स्वभावहेतुः। बाह्यं हि विधिरूपमप्यगोव्यावृत्तम्। विकल्पविषयोऽपि चेदगोव्यावृत्तस्ततः सालक्षण्यं नान्यथा; तथा चसालक्षण्यमपि निमित्तवत्तया व्याप्तं तदनुपलब्ध्या विपक्षाद् व्यावर्तमानं स्वसाध्येन व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धिः। न्या० वा० ता०, पृ० ४८६-४८७।

६४. अपि चानुभूयत एव विकल्पविषयो व्यावृत्तिरूपः। तथा हि तदप्रतिमासने गां बधानेति देशितोऽश्वं बध्नीयाद् गोरश्वाद् भेदेनाप्रतिभासनात्। प्रतिभासे वा कथं नागोव्यावृत्तिप्रतिभासः। तस्मादन्यापोहगोचरौ शब्दविकल्पाविति। न्या० वा० ता०, पृ० ४८७।

६५. देखिये, अपि चालीकस्य ··· देवानां प्रियः। न्या० वा० ता०, पृ० ४८८।

६६. ऊपर, परि० ७ अनु० ५ (२)।

और मिथ्या सामान्य आदि (विकल्पविषय) की समानता को प्राप्त होती है। जैसा कि (दिग्नाग ने) कहा है[६७]—जिस पदार्थ (सामान्य) का विकल्पों द्वारा ग्रहण किया जाता और जिस (स्वलक्षण) का अध्यवसाय किया जाता है ये दोनों ही अन्यव्यावृत्तिरूप हैं,[६८] वस्तुसत् नहीं।[६९]

अब प्रश्न यह है कि क्या स्वलक्षण के दो रूप हैं—एक सत्य (परमार्थसत्) और दूसरा मिथ्या (अलीक)? वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों की ओर से इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—**अथ न वयमलीकं स्वलक्षणान्तरमातिष्ठामहे किं त्वलीकस्यैव दाहपाकादिकसामर्थ्यारोपम्। न तत्स्वलक्षणं तस्य सर्वतो व्यावृत्त्या अभिलापसंसर्गायोग्यत्वेन विकल्पज्ञानप्रतिभासाभावात्। अभिलापसंसर्गयोग्यस्य चान्वयिनोऽस्वलक्षणत्वात्। न्या० वा० ता०, पृ० ४८६।**

"हम (बौद्ध) यह नहीं कहते कि दूसरा कोई अलीक स्वलक्षण है। किन्तु मिथ्या-कल्पित (विकल्पों के विषयभूत अग्नि आदि) में ही दाह, पाक आदि सामर्थ्य का आरोप कर लिया जाता है। वह स्वलक्षण तो है नहीं; क्योंकि स्वलक्षण तो सब से भिन्न (सर्वतो व्यावृत्त) है, वह वाचक शब्द से संसर्ग के योग्य नहीं अतः उसका विकल्पों द्वारा भान नहीं हो सकता। जो वाचक शब्दों एवं विकल्पों का विषय है तथा देश, काल में अनुगत है (अन्वयिनः) वह तो स्वलक्षण है ही नहीं।"

भाव यह है कि अध्यवसाय का विषय जो पदार्थ है उसमें स्वलक्षण के अर्थक्रिया-सामर्थ्य का आरोप कर लिया जाता है। वह वस्तुतः स्वलक्षण नहीं, किन्तु उसमें 'स्वलक्षण' शब्द का औपचारिक प्रयोग किया गया है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है, इस समारोप का कारण भेदाग्रह ही है—**वह्निस्वलक्षणाद् दाहपाकादिकारिणो भेदाग्रहाद् अलीकस्य तद्रूपसमारोप इति। न्या० वा० ता०, पृ० ४८६।** "अर्थात् दहन, पाचन आदि क्रिया करने वाले अग्नि-स्वलक्षण से अलीक (विकल्प के विषय अग्नि आदि) का भेद-ग्रह नहीं होता अतः उसमें अर्थक्रियाक्षमता का आरोप कर लिया जाता है।"

यद्यपि बाह्यार्थवादी न्याय-वैशेषिक आदि की ओर से इस विषय में अनेक आक्षेप किये गये हैं तथापि बौद्ध-दर्शन ने यही निर्धारित किया है कि भेदाग्रह ही अलीक में समानता की प्रतीति का निमित्त है और अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं में समानता की प्रतीति अन्यव्यावृत्ति के द्वारा ही हो सकती है।

१३. निष्कर्ष

वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त विवेचन से बौद्ध-दर्शन के अपोहवाद पर निम्न प्रकाश पड़ता है—

(१) बाह्यार्थवादियों के भावरूप, नित्य तथा बाह्य सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

---

६७. मि० श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ४२४।

६८. 'वस्तुनः' के स्थान पर 'वस्तुनी' पाठ होगा। मि०, न्यायकणिका, पृ० १४८ पं० २।

६९. स्यादेतत्। अध्यवसीयमानमपि स्वलक्षणं न परमार्थसत्, अपि तु तदपि कल्पितं, तस्मात्तस्य विधिनिषेधरूपता न विरुध्येत, वस्तुनि हि विरुद्धधर्माध्यासो विरुध्यते नावस्तुनि तेनास्य विधिरूपपरित्यागेन निषेधरूपतामुपादायाऽलीकस्य सारूप्यमुपपद्यते। यथाऽऽह—'यच्च गृह्यते यच्चाध्यवसीयते ते द्वे अप्यन्यव्यावृत्ती न वस्तुन' इति। न्या० वा० ता०, पृ० ४८८।

(२) वस्तुओं में समानता की प्रतीति भ्रान्ति है, वह वस्तुओं के समान कार्य करने आदि के कारण होती है उसके लिये वस्तुसत् 'सामान्य' की आवश्यकता नहीं।

(३) वस्तुत: समानता की प्रतीति विधिरूप में नहीं होती अपि तु निषेधरूप में होती है।

(४) अनुभव तथा अनुमान द्वारा यह सिद्ध होता है कि यह प्रतीति अन्यव्यावृत्ति या अतद्व्यावृत्ति रूप है।

(५) अतएव बाह्यार्थवादियों की सामान्य की अपेक्षा अतद्व्यावृत्ति रूप अपोह की स्वीकृति युक्तिसंगत है। यह अपोह अलीक, विकल्पजन्य तथा सांवृतिक है। यह परमार्थसत् नहीं तथा इसकी बाह्य जगत् में सत्ता भी नहीं।

यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के अनुसार 'अपोह' की निषेधात्मकता का ही उल्लेख किया है तथापि बौद्ध-दर्शन में 'अपोह' की यत्किञ्चित् भावरूपता भी है, यह कमलशील तथा रत्नकीर्ति ने निर्देश किया है, जिसका उल्लेख डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने किया है।[७०] श्चेरबात्स्की ने "अपोह-सिद्धि" के उद्धरण द्वारा यह दिखलाया है कि बौद्ध-दर्शन में 'अपोह' शब्द से अन्यव्यावृत्ति-विशिष्ट भावरूपता (विधि:) का बोध होता है।[७१] इससे विदित होता है कि जो अपोह दिग्नाग और धर्मकीर्ति के यहाँ निषेधात्मक या अभावात्मक रूप में ही प्रसिद्ध था, वह आगे चलकर अन्यव्यावृत्तिविशिष्ट भाव रूप में माना जाने लगा।

---

७०. Critique of Indian Realism, p. 369.

७१. अपोहशब्देन अन्यापोहविशिष्टो विधिः उच्यते। अपोहसिद्धि, ६।
मि०, BL. Vol. II, p. 427 fn. 1.

परिच्छेद-१०

बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद

१—अनात्मवाद का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक सम्प्रदाय शरीर, इन्द्रिय तथा मन आदि से भिन्न आत्मा नाम का एक नित्य द्रव्य मानते हैं। किन्तु बौद्ध दर्शन इस नित्य द्रव्य रूप आत्मा का प्रतिवाद करता है, जैसा कि उद्योतकर ने बतलाया है—**नास्त्यजातत्वाद् इत्येके—'नास्त्यात्माऽजातत्वात् शशविषाणवत्।' न्या० वा०, पृ० ३३६।** "अर्थात् किन्हीं का मत है—आत्मा नहीं हैं, क्योंकि उसकी कारणों से उत्पत्ति (सिद्धि) नहीं होती जैसे शशविषाण (खरगोश के सींग) (सींग की खरगोश से उत्पत्ति नहीं होती अतएव शशविषाण नहीं है)"।

न्यायवार्त्तिक के इस कथन की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं:—"जैसा कि दूसरों (धर्मकीर्ति)[1] ने प्रतिपादन किया है—'अनादिवासना से उत्पन्न विकल्पों के आधार पर होने वाला जो भाव, अभाव तथा इन दोनों (भाव, अभाव) पर आश्रित शब्दों का अर्थ है वह तीन प्रकार का होता है।"

(१) भाव पर आश्रित होने वाला (धर्मी) जैसे—नील, (२) अभाव पर आश्रित (धर्मी) जैसे खरगोश का सींग, (३) दोनों (भाव तथा अभाव) पर आश्रित होने वाला (धर्मी) जैसे—अमूर्त्त (मूर्त्तिमान् न होना)। विज्ञान (जो भावरूप है) तथा शशविषाण (जो अभावरूप है) दोनों अमूर्त्त होते हैं।

वह 'आत्मा आदि' शब्द का प्रयोग बाह्य-पदार्थ-निमित्तक नहीं है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इस (आत्मा आदि) की बाह्य रूप में अनुपलब्धि (तथा अनुपलम्भनम्) ही साधन है। उस (विकल्पस्थ आत्मा आदि के) शब्दार्थ का ही अभाव नहीं है; क्योंकि तत्प्रतिपादक शब्दों का प्रयोग होता है। (अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है)

यह आत्मविषयक विकल्प बाह्य-वस्तु-निमित्तक नहीं होता, जिस प्रकार ('यह नील है' इस प्रकार का) नीलविषयक सविकल्पक ज्ञान बाह्य-नील-निमित्तक होता है (व्यतिरेकी दृष्टान्त)। आत्मविषयक ज्ञान बाह्य-वस्तु-निमित्तक नहीं, यह भाव है।"[2]

---

१. प्र० वा० (मनो०), ३. २०४–२०५।

२. यत् पुनरपरे समादधुः—

अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः।
शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मी भावाभावोभयाश्रयः॥

भावाश्रयो यथा नीलमिति, अभावाश्रयो यथा शशविषाणमिति, उभयाश्रयो यथाऽमूर्तमिति। अमूर्तं हि भवति विज्ञानं भवति च शशविषाणम्।

तस्मिन्बाह्यानुपादाने साध्येऽस्यानुपलम्भनम्।
तथा हेतुर्न तस्यैवाभावः शब्दप्रयोगत इति॥

सोऽयमात्मविकल्पो बाह्योपादानो न भवतीति। यथा नीलविकल्पो बाह्यनीलोपादानः नैवमात्मविकल्पो बाह्योपादान इत्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० ४६७।

बौद्ध-दर्शन का मन्तव्य यह है कि 'आत्मा है' इत्यादि प्रतीति विकल्पों से उत्पन्न होती है। विकल्पों का उद्भव अनादिकालीन वासना के कारण हुआ करता है। उन्हीं विकल्पों के आधार पर शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध जोड़ा जाता है अतः किसी शब्द के प्रयोग से ही किसी वस्तु की बाह्य जगत् में सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती। शब्दों का प्रयोग तो तीन प्रकार का देखा जाता है—(१) भाव के लिये (२) अभाव के लिये (३) भावाभाव के लिये। 'यह नील है' इत्यादि प्रयोग में 'नील' स्वलक्षण का बाह्य जगत् में अस्तित्व है। अतएव वस्तुभूत नील स्वलक्षण के लिये बाद में शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'शशविषाण' आदि वस्तु बाह्य जगत् में नहीं है उनके लिये जो शब्द-प्रयोग होता है वह अभावरूप पदार्थ के लिये ही है। 'अमूर्त्त' आदि शब्द वस्तुभूत विज्ञान आदि के लिये भी आते हैं और मिथ्याकल्पित 'शशविषाण' आदि के लिये भी। इस प्रकार मिथ्या कल्पित वस्तुएँ भी शब्द-प्रयोग तथा विकल्पों का विषय हैं अतः आत्मविषयक विकल्प तथा शब्द-प्रयोग आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकते। वास्तविकता तो यह है कि आत्मा आदि विषयक विकल्प तथा शब्द-प्रयोग बाह्य-वस्तु-निमित्तक नहीं होते तथा आत्मा आदि की बाह्य रूप में अनुपलब्धि होने के कारण इनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। आत्मा को विकल्प का विषय मानने वाला बौद्ध-दर्शन बाह्य जगत् में नित्य द्रव्य रूप आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, यही उसका अनात्मवाद है—नैरात्म्यवाद है।

अनात्मवाद का शाब्दिक अर्थ है-'आत्मा को न मानना' (The non-soul theory) बौद्ध-दर्शन का मन्तव्य है कि बाह्य तथा आध्यात्मिक सभी पदार्थों में नाना धर्म (elements) ही परमार्थसत् हैं। वे धर्म क्षणिक हैं तथा देश काल में अनुगत नहीं; अर्थात् कोई धर्म काल की दृष्टि से एक क्षण में ही रहता है दूसरे क्षण में वह नहीं रहता। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म ज्यामिति के बिन्दु (Point) के समान है, देश की दृष्टि से उसमें कोई विस्तार नहीं होता। जिस प्रकार बाह्य जगत् में अवयवी या द्रव्य को बौद्ध दर्शन नहीं मानता उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भी वह आत्मा नाम के द्रव्य को स्वीकार नहीं करता। यह कहा जा सकता है कि विज्ञानों की धारा के अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई स्थिर द्रव्य नहीं अथवा रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—इन पांच स्कन्धों से पृथक् आत्मा नाम की कोई एक वस्तु नहीं। यही अनात्मवाद है।[3] व्यापक अर्थ में—अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी नहीं। यही अनात्मता है। इस प्रकार अनात्मवाद का अर्थ है—बाह्य या आध्यात्मिक धर्मों में किसी स्थिर तत्त्व को स्वीकार न करना अथवा अद्रव्यवाद (non substance theory)। जैसा कि श्चेरवात्स्की ने लिखा है—"अनात्म शब्द का सामान्यतः 'न आत्मा' (non-soul) अनुवाद किया जाता है किन्तु वास्तव में यहाँ आत्मन् शब्द व्यक्तित्व, अहंतत्त्व (ego) व्यष्टि, प्राणी अथवा चेतन आदि का पर्याय है। इसमें यह भाव निहित है कि इन समस्त नामों से जो कुछ भी निर्दिष्ट किया जाता है, वह परमार्थसत्—चरम-सत्य नहीं, वह तो केवल परस्पर-सम्बद्ध उन तत्त्वों के समुदाय का नाम है, जिन तत्त्वों का वास्तविक तत्त्व या धर्म के रूप में निरूपण करने का बौद्ध-दर्शन ने प्रयास किया है। इस प्रकार नैरात्म्य (soullessness) केवल निषेधात्मक अभिव्यक्ति है, जो वस्तुतः परमार्थसत् तत्त्वों की सत्ता (धर्मता) की समानार्थक है।[4]"

---

३. भि०, यथोक्तं भगवता ये केचिद् भिक्षवः श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति इमानेते पञ्चोपादानस्कन्धानिति। बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४८८।

४. CCB., pp. 21-22.

बौद्ध-दर्शन के अनात्मवाद का क्या अभिप्राय है ? यह भी श्चेरबात्स्की के अनुसार इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—बौद्ध-दर्शन अनुभव के आधार पर व्यक्तित्व या आत्मा की सत्ता से इनकार नहीं करता यह तो केवल यह स्थापना करता है कि आत्मा परमार्थसत् (धर्म) नहीं है। व्यक्ति के लिये बौद्ध-दर्शन का शब्द परस्पर सम्बद्ध तत्त्वों की 'सन्तान' (धारा) है जो बौद्धों के दृष्टिकोण को अन्य दर्शनों के सिद्धान्त से पृथक् समझाने के लिये नियत किया गया है। इस व्यक्तित्व में मानसिक तत्त्व तथा उसके अपने शरीर के एवं बाह्य वस्तुओं के भी ऐसे भौतिक तत्त्व सम्मिलित हैं जो किसी व्यक्तित्व के अनुभव को उत्पन्न करते हैं।[5]"

श्चेरबात्स्की का कथन है कि बौद्ध दर्शन में मानसिक तथा भौतिक धर्मों की धारा के साथ २ किसी अन्य एक व्यक्तित्व को स्वीकार करने को ही आत्मवाद कहा गया है। जब कि किसी स्थिर (नित्य) आत्मा को स्वीकार करने को पुद्गलवाद नाम से पुकारा गया है।[6] समस्त बौद्ध सम्प्रदाय आत्मवाद का एक स्वर से विरोध करते हैं। वे धर्मता के सिद्धान्त के पोषक हैं। वास्तव में 'धर्म' शब्द अनात्मन् या नैरात्म्य का ही एक नाम है। किन्तु बौद्धों के दो सम्प्रदाय (वात्सीपुत्रीय तथा सम्मितीय) ऐसे भी हैं जो पुद्गलवाद को स्वीकार करते है।[7] वसुबन्धु ने उनके अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए यही दिखलाया है कि आभ्यन्तर स्कन्ध किसी विशेष क्षण में नियत व्यक्तित्व को प्राप्त करते हैं जो (व्यक्तित्व) उन स्कन्धों में इस प्रकार ओत-प्रोत या सम्बद्ध होता है जैसे अग्नि इन्धन में ओत-प्रोत होती है। यह व्यक्तित्व 'धर्म' जैसी परमार्थसत्ता नहीं रखता और धर्मों में इसकी गणना भी बौद्ध दर्शन के अनुसार नहीं की जाती फिर भी यह नितान्त अलीक (मिथ्या) भी नहीं है। इस पुद्गल में स्थिरता भी प्रतीत होती है; क्योंकि यह माना जाता है कि यह पुद्गल जन्म के समय कुछ नवीन तत्त्व (धर्म) ग्रहण करता है और मृत्यु के समय उन्हें त्याग देता है।[8]

भारवाह सम्बन्धी सूत्र से यह भी प्रतीत होता है कि पुद्गल की आंशिक वास्तविकता स्वयं बुद्ध को भी अभिमत थी।[9] उद्योतकराचार्य ने यह प्रकट करते हुए कि आत्मा नहीं है' यह कहने वाला बौद्ध अपने सिद्धान्त के विरुद्ध कहता है, भारवाह सम्बन्धी सूत्र को उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य है—"हे भिक्षुओं; तुम्हें भार क्या है ? यह उपदेश दूँगा तथा भारवाही कौन है यह भी। रूप आदि पंचस्कन्ध ही भार हैं और पुद्गल ही भारवाही है। जो यह कहता है कि आत्मा नहीं है वह मिथ्यादृष्टि वाला है।"[10]

किन्तु यह एकदेशीय मत है। सभी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय इसे स्वीकार नहीं करते। वे तो आत्मा और पुद्गल को समान मानते हुए एक सी युक्तियों से ही दोनों का प्रतिकार करते हैं। सामान्यतः सभी बौद्ध दार्शनिकों के मत में आत्मा, पुद्गल, व्यक्ति तथा व्यक्तित्व आदि का भास विकल्प-जन्य है, मिथ्याप्रतीति है। इससे किसी परमार्थसत्

५. वही, पृ० २२।
६. मि०, CCB. p. 58.
७. केचित् सौगतंमन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते। बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४५६।
८. CCB. p. 58.
९. मि०, CCB., p. 58.
१०. भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारहारं च, भारः पञ्चस्कन्धा भारहारश्च पुद्गल' इति। यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवति। न्या० वा०, पृ० ३३६।

वस्तु की प्रतीति नहीं होती अपितु विभिन्न धर्मों के समुदाय अथवा धारा का ही यह नाम हैं।[११] यही बौद्धों का अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद है। ऊपर की कारिकाओं में बौद्धों के अनुसार आत्मवाद का खण्डन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इसी अनात्मवाद की ओर संकेत किया है। तात्पर्यटीका में अन्यत्र भी स्पष्ट रूप में बतलाया गया है—यद्यपि **विशरारवः स्कन्धास्तथाऽप्यनाद्यविद्यावासनावशोऽयमेकमहंकारास्पदं सत्त्वमित्यभिमन्यमानः सुखी भवेयं दुःखी मा भूवमिति तृष्णक् प्रवर्तत इत्यर्थः।** न्या० वा० ता०, पृ० ५०७। "अर्थात् यद्यपि रूपादि स्कन्ध नश्वर हैं (क्षणिक हैं) तथापि यह (व्यक्ति) अनादि अविद्या की वासना के वशीभूत होकर अहंभाव (मैं हूं) का विषय एक तत्त्व है इस प्रकार की भ्रान्ति में पड़ा हुआ (अभिमन्यमानः) मैं सुखी होऊँ यह सोचता हुआ तृष्णायुक्त होकर प्रवृत्त होता है।"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है (१) रूप आदि स्कन्धों के समुदाय में विकल्पजन्य 'यह आत्मा है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इससे आत्मा की बाह्य जगत् में सत्ता सिद्ध नहीं होती। धर्मों की ही पारमार्थिक सत्ता बौद्ध दर्शन में मानी गई है धर्मी या द्रव्य की नहीं। विज्ञान आदि की धारा में ही आत्मा या पुद्गल की मिथ्या प्रतीति होती है। वस्तुतः आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं, यही अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद कहलाता है।

(२) इस विज्ञान धारा के स्वरूप के विषय में बौद्ध सम्प्रदायों में कुछ अवान्तर मतभेद रहे हैं। प्राचीन योगाचार दर्शन में विज्ञान को ही मूल तत्त्व माना गया था और उसका विश्लेषण करके उसे दो भागों में बांटा गया था—(१) प्रवृत्तिविज्ञान (२) आलय-विज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान ६ माने गये हैं—५ इन्द्रियों के रूप आदि ज्ञान, जो कि विषय तथा इन्द्रिय का सम्पर्क होने पर निर्विकल्पक रूप में होते हैं। छठा मन का विज्ञान है।[१२] ये छः विज्ञान आलय-विज्ञान में उत्पन्न होते तथा विलीन होते हैं। विज्ञानवादी बौद्धों ने इस आलय-विज्ञान को प्रवृत्ति-विज्ञान से भिन्न स्वीकार किया है। वे आलय-विज्ञान को एक समुद्र के समान मानते हैं जिसमें प्रवृत्तिविज्ञान ही नहीं समस्त विश्व प्रकट तथा विलीन होता रहता है।[१३] यह आलय- विज्ञान उक्त छः विज्ञानों के साथ जन्मता मरता भी अपने प्रवाह (सन्तान) में सारे प्रवृत्ति-विज्ञानों का आलय (घर) है। इसी में पहले संस्कारों की वासना और आगे उत्पन्न होने वाले विज्ञानों की वासना रहती है।[१४]

इस मन्तव्य को वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार दर्शाया है—

पूर्वचित्तं प्रवृत्तिविज्ञानं यत्तत् षड्विधम्, पञ्च रूपादिज्ञानान्यविकल्पकानि षष्ठं च विकल्पविज्ञानं, तेन सह जातः समानकालः चेतनाविशेषस्तदालयविज्ञानमित्युच्यते। अहङ्कारास्पदं स्मृतिशक्तिः, सा च न शक्तात्तज्ज्ञानादतिरिच्यते, तेन कथञ्चिद्भेदविवक्षया शक्ति-विशिष्टमित्युच्यते। न्या० वा० ता०, पृ० २१५।

न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के इस अवतरण में विशेषतः स्मृति की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है अतः स्मृति सम्बन्धी अनुच्छेद में इसकी विवेचना की जायेगी। यहाँ तो केवल यही द्रष्टव्य है कि वाचस्पति मिश्र ने प्रवृत्तिविज्ञानों के समान काल में उत्पन्न होने

---

११. मि०; CCB. pp. 58-59.

१२. मि०, राहुल सां०, बौद्धदर्शन, पृ० १३६।

१३. वही, पृ० १०५।

१४. मि०, राहुल सां०, बौद्ध दर्शन, पृ० १३६।

वाले आलय-विज्ञान का उल्लेख किया है, यह आलय-विज्ञान चेतनाविशेष है, किन्तु क्षणिक है। इसी से पूर्व विज्ञान की वासना से विशिष्ट (शक्तिविशिष्ट) चित्त (विज्ञान) की उत्पत्ति होती है और स्मृति उत्पन्न होती है यह आलय-विज्ञान चित्त की धारा मात्र है अतः इसे आत्मा का पर्याय नहीं कहा सकता।

न्याय-वैशेषिक आदि आत्मवादी दर्शनों ने आत्मा की सिद्धि के लिये अनेक साधन प्रस्तुत किये हैं। बौद्ध दर्शन में इन समस्त युक्तियों का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादन किया गया है कि नैरात्म्यवाद में भी ये सब बातें किसी प्रकार सम्भव है। अग्रिम अनुच्छेदों में वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रतिपादित प्रकार से बौद्ध दर्शन के एतद्विषयक मन्तव्यों का निरूपण किया जा रहा है।

२. अनात्मवाद में स्मृति तथा प्रतिसन्धान

आत्मा की सिद्धि में स्मृति तथा प्रतिसन्धान विशेष हेतु हैं। न्याय-वैशेषिक के आत्मवाद का यही मुख्य संबल है। उसका कहना है कि एक वस्तु का पहले अनुभव होता है फिर उस वस्तु के विद्यमान न होते हुए भी उसका स्मरण हुआ करता है। दूसरी एक प्रकार की प्रतीति और भी देखी जाती है 'जिस घट को मैंने देखा था उसे ही में छूकर जान रहा हूँ, इस प्रकार एक ही वस्तु का भिन्न २ समयों में नेत्रों द्वारा तथा स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ज्ञान होता है।[१५] यह तभी संभव है जब कि एक कोई स्थिर तत्त्व (आत्मा) भिन्न २ कालों में विद्यमान रहता हुआ एक ही वस्तु को भिन्न २ इन्द्रियों से अनुभव करे। इस प्रतीति में विषय (घट) की एकता का ही भान नहीं होता अपितु दोनों ज्ञानों के कर्ता की एकता का भी ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रतिसन्धान ज्ञान कहलाता है। प्रतिसन्धान का अर्थ है—एक विषय में पहिले अनुभव की स्मृति सहित दूसरे अनुभव का होना।[१६] नैयायिक का कहना है कि बौद्धों की विज्ञान-धारा में यह प्रतिसन्धान नहीं बन सकता; क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अपने २ विषय में नियत है। जिस विज्ञान द्वारा घट का अनुभव किया गया था वह तो क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गया, वह स्पर्श के समय विद्यमान नहीं; फिर प्रतिसन्धान कैसे हो सकता है। देवदत्त की देखी हुई वस्तु का यज्ञदत्त को तो प्रतिसन्धान नहीं होता। अतः एक विज्ञान द्वारा अनुभूत विषय का दूसरे विज्ञान को प्रतिसन्धान न हुआ करेगा।[१७]

यदि बौद्ध कहे कि आत्मा रूप ज्ञाता के न होने पर तथा विज्ञानों का भेद होने पर भी प्रतिसन्धान हो सकता हैं; क्योंकि विज्ञानों की एक सन्तान होती है,[१८] तो यह ठीक नहीं; क्योंकि उनके यहाँ यह सन्तान विज्ञानों की धारा से भिन्न कोई वस्तु नहीं। इन शंकाओं का समाधान करते हुए बौद्धों ने जो युक्तियाँ दी हैं उनका वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक की व्याख्या करते हुए इस प्रकार उल्लेख किया है—**वस्तुतः कार्यकारणभूतानामगृहीतभेदानां प्रतिसन्धानहेतुभावः सभागेषु क्षणेषु तथा दर्शनाद् इति। न्या० वा० ता०, पृ० २१३ पं० १०** "वास्तव में तो जिन कारणभूत एवं कार्यरूप विज्ञानों

---

१५. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। न्यायसूत्र, ३.१.१।

१६. स्मृत्या सह पूर्वापरप्रत्ययैकविषयत्वेन प्रतिसन्धानम्। न्या० वा०, पृ० ६६ पं० २।

१७. नियतविषये बुद्धिभेदमात्रे न संभवति देहान्तरवदिति। न्यायभाष्य, पृ० ३०।

१८. असत्यपि आत्मनि ज्ञातरि सत्यपि च बुद्ध्यादीनां भेदे तत्सन्तानाभेदेन प्रतिसन्धानव्यवस्थोपपत्स्यते, इति। न्या० वा० ता०, पृ० २११ पं० ११।

में भेद का ग्रहण नहीं होता वे प्रतिसन्धान के हेतु होते हैं, सभाग (समान) क्षणों में इसी प्रकार देखा जाता है।"

बौद्ध के इस कथन का भाव यह है कि इस प्रतिसन्धान से एक स्थिर आत्मा की सिद्धि नहीं होती अपि तु विज्ञानों की धारा होते हुए भी उनमें प्रतिसन्धान हो सकता है। यह प्रतिसन्धान तो कारण-कार्य-भाव से होता है। जैसा कि न्यायवार्त्तिकार ने बतलाया है—"पूर्व २ विज्ञानविशेष से दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है उसमें पूर्वविज्ञान की शक्ति (संस्कार) का अनुगमन होने से पूर्व संस्कार निहित होते हैं इसलिये विज्ञानों के भिन्न २ होने पर भी कार्यकारणभाव से प्रतिसन्धान हो जाता है।"[१९] जिस विज्ञानक्षण ने घट आदि का दर्शन किया, वह घटवासना से वासित कहा जायेगा, उससे उत्पन्न होने वाला विज्ञानक्षण इस अतिशय से विशिष्ट ही उत्पन्न होगा। इसलिये पूर्वविज्ञान की अनुभूत वस्तु में इस प्रकार का प्रतिसन्धान हो सकता है कि जिस घट को मैंने देखा था उसको ही मैं छू रहा हूँ।

कारणकार्यभाव से यह प्रतिसन्धान इसी प्रकार हो जाता है, जैसे—किसी धान के बीज से अंकुर होता है। तन्निमित्तक होने से उसमें धान की शक्ति का अनुगमन हो जाता है। इसके पश्चात् वह अंकुर पृथ्वी आदि महाभूतों से अनुगृहीत होकर अगले धान के बीजों को उत्पन्न करता है, यवबीजों को नहीं; क्योंकि वह यव से उत्पन्न नहीं है। इसी प्रकार एक सन्तान में स्थित जो विज्ञान हैं उनमें कार्य-कारण की व्यवस्था होने से प्रतिसन्धान हो जाता है; किन्तु अन्य सन्तान में स्थित विज्ञानों का वह प्रतिसन्धान नहीं होता; क्योंकि वे उस विज्ञान से उत्पन्न होने वाले नहीं हैं। यह कार्यकारणभाव ही प्रतिसन्धान का नियामक है। अतएव देवदत्त की देखी हुई वस्तु में यज्ञदत्त को प्रतिसन्धान नहीं होता।[२०] देवदत्त नामक व्यक्ति की कायसन्तान भिन्न है तथा यज्ञदत्त नामक व्यक्ति की भिन्न। उन दोनों सन्तानों के विज्ञान में कार्यकारणभाव नहीं होता। क्षणध्वंसी तत्त्वों की दो प्रकार की सन्तान है? एक सभाग और दूसरी विसभाग।[२१] जैसे घट-सन्तति में जब तक सभाग क्षण (घटक्षण) उत्पन्न होते रहते हैं तब तक घट प्रतीति होती है, यह वही घट है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। किन्तु जब घट के फूट जाने पर विसभाग (असमान) सन्तति आरम्भ हो जाती है तब 'यह घट है' या 'वही घट है' आदि प्रतीति नहीं हुआ करती। इससे यह समझ में आता है कि क्षणों का कार्यकारणभाव ही प्रत्यभिज्ञा या प्रतिसन्धान का नियामक है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार प्रतिसन्धान में तीन बातें सम्मिलित हैं—(१) विषय की एकता (२) दो विज्ञानों द्वारा उसका अनुभव तथा (३) स्मृति। स्मृति के बिना प्रतिसन्धान

---

१९. पूर्वपूर्वबुद्धिविशेषादुत्तरमुत्तरं बुद्ध्यन्तरं पूर्वबुद्धिशक्त्यनुविधानात् सकलाहित-शक्तिकलापमुत्पद्यते, अतो नानात्वेपि बुद्धीनां कार्यकारणभावात प्रतिसन्धानं बीजादिवदिति। न्या० वा०, पृ० ६५।

२०. तद्यथा शालिगुटिकाद्यनन्तरमङ्कुरः प्रादुर्भवति, तस्य शालिशक्त्यनुविधानं तत्पूर्वकतया व्यवतिष्ठते, अनन्तरं महाभूतैरनुगृह्यमाणमुत्तरशालिबीजं जनयति न यवबीजं, अतत्पूर्वकत्वात्, तथेहाप्येकसान्तानिकानां बुद्धीनां कार्यकारणव्यवस्थानात प्रतिसन्धानम्, अतत्पूर्वकत्वात् न सन्तानान्तरबुद्धीनाम्। वही, पृ० ६५।

२१. सभाग (समानरूप) सन्तति में कारण और कार्य में भेद की प्रतीति नहीं होती अतएव यह वही वस्तु है इस प्रकार का प्रतिसन्धान हो जाता है।

नहीं हो सकता। स्मृति कैसे होती है? इसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया संक्षेप में यह है कि इन्द्रियों द्वारा कोई अनुभव होता है उस अनुभव का एक संस्कार शेष रह जाता है। उसी संस्कार के आधार पर साहचर्य (association) आदि निमित्तों से स्मृति हो जाती है। न्याय-वैशेषिक इस स्मृति द्वारा भी देहेन्द्रिय बुद्धि आदि से भिन्न एक आत्मा की सिद्धि करता है तथा प्रतिसन्धान ज्ञान में भी इस स्मृति का मुख्य सहयोग है।

बौद्ध-दर्शन का कथन है कि विज्ञानों की क्षणिकता भी स्मृति में बाधक नहीं। क्षणिक विज्ञानों में स्मृति कैसे संभव है? इस बात को बौद्धों के अनुसार निम्नरूप से बतलाया गया है:—'कार्यकारणभावादेव, यत्कायचित्तसन्ताने स्मृतिरनुभवो वोत्पद्यते सः कायचित्तसन्तानः स्मर्ता चानुभविता च भवति' (न्या० वा०, पृ० ६६) तथा **'उपादानोपादेयभावेनावस्थितः चित्तप्रवाहः सन्तानः'। न्या० वा० ता०, पृ० २१४।** "अर्थात् कार्यकारण भाव से ही स्मृति बन सकती है। जिस कायचित्त के एक सन्तान में[२२] अनुभव तथा स्मृति होती है वही अनुभविता तथा स्मर्ता होता है।" "पहला चित्त दूसरे का उपादान (कारण) होता है तथा दूसरा चित्त प्रथम का कार्य (उपादेय) होता है इस प्रकार जो चित्त (विज्ञान) का प्रवाह चलता रहता है वही सन्तान है।" (वही अनुभविता होता है तथा वही स्मर्ता भी)।

भाव यह है कि यद्यपि विज्ञान क्षणिक हैं तथापि प्रथम विज्ञान (कारण) से जो द्वितीय विज्ञान (कार्य) उत्पन्न होता है वह अतिशय (शक्ति-विशेष) विशिष्ट होता है। इसी हेतु पहले विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु में उसकी स्मृति हो जाती है। जैसा कि कहा है—**पूर्वचित्तसहजाच्चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना। न्या० वा०, पृ० ६६।** "अर्थात् पूर्वचित्त (प्रवृत्तिविज्ञान) के साथ उत्पन्न होने वाली चेतनाविशेष (आलय-विज्ञान) से पूर्वशक्तिविशिष्ट दूसरा चित्त उत्पन्न होता है। यह शक्तिविशिष्ट चित्त की उत्पत्ति ही वासना है।" इसका विवेचन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—**(स्मृतिशक्तिः) सा च न शक्तात्तज् ज्ञानाद् अतिरिच्यते। तेन कथञ्चिद् भेदविवक्षया शक्तिविशिष्टमित्युच्यते। न्या० वा० ता०, पृ० २१५** "(वार्त्तिक में) शक्ति का अर्थ स्मृति की शक्ति है और (बौद्ध-दर्शन में शक्ति तथा शक्तिमान् के भिन्न न होने के कारण) वह शक्ति समर्थज्ञान से पृथक् नहीं है, इसलिये किसी प्रकार भेद की विवक्षा से (कल्पित भेद द्वारा) शक्ति को ही शक्तिविशिष्ट कहा गया है।

यहाँ न्याय-वैशेषिक की ओर से यह शंका होती है कि क्षणिक विज्ञानों में वासना का संक्रमण नहीं हो सकता; जैसा कि कहा गया है—"लोक में स्थिर और सम्बद्ध वस्त्र आदि को कस्तूरी के द्वारा सुवासित किया गया देखा जाता है अतः अस्थिर (क्षणिक) अतएव परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले विज्ञानों में यह वास्य-वासक भाव नहीं हो सकता।"[२३]

इसके उत्तर में बौद्ध-दर्शन का कथन है कि क्षणिक विज्ञानों में भी वासक-वास्य भाव हो सकता है; क्योंकि (१) बौद्ध के मत में सब वस्तुएँ क्षणिक हैं ऐसी वस्तु संसार में कोई नहीं है जो स्थिर हो और उसमें किसी वस्तु के द्वारा कोई वासना उत्पन्न की जाती

२२. कायग्रहणं चैकसन्तानोपलक्षणपरम्। न्या० वा० ता०, पृ० २१४ पं० १६।

२३. स्थिरस्य सम्बद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति नास्थिरेऽसम्बद्धे च भवितुमर्हति। वही, पृ० २१५ पं० १०।

हुई देखी जाती हो;[२४] (२) यद्यपि विज्ञान अस्थिर हैं तथापि वे पूर्वापरकाल में होते हैं अतः उनमें सम्बन्ध है ही। अतएव एक चित्त की वासना से अन्य चित्त में स्मृति हो सकती है।[२५]

यहाँ वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध दर्शन के अनुसार स्मृति की प्रक्रिया को अत्यन्त स्पष्ट रूप में दर्शाया है। जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है, विज्ञान दो प्रकार का है—प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान। जब एक प्रवृत्ति-विज्ञान, जैसे घट का चाक्षुष-ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस काल में आलय-विज्ञान स्मृति की शक्ति (वासना, संस्कार या अतिशय) से युक्त हो जाता है। उस आलयविज्ञान से जो अग्रिम प्रवृत्ति-विज्ञान रूपी तरंग आविर्भूत होते हैं वे उस पूर्व शक्ति से विशिष्ट होते हैं। अतएव पूर्व प्रवृत्ति-विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु की स्मृति होना संभव है। इस पर न्याय-वैशेषिक की दो आपत्तियां हैं—एक तो यह कि क्षणप्रध्वंसी विज्ञानों के द्वारा वासना का आधान ही नहीं हो सकता; क्योंकि बौद्ध के मत में निरन्वय विनाश[२६] माना जाता है अर्थात् कोई भी वस्तु नष्ट होती हुई अपना कोई तत्त्व अवशिष्ट नहीं छोड़ती। अतः पूर्व उत्पन्न अनुभव ऐसी किसी वासना को उत्पन्न करके नष्ट नहीं होगा जिससे कालान्तर में स्मृति की उत्पत्ति हो सके।[२७] दूसरी आपत्ति यह है कि पूर्व और उत्तर विज्ञान में कोई सम्बन्ध नहीं (पूर्व विज्ञान नष्ट हो जाता है तब द्वितीय विज्ञान उत्पन्न होता है) इस प्रकार विज्ञान समानकालीन ही नहीं फिर उनमें सम्बन्ध कैसे हो सकता है।[२८]

इन दोनों शंकाओं के समाधान में बौद्ध दर्शन का यही कथन है कि जब संसार की समस्त वस्तुएँ ही (हमारे मत में) क्षणिक हैं तो वस्त्र तथा कस्तूरी आदि भी क्षणिक हैं ही। यहाँ क्षणिक वस्तुओं में ही वास्य-वासक-भाव देखा जाता है। इसी प्रकार क्षणिक विज्ञानों में भी वास्य-वासक-भाव सम्भव है। ऐसा तो कोई उदाहरण दिया नहीं जा सकता, जहाँ स्थिर वस्तुओं में भी वास्य-वासक-भाव देखा जा सके। दूसरी शंका भी निर्मूल है; क्योंकि यह ठीक है कि ज्ञान क्षणिक हैं फिर भी उनमें समानकालता तो है ही जब एक ही क्षण में एक विज्ञान उत्पन्न होता है और दूसरा नष्ट होता है तो समानकालता क्यों नहीं? एक विज्ञान के द्वारा दूसरा विज्ञान अनुवासित हो सकता है तथा स्मृति की उत्पत्ति में किसी विवाद का अवसर नहीं। स्मृति के हो जाने पर प्रतिसन्धान भी संभव ही है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के अनुसार विज्ञानों की क्षणिक सन्तति में भी प्रतिसन्धान, स्मृति तथा स्मृति का हेतु वासना सभी की व्यवस्था हो जाती है।

---

२४. नास्माकं क्षणिकवस्तुवादिनामस्ति तज्जगति यदवस्थितं वासकेन वास्यमानं दृष्टमिति। वही, पृ० २१४-२१५।

२५. अस्थिरयोरपि ज्ञानयोः समानकालतयाऽस्ति सम्बन्ध इति कस्मादन्यतरच्चित्तवासितमन्यतरच्चित्तं स्मृतिं नाधत्ते। वही, पृ० २१५ पं० १३।

२६. ऊपर, परि० ८ अनु० ६ (ङ)।

२७. नास्थिरत्वाद् बुद्धीनाम्—न ह्यजातानन्वयध्वस्तयोरस्ति कश्चिद् विशेष इति पूर्वोत्पन्नोऽनुभवः काञ्चन वासनामाधाय प्रध्वंसते यया कालान्तरे स्मृतिराधीयते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। न्या० वा० ता०, पृ० २१४।

२८. असम्बन्धाच्चेति। न च बुद्धीनामसमानकालानामस्ति सम्बन्ध इत्यर्थः। वही, पृ० २१४।

३. अनात्मवाद में कर्मफल-व्यवस्था

न्याय-वैशेषिक का कथन है कि बौद्धों के अनुसार देह, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वेदना आदि के संघात से भिन्न आत्मा नाम की कोई स्थिर वस्तु नहीं अतः कर्मफल-व्यवस्था नहीं बन सकती। बौद्धों के मत में यह देहेन्द्रिय बुद्धि आदि का संघात भी क्षणिक है, क्षण-प्रध्वंसी है। जो संघात कर्म करता है, वह कर्म करके नष्ट हो जाता है तथा फल भोगते समय दूसरा ही होता है। सामान्य नियम तो यह है कि जो कर्म करता है उसे ही कर्म का फल मिलता है।[२९] बौद्धों के मत में यह कैसे सम्भव है? इसलिए किये हुए कर्म का नाश (कृतविनाशः) और बिना किये का भोग (अकृताभ्यागमः) यह दोष होता है।[३०] बौद्ध-दर्शन न्याय-वैशेषिक की इन शंकाओं का समाधान करता हुआ अनात्मवाद में कर्मफल-व्यवस्था को स्वीकार करता है। अनात्मवाद में कर्मफल-व्यवस्था कैसे बन सकती है, इसका विवेचन वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों की ओर से निम्न प्रकार से किया है—**येन कायेनोपलक्षितः कश्चिच्चित्तसन्तानः स कायान्तरवर्त्यपि फलं भुङ्क्त इत्यर्थः।** न्या० वा० ता०, पृ० ५०६ पं० ८। अर्थात् जिस काया से उपलक्षित कोई चित्त-सन्तान होता है वही दूसरी काया में जाकर फल भोगता है।[३१]

बौद्ध-दर्शन का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार विज्ञानों के कारणकार्यभाव से स्मृति हो जाती है इसी प्रकार कारण-कार्य-भाव से ही कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व की भी व्यवस्था हो जाती है।[३२] इस कर्मफल-व्यवस्था को भौतिक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है,—"धान के बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, धान बीज के नष्ट हो जाने पर पौधे आदि की उत्पत्ति होकर पृथिवी आदि भूतों की सहायता से फिर धान बीज का प्रादुर्भाव हो जाता है। वहाँ कोई अनुगत एक निमित्त नहीं होता तथापि यह नियम है कि धान बीज से होने वाले अंकुर से धान बीज ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कारण-कार्य-रूप से व्यवस्थित जो चित्त-सन्तति है उसके चित्तों में विपाक दशा को प्राप्त हुए कर्मों से फल उत्पन्न हो जाता है।"[३३] अथवा जिस प्रकार लाक्षा के रस से भावना दिये हुए (भावित) बीजों को बोने से उनके पुष्प फल तथा कपास आदि में भी लालिमा आ जाती है; इसी प्रकार एक चित्त-सन्तान "के किसी विज्ञान-क्षण के कर्म का फल अग्रिम विज्ञान-क्षणों को प्राप्त होता है।"[३४]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस काया में रहने वाली चित्त-सन्तति के प्रवाह का कोई चित्तक्षण कर्म करता है उसी चित्तसन्तति का अन्य क्षण उस कर्म का फल भोगता है, दूसरी चित्तसन्तति का नहीं। इसलिये जो चित्त-सन्तति कर्म करती है वही फल भोगती है तथा कृतनाश, अकृताभ्यागम नाम का दोष नहीं होता।

---

२९. शास्त्रचोदितं फलमनुष्ठातरीत्ययमुत्सर्गः। न्या० वा० ता०, पृ० ५०६ पं० ४।

३०. तदेवमकृतकृताभ्यागमविनाशदोषप्रसङ्गः। न्या० वा०, पृ० ३५० पं० १७।

३१. मि०, सन्तानैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितम्। बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४७१।

३२. हेतुफलभावात् स्मृतिवत्कर्तृभोक्तृव्यवहारः। न्या० वा०, पृ० ३५० पं० २०।

३३. वही, पृ० ३५१।

३४. मि०, यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कर्पासे रक्तता यथा।
बोधचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४७२।

बौद्धमत में कार्यकारण-भाव से ही एक विज्ञानक्षण के किये हुए कर्म को दूसरा विज्ञानक्षण भोगता है, लोक के दृष्टान्तों से यही बात विदित भी होती है। वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के इस मन्तव्य को योगभाष्य की तत्त्ववैशारदी व्याख्या में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"(बौद्धमत में) कोई असंगति नहीं; क्योंकि कार्य-कारण-भाव होने पर (स्मृति तथा फलोपभोग होता है) यह माना जाता है। (लोक वेद में अन्य कर्ता के कार्य का फल अन्य में जन्य-जनक-भाव से देखा जाता है) श्राद्ध का फल न करने वाले माता-पिता में तथा वैश्वानरीय यज्ञ का फल (पुत्र प्राप्ति) पुत्र में देखा जाता है। इसी प्रकार आम्र के बीज को मधुर रस की भावना दी जाती है और परम्परा से आम्र के फल मधुर हो जाते हैं। यह सब कार्य-कारण-भाव से ही होता है। एक बात और भी है किसी विज्ञान से प्रतीत्य-समुत्पन्न विज्ञानों का यह स्वभाव ही है कि वे ही (पूर्व विज्ञान की बात को) स्मरण करते हैं तथा फल भोगते हैं, अन्य नहीं। स्वभाव में तो ये प्रश्न विप्रश्न (नियोगपर्यनुयोगौ) हो नहीं सकते कि ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये अथवा ऐसा क्यों नहीं होता है।"[३५] इस प्रकार अनात्मवाद में भी कर्म-फल-व्यवस्था बन सकती हैं। इसमें कोई बाधा नहीं।

४. अनात्मवाद में जन्म-मरण-व्यवस्था

बौद्ध-दर्शन ने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यह सिद्ध किया है कि जन्म-मरण-व्यवस्था नैरात्म्यवाद में ही बन सकती है, आत्मवाद में नहीं। बौद्धों की युक्तियों का निरूपण करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं - "जन्म और मरण (उत्पादोच्छेद) को ही प्रेत्यभाव कहा जाता है। यदि आत्मा नित्य है तो उसकी उत्पत्ति और मृत्यु नहीं होनी चाहिये। इसलिये आत्मा को नित्य मानने पर प्रेत्यभाव नहीं बन सकता। बौद्धों के मतानुसार तो चेतन (सत्त्व) की उत्पत्ति तथा विनाश होता है अतएव प्रेत्यभाव बन सकता है।"[३६] यहाँ नैयायिक की ओर से यह शंका होती है कि 'प्रेत्य-भाव' का अर्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना नहीं हो सकता; क्योंकि प्रेत्य-भाव शब्द के 'प्रेत्य' अंश में ल्यप् प्रत्यय हुआ है और जहाँ एक ही कर्ता दो कार्यों को करता है वहाँ पूर्वकालीन क्रिया की वाचक धातु से ल्यप् प्रत्यय होता है।[३७] यदि एक ही आत्मा का मरकर (प्रेत्य) पुनर्जन्म (भाव) माना जाये तभी यहाँ ल्यप् प्रत्यय संगत होता है। अत: आत्मा को नित्य मानने पर ही प्रेत्यभाव बन सकता है। इस प्रकार प्रेत्यभाव का अर्थ 'मरकर पुनर्जन्म' मानना चाहिये।

इसके उत्तर में बौद्धों की ओर से कहा गया है कि 'जिस प्रकार मुख खोलकर सोता है (मुखं व्यादाय[३८] स्वपिति) यहाँ पर पहले सोता है तब मुख खोलता है अत: 'सोना' (स्वाप) पूर्वकालीन क्रिया है और 'स्वप्' धातु से ल्यप् प्रत्यय होना चाहिये, किन्तु पश्चात् होने

---

३५. ननु नातिप्रसज्यते कार्यकारणभावे सतीतिविशेषणात्। श्राद्धवैश्वानरीयेष्ट्यादावकर्तृमातृ-पितृपुत्रादिगामिफलदर्शनात् मधुररसभावितानां वाऽऽम्रबीजादीनां परम्परया फलमाधुर्यदर्शनात्। ......स्वप्रत्ययं प्रतीत्य समुत्पन्नानां स्वभाव एवैषां तादृशो यत्त एव स्मरन्ति फलं चोपभुञ्जते न त्वन्ये। न च स्वभावा नियोगपर्यनुयोगावर्हन्ति एवं भवतु, मैवं भूदिति वा कस्मान्नैवमिति वा। तत्त्ववैशारदी, १.३२ (पृ० ३६)।

३६. उत्पादोच्छेदौ प्रेत्यभावो न चात्मनो नित्यस्य तौ स्तः तस्मादस्मिन् दर्शने न युक्तः प्रेत्यभावः। वैनाशिकानां तु सत्त्वोत्पादनिरोधाभ्यां युक्तः प्रेत्यभावः।

न्या० वा० ता०, पृ० ५८९-५९०।

३७. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले। पाणिनि, ३/४/२१॥

३८. सिद्धान्तकौमुदी, सूत्रसंख्या, ३३४२।

वाली क्रिया (व्या+दा) से ल्यप् प्रत्यय देखा जाता है। ठीक इसी प्रकार 'प्रेत्यभाव' का भी 'भूत्वा प्रायणम्' अर्थात् 'उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना' यह अर्थ है; किन्तु यहाँ पश्चात् होने वाली क्रिया (प्र+इ) से ल्यप् प्रत्यय हो गया है। विज्ञान-क्षण उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाता है जो उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है। अतएव दोनों क्रियाएँ समानकर्तृक हैं और ल्यप् प्रत्यय सहज ही में निष्पन्न हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध मत में ही प्रेत्यभाव बन सकता है आत्मा को नित्य मानने पर नहीं।[३९]

यहाँ यह शंका भी हो सकती है कि जब आत्मा या जीव नाम की कोई चीज़ नहीं है तो बौद्ध-दर्शन के अनुसार जन्मान्तर में गमन कैसे बन सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में इसका विवेचन नहीं किया गया। किन्तु अभिधर्मकोश में इसका उत्तर स्पष्टतया दिया गया है। अभिधर्मकोश के अनुसार कर्म तथा अविद्यादि क्लेशों से संस्कृत पंचस्कन्ध की सन्तति प्रवाहित होती रहती है। एक मृत शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करने तक मध्य में भी एक स्कन्ध-सन्तति चलती रहती है जिसे 'अन्तराभव'[४०] कहते हैं। यह स्कन्ध-सन्तति ही जन्मान्तर में गमन करती है।[४१]

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के अनुसार विज्ञानों का प्रवाह एक जन्म से जन्मान्तर में भी चलता रहता है। यह विज्ञान-धारा पूर्व जन्म तथा अपर जन्म से सम्बन्ध रखती है। विज्ञानों की यह धारा ही अन्य दर्शनों के आत्मा सम्बन्धी कार्य को पूर्ण करती है; किन्तु यह एक व्यक्ति नहीं, स्थिर नहीं, क्षणिक है; यह कहा जा चुका है। जैसा कि श्चेरबात्स्की ने लिखा है "संघातरूप धर्मों का यह प्रवाह, जो वर्तमान जीवन तक ही सीमित नहीं बल्कि जिसका मूल भूतकालिक अस्तित्व में है और जो भविष्यत् जीवन में भी निरन्तर रहता है, बौद्ध-दर्शन में अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों की आत्मा या व्यक्तित्व का प्रतिरूप है।[४२]

५. ईश्वरसिद्धि का खण्डन

(१) **पूर्वपक्षी की ईश्वरसाधक युक्तियाँ**—न्याय-वैशेषिक तथा योग आदि दार्शनिक सम्प्रदायों ने आत्मविशेष (पुरुषविशेष) को ईश्वर माना है तथा कतिपय आचार्यो ने प्रभावशालिनी युक्तियों द्वारा ईश्वर की सिद्धि की है उन युक्तियों का सारसंग्रह सा करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—"आचार्य (उद्योतकर) का अभिप्राय यह है कि संसार में तीन प्रकार के पदार्थ हैं। एक तो वे जिनका कर्ता चेतन है, यह सर्व प्रसिद्ध है, जैसे राजमहल, अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाएँ, उच्च नगरद्वार तथा मुख्य द्वार इत्यादि। दूसरे वे पदार्थ हैं जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि उन्हें किसी (चेतन) ने नहीं बनाया, जैसे परमाणु, आकाश इत्यादि।

---

३९. प्रेत्येति ल्यब मुखं व्यादाय स्वपितीतिवद् द्रष्टव्यः। तथा च भूत्वा प्रायणमिति भवनप्रायणयोः समानकर्तृकत्वमप्युपपन्नम्। न्या० वा० ता०, पृ० ५९० पं० १।

४०. मि०, अन्तराभवाः=मृतशरीरं विहाय परिग्रहीष्यमाणशरीरं ग्रहीतुं मार्गे वर्तमाना विज्ञानसन्ततयः। अभिधर्मकोश, नालन्दिकाटीका, ३.९।

४१. नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभव-सन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥ अभिधर्मकोश ३.१८।

४२. This stream of elements kept together and not limited to present life but having its roots in past existences and its continuation in future ones, is the Buddhist counterpart of the soul or the self of other systems. CCB., p. 22 L. 14.

एक तीसरी प्रकार के पदार्थ हैं जिनके निर्माण के विषय में सन्देह है कि क्या उन्हें किसी चेतन ने बनाया है ? जैसे शरीर और पर्वत इत्यादि। इनके विषय में विभिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं और एक पक्ष का साधक या बाधक पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता अतः सन्देह होना स्वाभाविक ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि इनका कोई चेतन कर्ता प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता, अतएव वह नहीं है, क्योंकि कुछ पदार्थ विद्यमान होते हैं (सतामपि); किन्तु स्वभाव से अत्यन्त सूक्ष्म या दूर (विप्रकृष्ट) होने के कारण उनकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं हुआ करती; जैसे परमाणु आदि हैं। यही बात शरीर और पर्वत आदि के कर्ता के विषय में भी हो सकती है। यह सम्भव है कि वह भी सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष का विषय न हो; क्योंकि अनुमान द्वारा इनके कर्ता की सिद्धि होती है। वह अनुमान यह है—

> विवाद के विषय शरीर तथा पर्वत इत्यादि कारणसामग्री (उपादान) के विषय में भली भाँति जानने वाले (अभिज्ञ) कर्ता के द्वारा निर्मित हैं—(प्रतिज्ञा)।
>
> क्योंकि इनकी उत्पत्ति होती है अथवा ये अचेतन सामग्री से उत्पन्न होते हैं (हेतु)
>
> जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है अथवा जो अचेतन सामग्री से उत्पन्न होते हैं उन सब की उत्पत्ति कारणसामग्री के ज्ञानपूर्वक होती है, जैसे राजप्रासाद इत्यादि (साधर्म्योदाहरण)।
> इसी प्रकार विवाद के विषय शरीर और पर्वत आदि हैं (उपनय)।
>
> इसलिये ये भी चेतनकर्तृक हैं (निगमन)।"[४३]

"यह भी नहीं कहा जा सकता कि शरीर पर्वत आदि का उत्पत्तिमान् होना ही असिद्ध है, (अतः उपर्युक्त हेतु असिद्ध नामक हेत्वाभास है, सद्हेतु नहीं); क्योंकि अवयवों वाला होने के कारण अथवा महत्परिमाण वाला होकर क्रियावान् होने के कारण शरीर आदि भी वस्त्र आदि के समान उत्पत्तिमान् हैं—यह सिद्ध होता है।

यदि कोई कहे कि बौद्धों के चेतन कर्म[४४] के द्वारा अथवा मीमांसको के चेतन क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के द्वारा ही पृथिवी इत्यादि का चेतन के द्वारा किया जाना सिद्ध है अतः उपर्युक्त हेतु सिद्धसाधन मात्र (सिद्ध की गई वस्तु की पुनःसिद्धि करना) है, यह भी उचित नहीं; क्योंकि यदि कर्म आदि को चेतन भी मान लिया जाये तो भी वे कारणसामग्री का ज्ञान नहीं रखते। इस हेतु वे पृथिवी आदि के कर्त्ता भी नहीं हो सकते (कारणसामग्री का ज्ञाता ही कर्त्ता होता है)। यदि यह भी मान लिया जाये कि कर्म इत्यादि कारणसामग्री का ज्ञान रखने वाले भी हैं तो वही हमारा (नैयायिक का) ईश्वर है (नाममात्र का भेद है)। इस

---

४३. एतावदभिप्रेतमाचार्यस्य त्रयो हि खलु भावा जगति भवन्ति प्रसिद्धचेतनकर्तृकाः यथा प्रासादाट्टालगोपुरतोरणादयः। प्रसिद्धतद्विपर्ययाः। यथा परमाण्वाकाशादयः। सन्दिग्धचेतनकर्तृका यथा तनुगिरिमहीधरादयः। तत्र प्रमेयत्वाद्वादिविप्रतिपत्तेर्वा साधकबाधकप्रमाणाभावे चेतनकर्तृत्वे संशयः। न च प्रत्यक्षानुपलब्धिमात्रमत्र बाधकं भवितुमर्हति। स्वभावविप्रकर्षिणां सतामपि प्रत्यक्षानुपलब्धेः परमाण्वादीनाम्। तथा च विवादाध्यासितास्तनुतरुमहीधरादय उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा यदुत्पत्तिमदचेतनोपादानकं वा तत्सर्वमुपादानाभिज्ञपूर्वकं प्रासादादि, तथा च विवादाध्यासितास्तनुतरुमहीधरादयस्तस्मात्तथेति।

न्या० वा० ता०, पृ० ५९८-५९९।

४४. मि०, वयमपि साधारणासाधारणचेतनालक्षणकर्मनिर्मितं जगद्विचित्रमिच्छामः सत्साधयता च परेण साहाय्यकमनुष्ठितम्। प्र० वा० (मनो०), १.१२ (पृ० १२ पं० २)।

प्रकार का सिद्धसाधन हमें अभीष्ट ही है। भला ऐसा कौन है जो बिना क्लेश के अभीष्ट सिद्धि का स्वागत न करे।

उपर्युक्त हेतु में दृष्टान्त साध्यहीन भी नहीं है अर्थात् सपक्ष में भी हेतु विद्यमान है; क्योंकि कारणसामग्री को बनाने वाले तन्तुवाय इत्यादि ही वस्त्र आदि के निर्माता देखे जाते हैं। इसी लिए यह हेतु विरुद्ध (हेत्वाभास) भी नहीं है। यदि कारणसामग्री को न जानने वाले तन्तुवाय इत्यादि वस्त्र इत्यादि के निर्माता होवें तो उपर्युक्त हेतु विरुद्ध हो सकता है किन्तु यह बात प्रतिपक्षी (बौद्ध) को भी अभिमत नहीं है।"[४५]

वाचस्पति मिश्र की उपर्युक्त युक्तियाँ प्रमाणवार्त्तिक की मनोरथनन्दिवृत्ति की पूर्वपक्ष में प्रस्तुत की गई युक्तियों के साथ बहुत अधिक साम्य[४६] रखती है। बौद्ध-दर्शन के आचार्यों ने इस प्रकार की युक्तियों का बलपूर्वक निराकरण किया है। उन्होंने उपर्युक्त ईश्वर-साधक अनुमान में भी अनेक दोष दिखलाये हैं। वाचस्पति मिश्र ने[४७] न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका[४८] में बौद्ध-दर्शन की इन युक्तियों का विवेचन एवं निराकरण किया है। वहाँ बीच-बीच में मीमांसक की युक्तियों का भी समावेश कर दिया गया है। अत एव बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से ही यह विवेक किया जा सकता है कि बौद्ध-दर्शन की युक्तियाँ कौन सी हैं। संक्षेप में बौद्धों की एतद्विषयक युक्तियाँ इस प्रकार दिखलाई जा सकती हैं :—

(२) **ईश्वरसाधक हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है**—जैसा कि बौद्धों की ओर से न्याय-वार्त्तिकतात्पर्यटीका में बतलाया गया है—"उपर्युक्त अनुमान से विशेष व्यक्ति (ईश्वर) की अर्थापत्ति द्वारा कल्पना की जाती है किन्तु उसके शरीर आदि मानना प्रमाण विरुद्ध है। अतएव उपर्युक्त हेतु विरुद्ध (हेत्वाभास) है। जैसे यदि कोई यह अनुमान प्रस्तुत करता है—'हिम अग्निवाला है; क्योंकि वह तृण आदि में विकार उत्पन्न करता है' तो यहाँ अग्निवाला होने से यह अर्थापन्न है कि उस हिम में तृण इत्यादि को विकृत करने वाला ऐसा उष्ण स्पर्श होगा जो इन्द्रियग्राह्य (उद्भूत) होता है। किन्तु ऐसा स्पर्श तो प्रतीत नहीं होता, अपि तु इसके विरुद्ध प्रत्यक्षतः ही शीत स्पर्श प्रतीत होता है अतएव वहाँ प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास होता है। इसी प्रकार ईश्वर साधक (उपर्युक्त) हेतु को देखने से ज्ञात होता है कि पृथिवी इत्यादि के कारण-सामग्री-विषयक ज्ञान का कारण आत्मा और मन का सन्निकर्ष तथा शरीर (इन्द्रिय भी ले लीजिये) आदि हैं अतः इन कारणों के बिना कारणसामग्री-विषयक ज्ञान होना सम्भव

---

४५. न चैषामुत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्। सावयवत्वेन वा, महत्त्वे सति क्रियावत्त्वेन वा वस्त्रादिवत्तत्सिद्धः। न चैतावता वैनाशिकानां कर्मणा चेतनेन मीमांसकानां क्षेत्रज्ञेन चेतनेन चेतनकर्तृत्वसिद्धेः पृथिव्यादीनां सिद्धसाधनं चैतन्येऽपि तेषामुपादानानभिज्ञत्वात्। तज्ज्ञत्वे वा स एवास्माकमीश्वरः ईदृशमस्तु सिद्धसाधनं को हि क्लेशं विना न वाञ्छितसिद्धिमिच्छेत्। न च साध्यहीनो दृष्टान्तः। पटादीनामप्युपादानाभिज्ञकुविन्दादिकर्तृकत्वात्। अत एव न विरुद्धता हेतोः, एवं हि सा भवेत्, यद्यनुपादानानभिज्ञकर्तृकाः पटादयो भवेयुः न चैतत्परेषामपि सम्मतम्। न्या० वा० ता०, पृ० ५९९।

४६. प्र० वा० मनो०, १.११।

४७. न्या० वा० ता०, पृ० ५९९—६०५।

४८. न्यायकणिका, पृ० २१२-२२७।

नहीं है तथा इन (शरीर आदि) का अर्थतः आक्षेप हो जाता है। अतः यदि उपादान-विषयक ज्ञान रखने वाला ईश्वर, पृथिवी आदि का निर्माता है तो उपादानविषयक ज्ञान के लिए उसके शरीर आदि की कल्पना आवश्यक हो जाती है। किन्तु यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा बाधित होती है। जब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा उसमें शरीर आदि का निषेध हो जाता है तो ज्ञान का भी निराकरण हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जैसे कि हिम में उद्भूत उष्ण स्पर्श का बाध हो जाने पर उससे दाहकता की भी निवृत्ति हो जाती है।"[४९] इस प्रकार उपर्युक्त ईश्वरसाधक अनुमान अनुमानाभास है तथा उससे ईश्वर-सिद्धि नहीं हो सकती।[५०]

(३) 'उत्पत्तिमान् होने से' (उत्पत्तिमत्त्व) इस हेतु के द्वारा नित्यसर्वज्ञ कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती :—उत्पत्तिमान् होने की कारणसामग्री के ज्ञाता कर्ता के साथ व्याप्ति है; अर्थात् जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति कारणसामग्री के ज्ञानपूर्वक होती है, यही घट इत्यादि में देखा जाता है। इस व्याप्ति द्वारा पृथिवी आदि में केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि इनका उत्पादक भी इनकी कारणसामग्री का जानने वाला कोई व्यक्ति होना चाहिये। इससे यह अनुमिति तो सम्भव नहीं कि पृथिवी आदि का कर्ता नित्य सर्वज्ञ (सर्वविषय-ज्ञानवान्) हैं; क्योंकि दृष्टान्त में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता।[५१] इस प्रकार उपर्युक्त हेतु से किसी नित्य सर्वज्ञ पुरुषविशेष की सिद्धि नहीं हो सकती, जैसा कि बौद्धों (?) की निम्नकारिका को उद्धृत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—

सन्निवेशादिमत्सर्वं बुद्धिमद्धेतु यद्यपि।
प्रसिध्येत् सन्निवेशादेरेककारणता कुतः। इति[५२]

न्या० वा० ता०, पृ० ६०१ (न्यायकणिका, पृ० २१६)

"यद्यपि जिस वस्तु में विशेष प्रकार की संघटना (सन्निवेश) होती है उसकी रचना बुद्धिमान् हेतु के द्वारा हुआ करती है तथापि इस विशेष प्रकार की संघटना का कोई एक कारण है, यह कैसे निश्चित किया जा सकता है?"

(४) उत्पत्तिमात्र की बुद्धिमत्त्व के साथ व्याप्ति नहीं :—"सामान्य रूप से उत्पत्ति की बुद्धिमत्त्व के साथ व्याप्ति नहीं; किन्तु विशेष प्रकार की उत्पत्ति बुद्धिमत्-हेतु-पूर्वक होती है यह व्याप्ति है। जिस वस्तु को देखकर (उत्पादन) क्रिया को न देखने वाले व्यक्ति के मन में भी यह विचार उत्पन्न होता है कि यह वस्तु उत्पादित (कृत) है और उस वस्तु को देखकर

---

४९. स्यादेतद् अर्थाक्षिप्तस्य विशेषस्य शरीरादिमत्त्वादेः प्रमाणविरोधाद्विरुद्धता। यथा तृणादिविकारकारित्वादग्निमद्धिममित्यत्र वह्निमत्त्वाक्षिप्ततृणादिविकारोपयुक्तवह्निगतोद्भूतोष्णस्पर्शविरुद्धशीतस्पर्शस्य प्रत्यक्षेणोपलम्भाद्बाधितो विरुद्धो हेतुः। तथा ह्यस्य क्षित्याद्युपादानादिविषयं ज्ञानमात्ममनः सन्निकर्षशरीरादिकारणकं नासति तस्मिन् भवतीति तदनेनाक्षिप्तं, तच्चात्र प्रमाणबाधितं, तन्निवृत्तौ च ज्ञानमस्य निवर्त्तेत उष्णत्वोद्भूतिनिवृत्ताविव दाहको वह्नि नरवश्याय इति। न्या० वा० ता०, पृ० ५९९।

५०. मि०, प्र० वा०, १.१२।

५१. स्यादेतत् : उत्पत्तिमत्त्वमुपादानाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वमात्रव्याप्तं घटादिषु दृष्टं तावन्मात्रमेव पृथिव्यादीनां गमयेद् नित्यसर्वविषयज्ञानवत्कर्तृत्वं तु कुतस्त्यम्। न हि तद्दृष्टान्तधर्मिणि दृष्टम्। न्या० वा० ता०, पृ० ६००।

५२. इस कारिका का भाव प्रमाणवार्तिक १, १२-१३ में निहित है, किन्तु यह कारिका वहाँ नहीं है।

यह (कृत) बुद्धि हुआ करती है जिसका होना या न होना बुद्धिमान् के होने या न होने का अनुसरण करता है (अर्थात् बुद्धियुक्त व्यक्ति के होने पर ही जो वस्तु होती है उसके न होने पर नहीं होती ऐसी विशेष प्रकार की वस्तु की उत्पत्ति को ही बुद्धिमत्-हेतुपूर्वक कहा जा सकता है)। घट इत्यादि में इस प्रकार की बुद्धि (?) देखी जाती है। प्रत्येक उत्पन्न होने वाली वस्तु शरीर तथा जगत् इत्यादि में ऐसा नहीं देखा जाता; क्योंकि उन में बुद्धियुक्त कर्ता के भाव तथा अभाव का अनुसरण नहीं देखा जाता। इस प्रकार उत्पत्ति सामान्य की इस 'विशेष' उपाधि का आश्रय लेकर बुद्धिमत् के साथ व्याप्ति होती है (अतः यह 'उत्पत्तिमत्त्वात्' हेतु सोपाधिक है) तथा यह व्याप्य नहीं कहा जा सकता और बुद्धिमत्पूर्वकता की सिद्धि नहीं करा सकता। अन्यथा (यदि अन्य के द्वारा प्रयुक्त व्याप्ति से भी अनुमिति होने लगे तो) पाण्डुवर्ण के धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति के आधार पर कुमुद, कपोत आदि में स्थित पाण्डुता से भी अग्नि (धूमकेतु) का अनुमान होने लगेगा।"[५३]

वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की यह युक्ति प्रमाणवार्त्तिक के आधार पर प्रस्तुत की है;[५४] तथापि यह विवेचन प्रमाण-वार्त्तिक की अपेक्षा स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने 'कार्यसम' जाति का विवेचन करते हुए (न्या० वा० ता०, पृ० ६९३) भी प्रमाण-वार्त्तिक की ईश्वर-दूषण-विषयक दो कारिकाओं को उधृद्त किया है[५५] और उनका खण्डन करने का प्रयास किया है।

बौद्ध-दर्शन का यह भी कथन है कि यदि विशेष उत्पत्ति के स्थान पर उत्पत्ति मात्र को ज्ञापक (लिङ्ग) माना जायेगा तो बल्मीक (बमी) भी मृत्तिका-निर्मित होने के कारण कुम्भकार की कृति सिद्ध हो जायेगी।[५६] इस तर्क का उपसंहार करते हुए बौद्धों की ओर से न्यायतात्पर्यटीका में बतलाया गया है—**नोत्पत्तिमात्रम् उपादानाभिज्ञकर्तृकत्वेन व्याप्तम्। अपि तु यदस्मदादिशक्यज्ञानोपादानादि, न च तथा तनुभुवनाद्युत्पत्तिमदपि, तस्मात् व्याप्तिविरहान्न तत्पूर्वकमिति। न्या० वा० ता०, पृ० ६०३।**

अभिप्राय यह है कि उत्पत्तिमात्र की कारणसामग्री को जनाने वाले कर्त्ता के साथ व्याप्ति नहीं है; अर्थात् जिन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है वह उनकी कारणसामग्री को भली-भांति जानने वाले कर्त्ता के द्वारा ही होती है ऐसा स्वाभाविक नियम नहीं है, अपि तु स्वाभाविक नियम यह है कि जिस वस्तु की कारणसामग्री का ज्ञान हमारे द्वारा किया जा

---

५३. स्यादेतत्। नोत्पत्तिमात्रं स्वभावप्रतिबद्धं बुद्धिमद्धेतुत्वेन, किंतु तद्विशेषः, यद्दृष्टेरक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिरुत्पद्यते तस्य च दृष्टेः सोपजायते यद् बुद्धिमद्भावानुविधायिभावाभावं दृष्टं घटादि च तथा न तूत्पत्तिमन्मात्रं तनुभुवनाद्यपि तस्य सद्भावासद्भावानुविधानादर्शनात्। तदेतेन विशेषेणोपाधिना प्रयुक्तां बुद्धिमद्धेतुकत्वव्याप्तिमुपजीवदुत्पत्तिसामान्यं न तेन स्वभावप्रतिबद्धमिति न तद्गमयितुमर्हतीति, अन्यथा धूमप्रयुक्तां धूमध्वजव्याप्तिमुपजीव्य पाण्डुतादेः कुमुदकपोतकादिगतादपि धूमकेतुनानुमानप्रसङ्गादिति। न्या० वा० ता०, पृ० ६०२। मि०, वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः।
न युक्तानुमितिः पाण्डुद्रव्यादिवद् हुताशने॥
न्या० वा० ता०, पृ० ६९३। [प्र० वा० (मनो०), १, १४]।

५४. प्र० वा० (मनो०), १.१४।

५५. वही, १.१४, १.१६।

५६. मृद्विकारत्वेन वल्मीकस्य घटादिवत् कुलालकार्यत्वम्। न्या० वा० ता०, पृ० ६०२-६०३। मि०, प्र० वा० मनो०, १.१५।

सकता है उस वस्तु की उत्पत्ति (उत्पत्तिविशेष) कारणसामग्री को जानने वाले कर्त्ता के द्वारा होती है। यद्यपि शरीर और भुवन आदि की उत्पत्ति होती है तथापि इनकी कारण-सामग्री का पूर्ण ज्ञान तो हमारे लिये सम्भव नहीं (न तथा) इसलिये व्याप्ति न होने के कारण इनकी उत्पत्ति कारणसामग्री को जानने वाले कर्त्ता से नहीं होती। और, उनके कर्तृत्वरूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

(५) **पृथिवी आदि सर्वज्ञकर्तृक नहीं हो सकते** :—बौद्ध-दर्शन का मत है कि पृथिवी आदि का कर्त्ता कोई सर्वज्ञ है। इसकी सिद्धि के लिये जो हेतु दिया गया है, वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। क्योंकि

"पृथिवी इत्यादि सर्वज्ञ द्वारा निर्मित नहीं। (प्रतिज्ञा)
क्योंकि वे प्रमेय हैं तथा भावरूप हैं। (हेतु)
घट आदि के समान।" (उदाहरण)

इस प्रकार के अनुमान हैं जो साध्यार्थ के विरुद्ध पक्ष को सिद्ध करते हैं अतः नैयायिक का ईश्वरसिद्धिविषयक (प्रकृत) हेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास के अन्तर्गत आ जाता है, और उनका वह अनुमान यथार्थ नहीं अपितु अनुमानाभासमात्र है।[५७]

(६) **ईश्वर परमाणु आदि का अधिष्ठाता नहीं**—न्याय-वैशेषिक ईश्वर को परमाणु आदि का अधिष्ठाता मानते हैं। यह भी प्रमाण-विरुद्ध है—**ईश्वरो नाधिष्ठाता परमाण्वादीनामशरीरित्वात् मुक्तात्मवत्।** न्या० वा० ता०, पृ० ६०३।

"ईश्वर परमाणु आदि का अधिष्ठाता नहीं हो सकता। (प्रतिज्ञा)
क्योंकि यह शरीररहित है। (हेतु)
मुक्त आत्माओं के समान।" (उदाहरण)

(७) **ईश्वर का ज्ञान सर्वविषयक तथा नित्य नहीं**—ईश्वर को सर्वज्ञ तथा नित्य ज्ञानवान् मानना भी प्रमाणविरुद्ध है :—**ऐश्वरं ज्ञानं न सर्वविषयम् अनित्यं च ज्ञानत्वाद् अस्मदादिज्ञानवत्।** न्या० वा० ता०, पृ० ६०३।

"ईश्वर का ज्ञान सर्वविषयक नहीं तथा अनित्य है। (प्रतिज्ञा)
क्योंकि वह ज्ञान है। (हेतु)
हमारे (लौकिक मनुष्यों के) ज्ञान के समान।" (उदाहरण)

इस प्रकार की ईश्वर बाधक युक्तियों का न्यायकणिका (पृ० २१२ से २२७) में विस्तार से विवेचन किया गया है। इनमें से अनेक युक्तियाँ प्रमाण-वार्त्तिक की ईश्वर-बाधक युक्तियों से साम्य रखती हैं[५८] तथा कुछ युक्तियाँ भिन्न प्रकार की भी हैं। सम्भवतः अन्य बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर उनका निरूपण किया गया है।

---

५७. न सर्वज्ञपूर्वकाः क्षित्यादयः प्रमेयत्वसत्त्वादिभ्यः घटादिवदित्यनुमानानि सन्ति प्रतिपक्षसाधनानीति सत्प्रतिपक्षतया प्रकृतमनुमानाभासम्। न्या० वा० ता०, पृ० ६०३ पं० १२।

५८. मि०, प्र० वा० (मनो०), १. २३–३०।

परिच्छेद—११

बौद्ध दर्शन का निर्वाण

१. दुःख तथा दुःखहेतु

प्रत्येक भारतीय दर्शन दुःख की निवृत्ति को उद्देश्य मान कर अपने प्रतिपाद्य विषय में प्रवृत्त हुआ है। बौद्ध दर्शन में तो दुःख का और भी गम्भीर विवेचन किया गया है। इसके अनुसार चार आर्य सत्य हैं—दुःख, दुःखहेतु, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोध का मार्ग। वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में बुद्ध के चार आर्यसत्यों का विशेष विवेचन नहीं मिलता। जो कुछ स्वल्प सा उल्लेख किया गया है, उसी के आधार पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

दुःख क्या है ? इसका उल्लेख करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—**न तावद् दुःखं नाम नास्ति जगति, परिणामतापसंस्कारै खल्वनवयवेन पञ्चापि स्कन्धाः भवन्ति संसारिणाम्। न्यायकणिका, पृ० १४२।** "अर्थात् यह नहीं कि दुःख संसार में नहीं है, परिणाम ताप तथा संस्कारों के कारण संसारियों के पंचस्कन्ध समस्त रूप से होते रहते हैं।"

अभिप्राय यह है बौद्ध दर्शन के अनुसार जन्म मरण के चक्र में फंसे हुए रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पांचों स्कन्ध ही दुःख हैं, जैसा कि धर्मकीर्ति ने भी कहा है—दुःखं संसारिणः स्कन्धाः (प्रमाणवार्त्तिक १.१४६)। यह स्कन्धपञ्चक तीन प्रकार की दुःखता के कारण दुःखमय ही हैं।[1] यह तीन प्रकार की दुःखता है—(१) परिणामदुःखता (२) तापदुःखता और (३) संस्कारदुःखता। इनका प्रमाणवार्त्तिक में भी उल्लेख किया गया है।[2] किन्तु वहाँ इनका स्वरूप स्पष्टतः निर्दिष्ट नहीं किया गया। वाचस्पति मिश्र ने भी बौद्ध दर्शन में इनका क्या स्वरूप है, यह विवेचन नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि योगदर्शन के समान ही[3] बौद्ध दर्शन में भी यह तीन प्रकार की दुःखता है ? व्यासभाष्य में इसका विशद विवेचन किया गया है। और, सम्भवतः बौद्ध दर्शन निर्दिष्ट दुःख के स्वरूप में ही योगदर्शन ने "गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" यह अंश जोड़ दिया है।

ये दुःख विविध रूपों में प्राणी को संतप्त करते हैं। बौद्ध दर्शन में इनका कहीं संक्षेप में तथा कहीं विस्तार से वर्णन किया गया है। संक्षेप में जरामरण आदि ही दुःख हैं, जिनकी व्याख्या करते हुए भामती टीका में कहा गया है -"उत्पन्न हुए रूप आदि स्कन्धों का पाक दशा को प्राप्त होना जरा कहलाती है। स्कन्धों (स्कन्ध-सन्तान) का नाश मृत्यु है। मरते हुए मोहयुक्त स्त्री पुत्र आदि में लिप्त व्यक्ति का मानसिक संताप शोक

१. जन्ममरणप्रबन्धः संसारः। तद्वन्तो दुःखं तिसृभिर्दुःखताभिः। प्र० वा० (मनो०); १.१४६।

२. प्र० वा०, १.२५४।

३. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। योगसूत्र, २.१५।

है। शोक से उत्पन्न प्रलाप, जैसे हाय मां, हाय पिता, हाय मेरे पुत्र, स्त्री, इत्यादि परिदेवना कहलाता है। (चाक्षुष विज्ञान इत्यादि) पांचों विज्ञानों के कार्यों से युक्त होकर प्रतिकूल अनुभव करना दुःख है। मानसिक दुःख दौर्मनस्य है।"[४]

इस प्रकार बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, शोक, रोदन इत्यादि संसार में प्रसिद्ध दुःख हैं। साथ ही यह भी दुःख है कि इन्द्रियों द्वारा जो विषयों का ग्रहण होता है वह सदा ही अनुकूल वेदनीय ही नहीं होता। मन में डाह इत्यादि भी कम दुःख नहीं। ये सभी दुःख संसार में प्रत्यक्षत: अनुभव किये जाते हैं। इनका हेतु क्या है—**जन्महेतुका उत्तरे जरामरणादयः। भामती, पृ० ५२८।** "आगे वाले जरामरण इत्यादि जन्म के कारण उत्पन्न होने वाले हैं।"

जन्म का क्या हेतु है? इस पर विचार करके बुद्ध ने अविद्या से लेकर जन्म पर्यन्त १२ अरों वाले संसार-चक्र को ढूंढ निकाला था। इसका वर्णन वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार किया है—"यह अविद्या संसार की दुःखराशि का मूल कारण है। इस अविद्या के होने पर संस्कार अर्थात् विषयों के प्रति राग, द्वेष, मोह प्रवृत्त होते हैं। (संस्कार से विज्ञान होता है) वस्तुविषयक ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान से चारों रूपी उपादान स्कन्ध (पृथिवी, जल, वायु, अग्नि) होते हैं, वही नाम है। उनके कारण से रूप होता है। इस को एक में संक्षिप्त करके नाम-रूप कहा जाता है, शरीर की ही कललबुद्बुद आदि अवस्था। नाम रूप से युक्त इन्द्रियाँ षडायतन (१ मन + ५ इन्द्रियां) कहलाती हैं। नाम रूप और इन्द्रियाँ तीनों का समुदाय स्पर्श है। स्पर्श से सुख आदि (अनुभव) वेदना होती है। वेदना के होने पर 'यह सुखकर (कार्य) मुझे फिर करना चाहिये 'इस प्रकार की भावना तृष्णा होती है, तृष्णा से उपादान अर्थात् वाणी और काया की चेष्टा होती है। उससे भव होता है, भव का अर्थ है धर्माधर्म; क्योंकि इससे जन्म होता है। धर्माधर्म के निमित्त से होने वाली पांच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) की उत्पत्ति जाति या जन्म कहलाती है।"[५]

अविद्या से लेकर जन्म तक एक दूसरे के निमित्त से होते रहते हैं, जैसा कि प्रतीत्य-समुत्पाद के वर्णन में दिखलाया गया है।[६] भव-चक्र इसी द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद का नाम है। यह अनादि काल से इसी प्रकार चल रहा है अत: इसमें यह प्रश्न नहीं हो सकता कि जन्म पहले हुआ या अविद्या पहले हुई। कहा भी है—**तेऽमी परस्परहेतुकाः**

---

४. जातानां स्कन्धानां परिपाको जरा। स्कन्धानां नाशो मरणम्। म्रियमाणस्य मूढस्य साभिषङ्गस्य पुत्रकलत्रादावन्तर्दाहः शोकः। तदुत्थं प्रलपनं हा मातः, हा तात, हा च मे पुत्रकलत्रादीति परिदेवना। पञ्चविज्ञानकार्यसंयुक्तम् असाध्वनुभवनं दुःखम्। मानसं च दुःखं दौर्मनस्यम्। भामती, पृ० ५२८।

५. सेयमविद्या संसारानर्थसंभारस्य मूलकारणं तस्यामविद्यायां सत्यां संस्कारा रागद्वेषमोहा विषयेषु प्रवर्तन्ते। वस्तुविषया विज्ञप्तिर्विज्ञानम्। विज्ञानाच्चत्वारो रूपिण उपादानस्कन्धास्तन्नाम, तान्युपादाय रूपमभिनिवर्तते। तदेकध्यमभिसंक्षिप्य नामरूपं निरुच्यते शरीरस्यैव कललबुद्बुदाद्यवस्था। नामरूपसंमिश्रितानीन्द्रियाणि षडायतनम्। नामरूपेन्द्रियाणां त्रयाणां सन्निपातः स्पर्शः। स्पर्शाद् वेदना सुखादिका। वेदनायां सत्यां कर्तव्यमेतत् सुखं पुनर्मयेत्यध्यवसानं तृष्णा भवति। तत उपादानं वाक्कायचेष्टा भवति। ततो भवो भवत्यस्माज्जन्मेति भवो धर्माधर्मौ। तद्धेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः जन्म। भामती, पृ० ५२७-५२८।

६. ऊपर, परि० ८ अनु० ११।

जन्मादिहेतुकाः अविद्यादयोऽविद्यादिहेतुकाश्च जन्मादयो घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानाः सन्तीति । भामती, पृ० ५२८ । "वे ये (अविद्या आदि) एक दूसरे के हेतु से होने वाले हैं, अविद्या आदि जन्म आदि के हेतु से होती हैं और जन्म इत्यादि अविद्या आदि के हेतु से होते हैं । घटीयन्त्र के समान ये निरन्तर आवृत्त होते रहते हैं ।"

१२ अरों वाले इस संसार-चक्र का मूल कारण अविद्या है। यह अविद्या क्या है ? वाचस्पति मिश्र ने भामती में इस अविद्या का स्वरूप प्रकट करते हुए लिखा है— **तत्रैतेष्वेव षट्सु धातुषु यैकसंज्ञा, पिण्डसंज्ञा, नित्यसंज्ञा, सुखसंज्ञा, सत्त्वसंज्ञा, पुद्गलसंज्ञा, मनुष्यसंज्ञा, मातृदुहितृसंज्ञा अहंकारममकारसंज्ञा सेयमविद्या । भामती, पृ० ५२७ ।** "इन छः धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा विज्ञान) में एक संज्ञा (यह एक है इस प्रकार का ज्ञान) पिण्डसंज्ञा (यह शरीर है ऐसा ज्ञान) नित्यता का ज्ञान, सुख का ज्ञान, सत्त्वसंज्ञा (यह जीव है, इस प्रकार का ज्ञान) पुद्गलसंज्ञा (आत्मा का ज्ञान) मनुष्य संज्ञा तथा माता, पुत्र आदि नाम और 'मैं हूँ' (अहम्) 'मेरा है' (ममकार संज्ञा) इत्यादि व्यवहार होते हैं; वह अविद्या है ।"

यही आत्मविषयक अविद्या संसार-चक्र की प्रवर्तक है या जन्म आदि का हेतु है। पृथिवी आदि धातुओं के संघात रूप इस शरीर में एकत्व की भावना, इसमें आत्मा का विचार सुख-दुःख का अनुभव और मेरा-तेरा का भाव यही है अविद्या, जो संस्कार आदि का कारण है। यही अविद्या परम्परया तृष्णा की जननी है और 'अनात्मा को आत्मा समझना' यही है संक्षेप में इसका स्वरूप। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका में बतलाया है:—"आत्मा को सबसे प्रिय (अभ्यर्हिततम)[७] समझकर यह (प्राणी) उसमें स्नेह करता है और उसके हितसम्पादन के लिये प्रयत्न करता है। इसी प्रकार उसके विरोधी से द्वेष करता है और द्वेष से उसके अहित के लिये प्रयत्न करता है। इससे कर्माशय का संचय करता है। कर्माशय के संचित होने से जन्म होता है और उससे दुःख होता है। इसलिये ऐसी (अनर्थपरम्परा की मूल) आत्मा का ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं होना चाहिये, उसमें नास्तिता का समारोप ही अच्छा जिससे प्रवृत्ति तो न होगी। जैसा कि कहा भी है—

मैं सुखी होऊँ अथवा दुःखी न होऊँ इस प्रकार की तृष्णा करते हुए जो मैं (अहम्) यह बुद्धि होती है, यही स्वाभाविक आत्मबुद्धि है" ।[८]

बौद्ध-दर्शन के अनुसार रूप आदि स्कन्धों से भिन्न आत्मा नाम की कोई व्यक्ति या सत्त्व नहीं। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों में भी अवयवों से भिन्न कोई अवयवी या द्रव्य नहीं, यही

---

७. 'अभ्यर्हिततमम् उपकार्यतमम् , सत्त्वम् आत्मा' । तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ० ३९९ ।

८. नन्वात्मानं सर्वतोऽभ्यर्हिततमं पश्यंस्तत्रासौ स्निह्यति स स्नेहात्तदुपकाराय घटते, एवं तत्परिपन्थिनं द्वेष्टि, द्वेषाच्च तदपकाराय घटते, ततः कर्माशयमातनोति, ततो जन्म ततश्च दुःखमिति, एवमात्मनस्तादृशस्य मा भूत्तत्त्वज्ञानम्, अस्तु नास्तितासमारोप एव तावद् यतो न प्रवर्तेत। यथाऽऽहुः—

सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवमिति तृष्यतः ।
यैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनम् । न्या० वा० ता०, पृ० ८४ ।

यहाँ न्या० वा० ता० टीका में 'तत्त्वदर्शनम्' पाठ है जो अशुद्ध है न्यायकणिका (पृ० ११३) में 'सत्त्वदर्शनम्' पाठ है वही शुद्ध है। प्रमाणवार्त्तिक (१.२०३) में भी यही पाठ है।

अनात्मवाद है। यह अनात्मवाद न्यायवैशेषिक आदि के आत्मवाद के विपरीत है। बौद्ध-दर्शन 'सर्वं दुःखम् तथा सर्वमनात्मम्' कहता हुआ यही प्रकट करता है कि संसार के समस्त दुःखों का मूल आत्मवाद ही है। इसी से दुःखवादी तथागत ने उपनिषदों के आत्मवाद के विरुद्ध अनात्मवाद की उद्भावना की थी। यह तो उपनिषद् के ऋषियों को भी अभिमत था कि आत्महित की भावना से ही अन्य वस्तुओं से स्नेह होता है "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" बौद्ध-दर्शन ने इस पर सूक्ष्म विचार किया तथा आत्मभाव को ही संसार-चक्र की प्रवृति का कारण समझा। उसका कहना है कि प्राणी क्षणध्वंसी विज्ञानों में अहं बुद्धि (मैं) करता है वह उस विज्ञान-प्रवाह को एक सत्त्व (आत्मा) के रूप में देखता है, यही आत्मभाव है। इस आत्म-भावना के कारण वह सोचता है कि मैं "सुखी हो जाऊँ" अथवा "मैं दुःखी न होऊं"; अर्थात् प्राणी सुख-प्राप्ति तथा दुःख-निवारण का प्रयास करता है इसी से वासना उत्पन्न होती है तथा जन्ममरण आदि का संसार-चक्र निरन्तर चलता रहता है। तृष्णा से प्राणी कार्य में प्रवृत्त होता है और तृष्णा का कारण है यह आत्म-भावना। यदि प्राणी यह समझ ले कि पूर्वक्षण का विज्ञान अन्य है, द्वितीय क्षण का दूसरा ही है; जो चेष्टा करता है वह फल नहीं भोगता तो वह तृष्णा-मग्न होकर प्रयास न करे। अतः आत्मवाद ही राग आदि का कारण है तथा संसार-चक्र का प्रवर्तक है; जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में भी स्पष्टतया विवेचन किया है—

"नित्य आत्मदर्शन के बिना कोई भी स्वार्थ-साधन की तृष्णा से युक्त होकर प्रवृत्त नहीं होता। जैसे चैत्र नामक व्यक्ति मैत्र को अपने से भिन्न समझता है, वह अपने ही सुख की अभिलाषा करता है मैत्र के सुख के लिये प्रयास नहीं करता। इसी प्रकार पूर्व तथा अपर क्षण से सम्बन्ध न रखने वाले (विविक्त) विज्ञानमात्र को साक्षात् रूप में आत्मा मानता हुआ (व्यक्ति) उस विज्ञान-सन्तति में होने वाले अन्य विज्ञान क्षण के हित-सम्पादन में प्रवृत्त नहीं होगा, किन्तु स्वार्थ की तृष्णा में मग्न होकर प्रवृत्त होता है। इससे प्रतीत होता है कि निश्चय ही यह भिन्न-भिन्न चित्त क्षणों को एक समझ लेता है। इस प्रकार यह स्वभाव-सिद्ध एकात्मदर्शन राग आदि का कारण है[९]।"

ऊपर के विवेचन से यह बात भली भांति विदित होती है कि बौद्ध-दर्शन आत्मवाद को ही तृष्णा का कारण मानता है और तृष्णा के परित्याग के लिये ही अनात्मवाद का उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया था। अतः बौद्धदर्शन के अनुसार आत्मदर्शन केवल भ्रान्ति है, मिथ्याज्ञान है। अब देखना यह है कि भ्रान्ति का स्वरूप क्या है ?

---

९. नह्यसति नित्यात्मदर्शने स्वार्थतृष्णापरिप्लुतः कश्चित्परिस्पन्दते। यथा हि चैत्रः स्वतो भिन्नं मैत्रमुदीक्षमाणः स्वगतसुखतृष्णापरिप्लुतो न मैत्रसुखाय घटते। तथा पूर्वापरक्षणविविक्त विज्ञानमात्रमात्मानं साक्षादीक्षमाणो न ततसन्ततिपतितक्षणान्तरोपकारकर्मणि* प्रवर्तते, प्रवर्तते च स्वार्थतृष्णापरिप्लुतः। तेनावगच्छामोऽवगच्छति नूनमयमहमिति विभिन्नानपि स्वचित्तक्षणानेकतया। तदिदं सहजमात्मदर्शनं निदानं रागादीनाम्। न्यायकणिका, पृ० ११३।

*यहां न्यायकणिका में दो प्रकार का पाठ उपलब्ध है (प्रथम) सन्नतिपतिततद्विपरीतलक्षणान्तरोपकारकर्मणि (द्वतीय) न तत्संततिपतितलक्षणात्मोपकारकर्मणि; दोनों के आधार पर परिकल्पित ऊपर का पाठ ही प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है।

२. बौद्ध दर्शन में विपर्यय या भ्रान्ति का स्वरूप

सामान्य रूप से एक वस्तु को दूसरी समझ लेना भ्रान्ति है; जैसे यदि कोई व्यक्ति धुंधले से प्रकाश में भूमि पर वक्राकार में पड़ी हुई एक रस्सी को सर्प समझ लेता है तो यह प्रतीति भ्रान्ति कही जाती है। इस प्रकार की भ्रान्ति सर्वास्तिवादी बौद्ध सम्प्रदाय में तो किसी प्रकार बन सकती है किन्तु विज्ञानवादी के यहाँ बाह्य अर्थ का अभाव है उसके यहाँ यह विपर्यय कैसे बनेगा ? तथा शून्यवादी के यहाँ किस में किसकी भ्रान्ति होगी ? यदि भ्रान्ति या विपर्यय का होना ही सम्भव नहीं तो आत्म-भाव की स्वीकृति भ्रान्ति कैसे हो सकेगी ? वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध-दर्शन की ओर से इन प्रश्नों का भली-भांति समाधान किया है तथा बौद्धों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनुसार भ्रान्ति की स्पष्ट व्याख्या की है। **'तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति'** शंकराचार्य के इस वाक्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

"(भाष्य में) अन्य धर्म का अर्थ है—ज्ञान के धर्म रजत का; अर्थात् ज्ञान के आकार का आभास अन्य में=बाह्य में। सौत्रान्तिक के सिद्धान्त में तो बाह्य वस्तुसत् (परमार्थसत्) है, उसमें ज्ञान के आकार का आरोप (मिथ्या कल्पना) कर लिया जाता है। यद्यपि विज्ञानवादी के मत में बाह्य वस्तुसत् नहीं (सांवृतिक है) तथापि अनादि अविद्या की वासना से कल्पित अलीक (मिथ्या) बाह्य है ही, उसमें ज्ञान के आकार का आरोप होता है। इसमें युक्ति यह है—यह सामान्य नियम (उत्सर्ग) है कि जो रूप जैसा अनुभव से सिद्ध होता है, उसे वैसा ही स्वीकार करना चाहिये। फिर बलवती बाधक प्रतीति के बल से उसमें अन्यथात्व (अन्य प्रकार का होना) हो सकता है। (प्रकृत में) 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार का बाध 'यह' (इदम्=यह, इदन्ता= यह होना) अंश मात्र का बाध करके ही उपपन्न हो गया (सार्थक हो जाता है) अतः 'इस (बाध—ज्ञान) की रजतविषयकता (मानना) उचित नहीं; क्योंकि रजत रूप धर्मी का बाध होने पर रजत और उसका धर्म (इदन्ता) दोनों बाधित हो जायेंगे, इसलिए यही अच्छा है कि इस (रजत) का धर्म 'इदन्ता' ही बाधित हो, रजत रूप धर्मी नहीं। इस प्रकार रजत बाहर (बाह्य जगत् में) बाधित होकर अर्थतः आन्तरिक ज्ञान में स्थित होती है तथा ज्ञान के आकार का बाह्य में अध्यास सिद्ध होता है[१०]।"

भ्रान्ति या विपर्यय के विषय में प्रत्येक भारतीय दर्शन ने गम्भीर विचार किया है तथा प्रत्येक ने इसकी अलग-अलग व्याख्या की है। वह दार्शनिक जगत् में अन्यथाख्याति, अख्याति, आत्मख्याति तथा असत्ख्याति नाम से प्रसिद्ध है। अन्यथाख्याति न्याय-वैशेषिक

---

१०. अन्यधर्मस्य ज्ञानधर्मस्य रजतस्य, ज्ञानाकारस्येति यावत्। अध्यासोऽन्यत्र बाह्ये। सौत्रान्तिकनये तावद् बाह्यमस्ति वस्तुसत्, तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः। विज्ञानवादिनामपि यद्यपि न बाह्यं वस्तुसत् तथाप्यनाद्यविद्यावासनारोपितमलीकं बाह्यं तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः। उपपत्तिश्च यद् यादृशमनुभवसिद्धं रूपं तत्तादृशमेवाभ्युपेतव्यम इत्युत्सर्गः, अन्यथात्वं पुनरस्य बलवद्बाधक-प्रत्ययवशात्। नेदं रजतमिति च बाधस्येदन्तामात्रबाधेनोपपत्तौ न रजतगोचरतोचिता; रजतस्य धर्मिणो बाधे हि रजतं च तस्य च धर्म इदन्ता बाधिते भवेताम्, तद्वरमिदन्तैवास्य धर्मो बाध्यतां न पुना रजतमपि धर्मि तथा च रजतं बहिर्बाधितमर्थादान्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठत इति ज्ञानाकारस्य बहिरध्यासः सिध्यति। भामती, पृ० २६।

को अभिमत है, अख्याति को मीमांसक (प्रभाकर) तथा आत्मख्याति को विज्ञानवादी बौद्ध और असत्ख्याति को माध्यमिक स्वीकार करते हैं। उनका विवेचन यहाँ नहीं करना है। यहाँ तो केवल यही कथन पर्याप्त है कि भ्रान्ति में किसी वस्तु में अन्य की प्रतीति होती है; जैसे शुक्ति (सीपी) में किसी व्यक्ति को रजत (चांदी) का भ्रम हो जाता है। यहाँ शुक्ति भ्रान्ति का आधार (अधिष्ठान) है, जिसमें रजत की भ्रान्ति होती है। प्रातिभासिक प्रतीति के लिये यह अधिष्ठान आवश्यक है इसके बिना किस में मिथ्या प्रतीति होगी ? इसी हेतु भामती के उद्धरण में आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मतानुसार भ्रान्ति का स्वरूप दिखलाते हुए भ्रान्ति के अधिष्ठान पर भी विचार किया गया है। बाह्य वस्तु में ज्ञान के आकार का आरोप करना ही अध्यास या भ्रान्ति का स्वरूप है। वाचस्पति मिश्र ने अध्यास के इस लक्षण को वैभाषिक, सौत्रान्तिक तथा विज्ञानवादी तीनों सम्प्रदायों का अभिमत माना है। वैभाषिक के मतानुसार बाह्य वस्तु 'शुक्ति' का ग्रहण होता है; हमारे ज्ञान में रजत-वासना विद्यमान है अतः ज्ञानरूप में स्थित (ज्ञानधर्म) रजत की बाह्य रूप में प्रतीति होने लगती है। वैभाषिक के अनुसार इस प्रतीति में कोई कठिनाई नहीं; क्योंकि बाह्य वस्तु का ग्रहण होने पर उसमें अन्य धर्म की प्रतीति होना संभव है। किन्तु, जैसा कहा जा चुका है, सौत्रान्तिक तो बाह्य वस्तु का ग्रहण नहीं मानता, उसके अनुसार तो बाह्य वस्तु अनुमेय है। जब बाह्य वस्तु (शुक्ति) का ग्रहण नहीं होगा तो उसमें ज्ञानाकार (रजत) का आरोप कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भ्रान्ति के लिए अधिष्ठान (शुक्ति आदि) का ग्रहण होना ही आवश्यक नहीं, केवल उसका स्फुरण होना चाहिये[११], ज्ञान में किसी प्रकार भी प्रतीति होनी चाहिये। क्योंकि सौत्रान्तिक के मतानुसार बाह्य अर्थ की अनुमानजन्य प्रतीति हो जाती है अतः उस बाह्य (अध्यवसित शुक्ति) में ज्ञानाकार (रजत) का आभास होना सम्भव है। इसी प्रकार बाह्यार्थ का खण्डन करने वाले विज्ञानवादी के मत में भी। यद्यपि उसके मत में बाह्यार्थ वस्तुसत् नहीं—परमार्थसत् नहीं, किन्तु अनादि काल से चली आती हुई अविद्यावासना से कल्पित अलीक बाह्य है ही। भ्रान्ति का अधिष्ठान वस्तुसत् ही हो यह भी आवश्यक नहीं। प्रातिभासिक सर्प में भी फण, पुच्छ आदि की भ्रान्ति होती देखी जाती है। इसी आधार पर विज्ञानवादी बाह्य वस्तु का खण्डन कर देता है।

'ज्ञानाकार रजत का बाह्य में आरोप किया जाता है' इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये युक्ति यह दी जाती है कि सामान्यतः यह लोक-प्रसिद्ध है कि जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है उसे वैसा ही स्वीकार किया जाता है। किन्तु इस नियम में अपवाद भी हैं। कोई व्यक्ति शुक्ति को रजत समझ लेता है फिर उसे लेने के लिये प्रवृत्त होता है तथा देखता है कि यह तो रजत नहीं। इस असमर्थ (असफल) प्रवृत्ति से उसके ज्ञान का बाध होता है। वह समझ लेता है कि यह रजत नहीं, यही बाधज्ञान है—बाधक प्रत्यय है। बौद्ध का कथन है कि यह बाधक प्रत्यय पुरोवर्ती (सामने स्थित) वस्तु के रजतत्व (चाँदी होने) का निषेध करता है, केवल यह बतलाता है कि यह सामने स्थित वस्तु रजत नहीं। रजत की पुरोवर्तिता—सामने स्थिति या इदन्ता का निषेध करना ही इस बाधक ज्ञान का विषय है, रजत का निषेध करना नहीं। इससे रजत की बाह्य जगत् में सत्ता का बाध हो जाता है, उसकी सत्तामात्र का बाध नहीं हो जाता। फिर वह रजत कहाँ है ? यह विचार

११. स्फुरदधिष्ठानमस्तीत्यर्थः। कल्पतरुपरिमल, पृ० २६।

करने पर प्रतीत होता है कि रजत ज्ञान में स्थित है, ज्ञान का आकार है। इस प्रकार ज्ञानाकार रजत का बाह्य रूप में अध्यास होता है, यही भ्रम है। विज्ञानवादी की इस आत्मख्याति को न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में स्पष्टतः इस प्रकार कहा गया है—**केचित्तु स्वाकारं बाह्यत्वविषयं ज्ञानं विपर्यय इत्याचक्षते**। न्या० वा० ता०, पृ० ८५। "अर्थात् कुछ (विज्ञानवादी) कहते हैं कि अपने आकार का बाह्यविषयक ज्ञान विपर्यय है।"

इसमें प्रतिपक्षियों की शंका यह होती है कि—"रजत आदि की विज्ञानाकारता को अनुभव से सिद्ध किया जाता है या अनुमान द्वारा। इसमें से अनुमान का आगे निराकरण किया जायेगा। अनुभव भी रजत-प्रतीति रूप है या बाधक-प्रतीति? रजत का अनुभव तो (रजत की ज्ञानाकारता को सिद्ध करने वाला) है नहीं; क्योंकि वह तो 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकार इदं के विषय रूप में (इदंकारास्पदम्) रजत को बतलाता है, आन्तरिक (रजत को) नहीं। (यदि यह अनुभव आन्तरिक रजत को बतलाए) तब तो 'अहं रजतम्' (मैं रजत हूँ) यह प्रतीति हुआ करे; क्योंकि विज्ञानवादी के मत में ज्ञाता (प्रतिपत्तृ) ज्ञान (प्रत्यय) से अभिन्न है (पृथक् नहीं)।[१२] (बाधक प्रतीति से भी रजत की ज्ञानाकारता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि) "आखें बन्द करके विज्ञान के पक्षपात को छोड़कर आप देखिये तो सही कि यह बाधक प्रत्यय रजत की सामने स्थित द्रव्य में एकरूपता का निषेध करता है अथवा रजत की ज्ञानाकारता को भी प्रकट करता है। तब बाधक प्रत्यय रजत की ज्ञानाकारता को प्रकट करता है, यह कहते हुए देवानां प्रिय (मूढ) आप सराहनीय बुद्धि वाले माने जायेंगे।"[१३]

प्रतिपक्षियों के इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए विज्ञानवादी कहता है—**भ्रान्तं विज्ञानं स्वाकारमेव बाह्यतयाऽध्यवस्यति। तथा च नाहङ्कारास्पदमस्य गोचरः। ज्ञानाकारता पुनरस्य बाधकप्रत्ययप्रवेदनीयेति।······पुरोवर्तित्वप्रतिषेधाद् अर्थाद् अस्य ज्ञानाकारतेति।** भामती, पृ० २६।

"भ्रान्तियुक्त ज्ञान अपने आकार को ही बाह्य रूप में अनुभव करता है तथा इसका विषय 'अहं' शब्द का भाजन (आस्पदम्) नहीं होता। इस (रजत) की ज्ञानाकारता तो बाधक प्रत्यय से जानी जाती है।·····(रजत की) सामने स्थिति का प्रतिषेध हो जाने के कारण इस (रजत) की ज्ञानाकारता अर्थापन्न है (अर्थाद् आपद्यते)"।

विज्ञानवादी का अभिप्राय यह है कि ज्ञान भ्रान्ति से अपने रूप को बाह्य रूप में अनुभव करता है। बाह्य रूप में अनुभव करने के कारण ही 'यह (बाह्य, पुरोवर्ती) रजत है', ऐसी प्रतीति होती है और 'अहं रजतम्' यह प्रतीति नहीं होती। जहाँ तक रजत की

१२. विज्ञानाकारता रजतादेरनुभवाद्वा व्यवस्थाप्येतानुमानाद्वा। तत्रानुमानमुपरिष्टान्निराकरिष्यते। अनुभवोऽपि रजतप्रत्ययो वा स्यात् बाधकप्रत्ययो वा। न तावद् रजतानुभवः स हीदंकारास्पदं रजतमावेदयति न त्वान्तरम्, अहमिति हि तदा स्यात्, प्रतिपत्तुः प्रत्ययाद् अव्यतिरेकात्। भामती, पृ० २६।

१३. हन्त चक्षुषी निमील्य (निमील्य=बंद करके, मीचकर; भारत में प्राचीन काल में नेत्र बन्द करके ही किसी सूक्ष्म बात का मनन किया जाता था, उसी की ओर यहाँ संकेत है) वैज्ञानिकपक्षपातं परित्यज्य आलोचयतु भवान् किं पुरोवर्तिद्रव्याकारतामात्रं प्रतिषेधति रजतस्याहोस्वित् ज्ञानाकारतामप्यस्योपदर्शयति बाधकप्रत्ययः। तत्र ज्ञानाकारतोपदर्शनव्यापारं बाधकप्रत्ययस्य ब्रवाणः श्लाघनीयप्रज्ञो देवानांप्रियः। न्या० वा० ता०, पृ० ८६।

ज्ञानाकारता का सम्बन्ध है वह तो बाधक प्रत्यय से ही जानी जाती है। यद्यपि बाधक प्रत्यय से यह साक्षात् अनुभव नहीं होता कि 'रजत ज्ञानाकारक है' तथापि बाधकप्रत्यय यह बतला देता है कि 'यह सामने स्थित वस्तु रजत नहीं।' फिर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अर्थतः यह प्रतीति हो जाती है कि रजत ज्ञानाकारक है। विज्ञानवादी ने विपर्यय के विषय रजत को ही ज्ञान का आकार नहीं माना अपि तु समस्त दृश्यमान जगत् को भी ज्ञान का आकार (ज्ञानाभिन्न) सिद्ध किया है यह विवेचन किया जा चुका है।[१४]

अब प्रश्न यह है कि शून्यवादी के यहाँ विपर्यय या भ्रान्ति का क्या अर्थ है। वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं :— **अन्येऽसद्विषयं ज्ञानम्** (**विपर्यय इत्याचक्षते**) न्या० वा० ता०, पृ० ८५। (शून्यवादिनो बौद्धाः इति टिप्पणी)। "दूसरे असत् विषयक ज्ञान ही विपर्यय है यह कहते हैं—(दूसरे अर्थात् शून्यवादी बौद्ध-टिप्पणी)"

शून्यवादी के भ्रान्तिविषयक मत का स्पष्टीकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—"बाधक प्रत्यय के अनुरोध से यह स्वीकार करना चाहिये कि मिथ्या प्रतीतियों का स्वभाव है—असत् को प्रकट करना। जैसे कि 'यह रजत नहीं' इस प्रकार का बाधक ज्ञान 'यह रजत है' इस ज्ञान के विषय (बाह्य) का अभाव प्रकट करता है। ऐसा भी नहीं कि असत् (वस्तु) ज्ञान का विषय ही नहीं हो सकती; क्योंकि विषयता (ज्ञान का विषय होना) कारणता तो है नहीं जो असत् में न हो सकेगी। किन्तु अपने कारण से होने वाली शक्तिविशेष (स्वकारणाधीनः सामर्थ्यातिशयः) ही विषयता है और ज्ञान का वह सामर्थ्यविशेष ऐसा है जो असत् (अविद्यमान) को भी सत् (विद्यमान) के समान अनुभव कराता है। विषय के सामर्थ्य की इसमें कोई अपेक्षा (उपयोग) नहीं, ज्ञान के सामर्थ्य से ही असत् का सद्भाव (तद्भाव) सिद्ध हो जाता है"।[१५]

माध्यमिक का यह अभिप्राय है कि 'यह रजत नहीं' इस प्रकार का बाधक ज्ञान पुरोवर्ती द्रव्य में रजत का निषेध नहीं करता अपि तु यह प्रकट करता है कि जो रजत ज्ञान का विषय है, जिसमें 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकार की प्रतीति हो रही है, वही नहीं है, वह असत् है तथा भ्रान्ति के अधिष्ठान (विषय) का प्रतिषेध करता है। इस हेतु असत्—अभाव—शून्य में ही रजत की भ्रान्ति हो जाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वैभाषिक के यहाँ भ्रान्ति का अधिष्ठान (बाह्य शुक्तिका) ग्राह्य है, सौत्रान्तिक उसे अनुमेय कहता है और विज्ञानवादी उसे सांवृतिक (अलीक) मानता है, किन्तु माध्यमिक उसे असत् कहता है। साथ ही वैभाषिक, सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी के मतानुसार 'रजत' की ज्ञान में सत्ता है किन्तु शून्यवादी के अनुसार रजत की ज्ञान में भी सत्ता नहीं। इस प्रकार 'असत्' की ही रजत रूप से प्रतीति होती है; यही असत्ख्याति है। इस असत्ख्याति के आधार पर ही माध्यमिक 'सर्वं शून्यम्' का सिद्धान्त खड़ा करता है।

---

१४. ऊपर, परि० ४ अनु० २।

१५. सन्तु तर्हि बाधकप्रत्ययानुरोधाद् असत्प्रकाशनशीला एव मिथ्या-प्रत्ययाः। तथा हि बाधकं विज्ञानं नेदं रजतमिति रजतज्ञानगोचरस्यासत्त्वं गृह्णाति। न चासतो विषयभावो नोपपद्यते, न हि विषयत्वं नाम कारणत्वं येनासति न स्यात्, किन्तु स्वकारणाधीनः सामर्थ्यातिशयः, स तादृशो ज्ञानस्य येन सन्तमिवासन्तमपि गोचरयति। न च विषयसामर्थ्यमत्रोपयुज्यते ज्ञानस्य सामर्थ्यमात्रादेव तद्भावसिद्धेः। न्या० वा० ता०, पृ० ८६।

अब प्रश्न यह है कि 'असत्' ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है ? जब कोई वस्तु (अधिष्ठान) है ही नहीं तो उसमें अन्य की प्रतीति कैसे संभव है ? उसका उत्तर देते हुए शून्यवादी कहता है कि मेरे मत में तो कारणता भी अभाव या असत् में हो सकती है (अभावाद् भावोत्पत्तिः) किन्तु यदि आप (न्याय-वैशेषिक) के मतानुसार यह भी मान लिया जाये कि असत् में कारणता नहीं हो सकती तो भी ज्ञान की विषयता तो कारणता नहीं; अतः वह अभाव (असत्) में भी हो सकेगी। वास्तव में विषयता का अर्थ है—शक्ति-विशेष, जो अपने कारणों से होती है। ज्ञान में ही वह शक्ति-विशेष रहती है जो असत् वस्तु को भी सत् के रूप में भासित कराती है। इस प्रकार जो असत् वस्तु का भास होता है वही विपर्यय है—भ्रान्ति है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आत्मा के विषय में यह भ्रान्ति या अविद्या अनादि काल से चली आ रही है। इसी को वेदान्ती भी अविद्या कहते हैं, अनिर्वचनीय कहते हैं। शून्यवादी असत्प्रकाशन रूप सामर्थ्य को ही विपर्यय मानता है। अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के मतानुसार विपर्यय का स्वरूप ऊपर दिखलाया जा चुका है। इस भ्रान्ति के कारण व्यक्ति अनात्मा को आत्मा समझ लेता है। इससे राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है और तृष्णायुक्त होकर वह संसार में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार जन्ममरण और दुःख का चक्र चलता रहता है। यही संक्षेप में दुःख और दुःखहेतु है। यहाँ आत्मा को मानना रूप अविद्या परम्परया तृष्णा का हेतु है और तृष्णा है समस्त दुःखों का एक मात्र कारण।

३. दुःखनिरोध का उपाय

दुःखनिरोध बुद्ध के समस्त दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। समस्त दर्शन तथा आचार मार्ग इसी केन्द्र बिन्दु के चारों ओर घूम रहा है। दुःखनिरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग का उल्लेख मात्र ही वाचस्पति मिश्र ने किया है। वास्तव में यह विशुद्ध दार्शनिक संघर्ष एवं विवेचन का समय था। इस समय दर्शन बहुत कुछ स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में विकसित हो रहा था, जीवन या संसार और निर्वाण से उसका सम्बन्ध नाममात्र का ही रह गया था। प्रसंगवशात् ही इनका उल्लेख कर दिया जाता था। फलतः वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में भी इसका संक्षेप रूप में होना स्वाभाविक ही है। यहाँ दुःखनिरोध तथा निरोध के उपाय का दार्शनिक पहलू ही कुछ देखा भर गया है. उसका स्पष्टतः विवेचन नहीं किया गया। फिर भी दुःख-निरोध आदि के विषय में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में कुछ उल्लेख अवश्य हैं। न्यायकणिका में कहा गया है—

'(दुःखनाश के) उपाय का अपरिज्ञान भी नहीं, क्योंकि दुःख के उत्पादक राग-द्वेष आदि दोष तथा मद-मान आदि (उपक्लेश) हैं। ये उत्पादक होते हुए भी दुःख के अवयव हैं ? अतः जब ये नष्ट होते हैं तो दुःख को भी नष्ट कर देते हैं जैसे जो ज्वर कफ से उत्पन्न होता है वह कफ की निवृत्ति से निवृत्त हो जाता है। और, (रागादि) दोष नित्य-आत्मा आदि के दर्शन (विचार या धारणा) से उत्पन्न होने वाले हैं अतः उसके अवयव हैं, उसके साथ अभिन्न रूप से रहते हैं और उस (नित्यात्मदर्शन) के न होने पर नहीं रहते। नित्यात्मदर्शन को नष्ट करने का हेतु उसके विरोधी (सर्वधर्मनैरात्म्यभाव) के साक्षात्कार

से अन्य नहीं।"[१६] भाव यह है कि राग आदि दोष दुःखों के हेतु हैं अतः उनकी निवृत्ति से दुःख की निवृत्ति हो जाती है, दुःख-निरोध हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि राग आदि दोषों की निवृत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। नित्य एक आत्मा को स्वीकार करने से राग आदि उत्पन्न होते हैं, यह पहले कहा जा चुका है। अतः आत्मदर्शन या नित्यात्मा की स्वीकृति ही राग आदि का कारण है। आत्मदर्शन की धारणा को बदलने से ही राग आदि का नाश हो सकता है। इस धारणा को नष्ट करने का उपाय है इसकी विरोधी धारणा; आत्मवाद के स्थान पर अनात्मवाद को स्वीकार करना। यही दुःखविनाश का मुख्य उपाय है; जैसा कि कहा भी है—**धर्मपुद्गलनैरात्म्यज्ञानम् इत्यपरे। न्या० वा०ता०, पृ० ६३९ पं०६।** "धर्म पुद्गल के विषय में नैरात्म्य ज्ञान (मिथ्याज्ञान का निवर्तक है) यह दूसरे अर्थात् बौद्ध कहते हैं।

बुद्ध ने दुःख-निरोध-मार्ग का अन्वेषण करके आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का निर्देश किया था। यह आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग था—(१) सम्यक्दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् जीविका (६) सम्यक् प्रयत्न (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि। इनमें सम्यक् दृष्टि या सम्यक् ज्ञान अष्टाङ्गिक मार्ग का प्राण है, मूल आधार है। इसी का दार्शनिक विवेचन से विशेष सम्बन्ध है। सम्यक् ज्ञान में कायिक, वाचिक, मानसिक समस्त भले-बुरे कर्मों का ठीक-ठीक ज्ञान करना सम्मिलित है। दुःख के हेतु, निरोध तथा निरोध-मार्ग का ठीक ठीक ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है। सम्यक् दर्शन का आधार है—नैरात्म्य-ज्ञान। अतएव बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों में सम्यक् दृष्टि शब्द का अर्थ नैरात्म्यदृष्टि किया गया है।[१७] वाचस्पति मिश्र ने सम्यक् दृष्टि का ही उल्लेख किया है। योग-भाष्य की व्याख्या करते हुए अष्टाङ्गिक मार्ग के चरम अङ्ग समाधि का प्रसङ्ग भी आ गया है। वहाँ वाचस्पति मिश्र ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि क्षणिक चित्त में एकाग्रता का क्या अर्थ है। योग दर्शन की ओर से यह आक्षेप किया गयाहै —"वैनाशिक (बौद्ध) के मत में सब चित्त एकाग्र ही हैं (क्योंकि एकवस्तुविषयक एक विज्ञान होता है, वह क्षणिक है) कोई भी चित्त विक्षिप्त (एकाग्रता-विहीन) नहीं है अतः उस (एकाग्रता) के लिये दिये गये उपदेश तथा उसके लिये किये गये प्रयत्न सब व्यर्थ हैं"।[१८]

इसका उत्तर देते हुए बौद्ध-दर्शन की चित्तैकाग्रता या समाधि का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—**योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते। योगभाष्य १.३२। मा भूदेकस्मिन्चित्ते एकाग्रताधानयत्नः, चित्तसन्ताने त्वनादावक्षणिके विक्षेपमपनीय एकाग्रताऽऽधास्यत इत्यर्थः। तत्ववैशारदी, १.३२।** "जो समान चित्तों के प्रवाह के द्वारा चित्त को एकाग्र मानता है अर्थात् एक चित्त (क्षण) में एकाग्रता धारण करने का प्रयत्न भले ही न हो, अनादि तथा अक्षणिक चित्तसन्तान में तो विक्षेप को दूर करके एकाग्रता धारण की जायेगी।"

---

१६. नाप्युपायापरिज्ञानम्। तथा हि, दुःखस्य समुत्पादका दोषाः रागद्वेषादयो मदमानादयश्च ते चोत्पादका अपि तदवयवान्निवर्तमानास्तदपि निवर्त्तयन्ति, यथा कफोद्भवो ज्वरः कफनिवृत्त्या निवर्त्तते। दोषाश्च नित्यात्मादिदर्शनजन्मानः तदवयवास्तदविभागवर्तिनस्तदभावे न भवन्ति। तदभावहेतुर्न तत्प्रतिपक्षसाक्षात्कारादन्यः। न्यायकणिका, पृ० १४२।

१७. सम्यक् दृष्टिः नैरात्म्यदृष्टिः। प्र० वा० (मनोरथनन्दिवृत्ति) १ : २७३।

१८. वैनाशिकानां तत्सर्वमेकाग्रमेव चित्तं (यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तम् योगभाष्य १.३२) नास्ति किञ्चिद् विक्षिप्तमिति तदुपदेशानां तदर्थानां च प्रवृत्तीनां वैयर्थ्यम्। तत्ववैशारदी योगसूत्र ; १.३२।

भगवान् बुद्ध ने अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश देते हुए कहा था—"चित्त की एकाग्रता को सम्यक् समाधि कहते हैं।[१९] सम्यक् समाधि में मन के विक्षेपों को हटा दिया जाता है और मन एकाग्र हो जाता है। यह ठीक है कि चित्त क्षणिक है, एकार्थविषयक एक प्रवृत्ति-विज्ञान होता है, उस क्षणिक प्रवृत्ति-विज्ञान में किसी विक्षेप को अवकाश नहीं, अतः वह स्वयं ही एकाग्र है। किन्तु उस चित्त-सन्तति में जो चित्त-प्रवाह चलता है उसमें दो स्थिति हो सकती हैं; एक तो यह कि चित्त-सन्तति रूपी नदी में सदृश विज्ञानों की धारा प्रवाहित हो; दूसरी यह कि एक चित्तक्षण के पश्चात् उसका विसदृश चित्तक्षण आवे, फिर उसका विसदृश। इनमें प्रथम स्थिति एकाग्रता की अवस्था कही जायेगी। यह चितसन्तान अनादि है। इसमें एकाग्रता धारण करने के लिये ही सम्यक् समाधि का उपदेश तथागत ने दिया था। यह चित्तसन्तान चित्तों (विज्ञानों) से भिन्न नहीं अर्थात् चित्तक्षणों की परम्परा ही चित्त-सन्तान है अतः परमार्थ रूप में इसे अक्षणिक नहीं कहा जा सकता, केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही अक्षणिक कहना संगत हैं।

यहाँ एक शंका और भी होती है वह यह कि तत्त्वज्ञान द्वारा एक बार मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी फिर से मिथ्या ज्ञान की वासनाओं के द्वारा मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती? यह शंका सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के यहाँ सम्भव है तथा उसका उत्तर भी प्रायः समानरूप से ही दिया जा सकता है। वाचस्पति मिश्र ने न्याय के तत्त्वज्ञान की व्याख्या करते हुए इस शंका का उत्तर दिया है और वहीं बौद्ध-दर्शन के उत्तर को भी अपने मत के समर्थन के लिये उद्धृत किया है। वे लिखते हैं—

''मनुष्यों की बुद्धियाँ तब तक ही अस्थिर रहती हैं तथा अपने अभ्यस्त संस्कारों का प्रसार करती हैं जब तक कि वे वास्तविक वस्तु का साक्षात्कार नहीं करती। उसका साक्षात्कार करने पर तो वे उसमें ही स्थिर हो जाती हैं और वासनासहित मिथ्याज्ञान को नष्ट कर देती हैं; क्योंकि यथार्थ वस्तु के प्रति पक्षपात होना बुद्धि का स्वभाव है; जैसा कि अन्यों अर्थात् बौद्धदार्शनिकों (धर्मकीर्त्ति) ने भी कहा है :—'(दोषराशि के नष्ट हो जाने से) बाधारहित (निरुपद्रवस्य), वास्तविक अर्थ का भान करने वाले (भूतार्थस्य) (नैरात्म्य आदि) स्वभाव का मिथ्याज्ञान के द्वारा (विपर्ययैः) प्रयत्न न करने पर भी बाध नहीं होता; क्योंकि उस निर्दोष ज्ञान में बुद्धि का पक्षपात है। इसलिए मिथ्याज्ञान की फिर उत्पत्ति नहीं होती।[२०]

बौद्धदार्शनिकों का भाव यह है कि साक्षात् किया हुआ स्वभाव फिर नहीं बदला जा सकता।[२१] अतः जब बुद्धि नैरात्म्य-साक्षात्कार कर लेती है तो फिर मिथ्या ज्ञान का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। उस दशा में व्यक्ति बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है और सर्वज्ञ हो जाता है।

---

१९. मज्झिम निकाय, १.५.४।

२०. तावदेव पुंसां बुद्धयोऽस्थिराः भ्राम्यन्ति स्वोचितं संस्कारजातमातन्वते च न यावद्भूतमर्थं साक्षात् कुर्वन्ति। अथ साक्षात्कृते तत्र स्थिरपदा भवन्ति क्षिण्वन्ति च सवासनान्मिथ्या-प्रत्ययान्। भूतार्थपक्षपातो हि बुद्धेः स्वभावः। यदाहुर्बाह्या अपि—
'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः। इति।
तस्माद् मिथ्याज्ञानस्य न पुनरुत्पादः। न्या० वा० ता०, पृ० ९५।
प्र० वा० (मनो०), १.२१२ में 'न बाधा यत्नवत्त्वेऽपि' यह पाठ है।

२१. न हि स्वभावः साक्षात्कृतोऽन्यथाकर्तुं शक्यः। प्र० वा० (मनो०), १.२१३।

४. बौद्ध-दर्शन में सर्वज्ञता का स्वरूप

आरम्भ में बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं माना जाता था। प्रो० कीथ का कथन है—"भक्ति और पूजा की प्राथमिक (Primitive) भावना के अनुसार हमें पूर्वकालीन बौद्धमत में बुद्धत्व प्राप्ति के प्रयास का कोई संकेत नहीं मिलता।"[२२] महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी मज्झिम निकाय से प्रमाण उद्धृत करते हुए बतलाया है कि बौद्ध सर्वज्ञता को स्वीकार नहीं करते थे।[२३] आगे चलकर महायान सम्प्रदाय में बुद्ध को ही सर्वज्ञ नहीं माना गया अपितु युक्ति और तर्क के आधार पर यह भी स्वीकार किया जाने लगा कि तृष्णा आदि से विनिर्मुक्त, धर्म और पुद्गल के नैरात्म्यभाव का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति सर्वज्ञता को प्राप्त करता है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में अत्यन्त विस्तार के साथ यह प्रतिपादित किया है कि बौद्धदर्शन सर्वज्ञता प्राप्ति का समर्थन करता है। सर्वज्ञ से बौद्ध का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

प्रहीणरागाद्यावरणतत्त्वज्ञानः खल्वयमनवयवेन विश्वं करतलाऽऽमलकमिव साक्षादीक्षमाणः सर्वज्ञः साक्षात्कृतानुश्रविकश्रेयःसाधनो भवति, भवति च हितकामः। दुःखतो जगदुद्धर्तुकामस्यास्य सर्वज्ञतामन्तरेण तदनुपपत्तेस्तत्र प्रवृत्तेः। न्यायकणिका पृ० १११।

"अर्थात् जिसके तत्त्वज्ञान के आवरण राग आदि नष्ट हो जाते हैं ऐसा यह सर्वज्ञ समस्त विश्व को हाथ पर रक्खे हुए आंवले के समान पूर्णतया साक्षात् देखता है तथा शास्त्र प्रतिपादित (आगमगम्य) कल्याण के मार्ग को साक्षात् अनुभव करता है। यह (प्राणियों के) हित की कामना करने वाला होता है। दुःख से संसार का उद्धार करने की कामना वाला यह सर्वज्ञता के बिना संसार का उद्धार नहीं कर सकता (तदनुपपत्तेः)।"

अब प्रश्न यह है कि शास्त्र प्रतिपादित कल्याणमार्ग का साक्षात्कार करके भी वे सर्वज्ञ कभी अन्यथा उपदेश दे सकते हैं अथवा उपदेश नहीं भी दे सकते फिर वे अनुसरण योग्य (अनुविधेय) कैसे होंगे ?[२४] इसके उत्तर में कहा गया है कि वे लोक हितैषी हैं उन भगवान् की करुणा विश्वव्यापिनी है, वह उत्कट वैराग्य से युक्त हैं तथा राग आदि क्लेश और मद मान आदि उपक्लेश उन्हें लेशमात्र भी छू नहीं गये। फिर वह संसार के दुःखों की अत्यन्त गहरी दलदल में फंसे हुए प्राणियों को देखकर 'इनका कैसे उद्धार करूँ', इस प्रकार उनके दुःखों से दुःखी हो जाते हैं। वह प्राणियों के हित-प्राप्ति तथा अहित-परिहार के तत्त्व को भली भांति जानते हैं और उनकी नेत्र आदि इन्द्रियाँ भी समर्थ हैं फिर भला, वे अन्यथा (मिथ्या) उपदेश कैसे दे सकते हैं ? अथवा यह कैसे संभव है कि वे उपदेश न दें।[२५]

---

२२. Keith, Buddhist Philosophy, p. 133-134.

२३. बौद्धदर्शन, पृ० ५३।

२४. ननु साक्षात्कृतागमगम्यश्रेयःसाधनोऽपि कदाचिदन्यथा ब्रूयात् न वा ब्रूयात् तत्कथमस्यानुविधेयता। न्यायकणिका, पृ० ११०।

२५. हितकामः परेषां स्वार्थीभूतविश्वव्यापिकारुण्यो हि भगवान् वैराग्यातिशयसम्पन्नो मात्रयाऽपि रागादिभिः क्लेशैरुपक्लेशैश्च मदमानादिभिरपरामृष्टः। तदयमतिमहति संसारदुःखपङ्के निमज्जतः प्राणिनः पश्यन् कथं नामैतानुद्धरेयमिति तद्दुःखेन कथं न दूयमानो वा हिताऽहितप्राप्तिपरिहारोपायतत्त्वं विद्वान् कारणपाटवे सति कथमन्यथोपदिशेत्, नोपदिशेद् वा। वही, पृ० ११०-१११।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वह हित प्राप्ति और अहित निराकरण के उपायों को कैसे जान सकते हैं ? इसका उत्तर संक्षेप में यही है कि वह सर्वज्ञ हैं इसीलिए उनके राग आदि मल नष्ट हो गये हैं और समस्त विश्व का हस्तामलकवत् ज्ञान उन्होंने किया है। अपने अनुभव द्वारा कल्याणमार्ग का साक्षात्कार किया है फिर हितोपाय का ज्ञान होना असम्भव कैसे हो सकता है ? सर्वज्ञता के बिना यह संसार का उद्धार नहीं कर सकते; अतः वह सर्वज्ञ हैं, यह सिद्ध होता है।

५. सर्वज्ञताविषयक विरोधी-युक्तियों का निराकरण

(क) **सर्वज्ञता में प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक नहीं**—जो विरोधी सर्वज्ञ की सत्ता का विरोध करते हैं उन्हें उत्तर देते हुए बौद्ध दर्शन कहता है कि आप यह कैसे कहते हैं कि सर्वज्ञ नहीं हो सकता ? किसी वस्तु का प्रतिषेध करने के लिए दो उपाय हैं। एक तो उसके बाधक प्रमाण मिलते हों, दूसरे उस वस्तु के साधक प्रमाण न हों। बौद्ध दर्शन के मतानुसार दो प्रमाण हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान। इनमें प्रत्यक्ष सर्वज्ञता के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता; क्योंकि सर्वज्ञता तो अत्यन्त परोक्ष है, अतीन्द्रिय है। उसका किसी प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत वस्तु से विरोध कैसे जाना जा सकता है ? इन युक्तियों का वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार उल्लेख किया है—"यह नहीं कि सर्वज्ञ नहीं है। उसका प्रतिषेध बाधक प्रमाणों के होने से हो सकता है या साधक प्रमाणों के अभाव से। बाधक प्रमाण तो हैं नहीं। जैसे शुक्ति में समारोपित (मिथ्याकल्पित) रजत का बाध करने वाला प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार यह प्रत्यक्ष (सर्वज्ञता) का बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि उसके विरुद्ध प्रतीति (उपस्थान) संभव नहीं। अत्यन्त परोक्ष (सर्वथा अतीन्द्रिय) सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई किसी वस्तु के साथ विरोध नहीं जाना जाता।"[२६]

(ख) **अनुमान प्रमाण द्वारा भी सर्वज्ञता का बाध नहीं होता**—अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञता का निषेध नहीं कर सकता। इस बात को बौद्धदर्शन ने विस्तार से समझाया है (कहीं सामान्यतः तथा कहीं विशेष रूप से किसी विरोधी अनुमान का खण्डन करते हुए) अनुमान प्रमाण सामान्यरूपेण सर्वज्ञता का विरोध नहीं कर सकता, यह दिखलाते हुए वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—"अनुमान भी उस (सर्वज्ञता) का बाधक नहीं। अनुमान दो प्रकार का है—एक भाव को सिद्ध करने वाला (विधिसाधन) दूसरा अभाव को सिद्ध करने वाला (निषेधसाधन)। इनमें विधिसाधन अनुमान स्वभावहेतुक या कार्यहेतुक होता है। वह किसी वस्तु का निषेध करने में समर्थ नहीं, क्योंकि अन्य (अभाव) से सिद्ध होने वाली वस्तु में अन्य साधन की सामर्थ्य नहीं होती। अनुपलब्धिहेतुक अनुमान तो प्रतिषेध का साधन हो सकता है। और, वह यहाँ (सर्वज्ञता के अभाव को सिद्ध करने में) स्वाभावानुपलब्धि से भिन्न या तो सर्वज्ञ के विरुद्ध किसी अन्य पदार्थ का विधान करके अथवा सर्वज्ञता के कारण के व्यापक का निषेध करके सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध कर सकता है। स्वभाव से ही विप्रकृष्ट (अतीन्द्रिय) सर्वज्ञता के साथ किसी प्रतीयमान पदार्थ का विरोध तो पहले देखा नहीं गया;

२६. न च सर्वज्ञो नास्ति। तथा हि तदभावव्यवहारो बाधक-प्रमाणसद्भावाद्वा साधकप्रमाणाऽभावाद्वा भवेत्। न तावद् बाधकप्रमाणसद्भावः। न खलु प्रत्यक्षमस्य बाधकं रजतस्येव समारोपितस्य शुक्तितत्त्वं विषयः सम्भवति। तद्विरुद्धोपस्थानाऽसम्भवात्। सर्वज्ञताया अत्यन्तपरोक्षायाः केनचिदपि सह प्रत्यक्षप्रतीतेन विरोधानवगतेः। न्यायकणिका, पृ० १११।

क्योंकि विरोध का ज्ञान विरोधी के ज्ञान के बिना नहीं होता। यदि विरोधी (सर्वज्ञता) का ज्ञान होता है तो उसका अत्यन्त विरोध नहीं हो सकता। और, प्रत्यक्षानुपलब्धि[२७] से सिद्ध होने वाला कार्यकारणभाव उस सर्वज्ञ में जाना नहीं जा सकता जो स्वरूप से प्रत्यक्ष का विषय नहीं। इसलिये किसी की व्यापकता भी सर्वज्ञ में जाननी असम्भव है।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है,[२९] बौद्ध दर्शन में अनुमान के तीन प्रकार के हेतु (लिङ्ग) होते हैं—(१) स्वभावहेतु (२) कार्यहेतु (३) अनुपलब्धिहेतु। इनमें से पहले दो स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु तो भावरूप (सत्) पदार्थ की सिद्धि करने में सहायक हैं। अतएव वे सर्वज्ञता के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते। केवल अनुपलब्धिहेतुक अनुमान ही अभाव या निषेध को सिद्ध करने वाला है, किन्तु अनुपलब्धि से भी सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध नहीं होता, यह भाव है।

यदि सर्वज्ञता का विरोध करने वाले कहें कि इसके विपक्ष में प्रमाण मिलते हैं। जैसे बौद्ध के मतानुसार क्षणिकत्व के विपक्ष अक्षणिकत्व में सत्त्व (सत्ता) नहीं रह सकता; क्योंकि जो सत् पदार्थ हैं वे क्रम या अक्रम से अर्थक्रियाकारी होते हैं और स्थिर में क्रम से या अक्रम से अर्थक्रियाकारित्व नहीं बन सकता अतः उस (स्थिर) में सत्त्व भी नहीं रह सकता। सत्त्व के व्यापक क्रम और अक्रम की अनुपलब्धि से अक्षणिक (स्थिर) में सत्त्व का निषेध होता है, इसी प्रकार सर्वज्ञ के व्यापक का अभाव उपलब्ध होता है अतः सर्वज्ञ नहीं हो सकता।[३०]

इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन कहता है कि "सर्वज्ञ के व्यापक का ही अभाव है। यदि मान लिया जाये कि सर्वज्ञ का व्यापक कोई है तो सर्वज्ञ का नितान्त निषेध नहीं हो सकता; क्योंकि यदि सर्वज्ञता नहीं तो उसके साथ किसी का व्याप्यव्यापकभाव होना सम्भव नहीं, जैसे गगन-कुसुम न किसी का व्याप्य होता है न व्यापक। बिना सम्बन्ध के ही एक वस्तु की निवृत्ति से दूसरी की भी निवृत्ति होना उचित नहीं है यदि ऐसा होगा तो यह भी व्याप्ति

२७. 'प्रत्यक्षानुपलब्धिसाधनः' यह (पु०) पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। प्रत्यक्षम् अनुपलब्धिश्च साधने यस्य सः (कार्यकारणभावः)। कार्यकारणभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि से हुआ करता है। मि०, 'कार्यकारणभावो लोके प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनः प्रतीतः' न्यायबिन्दुटीका, पृ० २८।

२८. नाप्यनुमानमस्य बाधकम्। तद्धि विधिनिषेधसाधनतया द्विविधम्। तत्र विधिसाधनं स्वभावहेतुकं कार्यहेतुकं वा न निषेधे साध्ये प्रभवति। अन्यसाधनत्वेऽन्यसाधनस्याऽप्रसङ्गात्। अनुपलब्धिलिङ्गकं तु प्रतिषेधसाधनं भवेत्। तच्च स्वभावाऽनुपलम्भसाधनादन्यदिह सर्वज्ञविरुद्धार्थान्तरविधानेन वा तत्कारणव्यापकनिषेधेन वा सर्वविदभावं साधयेत्। न तावत्स्वभावविप्रकर्षिणा सर्वविदा सह कस्यचिदपि प्रतीयमानस्य विरोधो दृष्टपूर्वः। विरोधिप्रतिपत्तिनान्तरीयकतया विरोधाऽवगतेः। विरोधिप्रतिपत्तौ वा नाऽत्यन्ताय तन्निषेधः। न च प्रत्यक्षाऽनुपलम्भसाधनं कार्यकारणभावः स्वभावविप्रकर्षवति सर्वविदि शक्याऽवगमः। अत एव व्यापकत्वमपि कस्यचिद् दुरवसायमेव सर्वविदि। न्यायकणिका, पृ० १११।

२९. ऊपर, परि० ७ अनु० ३।

३०. नापि विपक्षे बाधके प्रमाणप्रवृत्तिः क्षणिकत्वस्येव सत्त्वे सर्वविद्व्यापकाऽभावाऽवगमनिबन्धनम्। न्यायकणिका, पृ० १११।

बन जायगी—"मोहन गायों वाला नहीं; क्योंकि यह अश्व नहीं रखता।"[३१] इसलिये सर्वज्ञता का निषेध किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

इस पर पूर्वपक्षी की ओर से शंका होती है कि असर्वज्ञता के व्यापक सत्त्व और ज्ञेयत्व आदि हैं उनकी उपलब्धि होने से सर्वज्ञता का बाध होता है। इस शंका का समाधान करते हुए बौद्ध-दर्शन कहता है—**न च सत्त्वज्ञेयत्वादयोऽसर्वज्ञतासहभुवः सहस्रश उपलब्धा व्याप्ता विवादाध्यासितस्य पुरुषधौरेयस्य विरुद्धोपस्थानेन सर्वज्ञतां प्रतिक्षिपन्तीति साम्प्रतम्। सत्त्वादेरसर्वत्रिद्व्याप्त्यसिद्धेः।** न्यायकणिका, पृ० ११२। "सत्त्व ज्ञेयत्व आदि धर्म असर्वज्ञता के साथ सहस्रों बार उपलब्ध होते हैं अतः वे असर्वज्ञता से व्याप्त हैं तथा विवाद के विषय पुरुषश्रेष्ठ के विरुद्ध स्थापना करके सर्वज्ञता का विरोध करते हैं, यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि सत्त्व आदि की असर्वज्ञ के साथ व्याप्ति ही असिद्ध है।"

सत्त्व और ज्ञेयत्व आदि की असर्वज्ञता के साथ व्याप्ति नहीं हो सकती। इसका न्यायकणिका (पृ० ११२) में विस्तृत विवेचन किया गया है।

(ग) **उपदेश करना भी सर्वज्ञता का बाधक नहीं**—अब पूर्वपक्षी सर्वज्ञता का निषेध करते हुए एक अन्य तर्क प्रस्तुत करता है—"उपदेश करना ही समस्त वस्तुओं के तत्त्वज्ञान का बाधक है; क्योंकि उपदेश सविकल्पज्ञान के कारण होता है और विकल्प ज्ञान समारोपित अर्थात् कल्पित-वस्तु-विषयक होने से मिथ्या होता है इसलिये बुद्ध का ज्ञान वैसा नहीं हो सकता"।[३३] इस आक्षेप का उत्तर देते हुए बौद्ध-दर्शन बतलाता है कि सर्वज्ञता का उपदेश से कोई विरोध नहीं:—

"क्योंकि सविकल्प ज्ञान का सर्वज्ञता से कोई विरोध नहीं। विकल्प दो प्रकार का है (१) भ्रान्तिपूर्वक और (२) अभ्रान्तिपूर्वक। इनमें से भ्रान्तिपूर्वक (आप जैसे) साधारण जनों का है और अभ्रान्तिपूर्वक पूज्य सर्वज्ञ का है। यह भ्रान्तियुक्त होकर विकल्पयुक्त नहीं होते, अपि तु समस्त वस्तुओं के तत्त्व को जानने वाले होते हैं तथा करुणा के वशीभूत मन हो जाने पर दुःखितों को उपदेश देने की अभिलाषा से विकल्पयुक्त होते हैं। वचन के बिना उपदेश नहीं हो सकता और विकल्प के बिना वचन (बोलना) संभव नहीं अतः विकल्पों की अवास्तविकता को जानते हुए भी उपदेश देते हैं, जैसे नैरात्म्य तत्त्व को जानते हुए भी विकल्पों द्वारा कल्पित आत्मा का निषेध करते हैं कि

---

३१. तदभावात्। भावे वा निषेधो नास्ति अत्यन्तायतस्य। न खलु खपुष्पं कस्यचिद् व्याप्यं सम्भवति व्यापकं वा। न चाऽन्यमात्रनिवृत्तावन्यस्य निवृत्तिः। अतिप्रसङ्गात्। यथाहुः—

अन्यस्यैव निवृत्त्याऽन्यविनिवृत्तिः कथं भवेत्।
नाऽश्ववानिति मर्त्येन न भाव्यं गोमताऽपि किम्? इति।

न्यायकणिका, पृ० १११-११२।

३२. पूर्वापरप्रसङ्ग की सङ्गति से यहाँ 'असर्वज्ञ' पाठ ही शुद्ध है। 'सत्त्वज्ञेयत्वादयो की सन्धि (यः=यो) से भी यही विदित होता है; क्योंकि 'सकार' परे होने पर तो यहाँ यह सन्धि ही न होगी।

३३. उपदेशप्रणयनमेव बाधकं सकलवस्तुतत्त्वदर्शनस्य। तथाहि उपदेशो विकल्पविज्ञानयोनि-र्विकल्पश्च समारोपितगोचरतया मिथ्येति न तथा तथागतविज्ञानं भवितुमर्हति। न्यायकणिका पृ० ११२।

आत्मा नहीं है ओर जिस प्रकार निपुण वैयाकरण गावी आदि शब्दों को असाधु (असंस्कृत) जानते हुए भी दूसरे व्यक्ति को बतलाने की इच्छा से उन (गावी आदि शब्दों) का प्रयोग करता है तो भी अपशब्द (असाधु) प्रयोग करने वाला नहीं माना जाता। इसी प्रकार उपदेश देना सर्वज्ञ का इच्छानुसार कल्पित (आहार्य) रूप है वास्तविक नहीं और तत्त्वज्ञानी में उपदेश का विरोध नहीं"।[३४]

अब प्रश्न यह है कि यदि सर्वज्ञ उपदेश में प्रवृत्त होता है तो उसमें राग आदि हो जायेंगे। और, राग आदि अविद्या के कारण होते हैं तब यह सकल वस्तुओं का तत्त्वतः ज्ञाता कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में बौद्ध-दर्शन कहता है—"और, तथागत में (उपदेश प्रणयन से) रागदिमत्ता भी नहीं होती; क्योंकि करुणा रागपक्ष में नहीं आती। यदि कहो कि पर दुःख निवारण की इच्छा राग ही है तो यह ठीक नहीं। इच्छामात्र राग नहीं है, अपि तु जो अपने स्वरूप को देखने में आवरण है[३५] (?) तथा अविद्यमान गुणों का **स्वागत** कराने वाला है ऐसा चित्त का मल ही राग कहलाता है।..........। और, सर्वज्ञ की 'मैं दूसरों का उपकार करूं, इस प्रकार की करुणा आत्मदर्शन का अङ्ग नहीं। यह स्व-सम्बन्धी किसी फल की अभिलाषा नहीं है अपि तु स्वहित की अपेक्षा न करके पर दुःख निवारण की इच्छा मात्र है, यह कहा गया है। (सर्वज्ञ के) समस्त चित्तक्षणों में से प्रत्येक 'मैं परहित साधन करूं' 'मैं भी करूं, में भी करूं' (अहमहमिकया) इस प्रकार उत्पन्न होते हुए भी एकात्मदर्शन के अङ्ग नहीं होते; क्योंकि परहित की इच्छा उस आत्मदर्शन के बिना भी बन सकती है, तत्त्वदर्शन होने पर भी उपदेश करना सम्भव है, फल का अपने से सम्बन्ध न होने पर भी (स्वगततामन्तरेणापि) परोपकार करना अभीष्ट हैं। फल का स्वरूप है अपेक्षित होना (अपेक्षितं फलम्) इसलिये उस (परोपकार) से सम्बन्ध[३६] रखने वाले की प्रवृत्ति होती है तथा उसमें प्रेक्षापूर्वकारिता (प्रेक्षावत्ता) का भी विघात नहीं होता"।[३७]

बौद्ध-दर्शन की धारणा यह है कि सर्वज्ञ परहित की इच्छा से उपदेश में प्रवृत्त होता है। इससे वह रागादिमान् नहीं हो जाता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सहज

३४. तन्न। विकल्पस्य सर्वविज्ञानत्वाऽविरोधात्। द्विविधो हि विकल्पो विपर्यासपूर्वोऽतत्पूर्वश्च। तत्र विपर्यासपूर्वो भवादृशाम्, अतत्पूर्वस्तत्रभवतः सर्ववेदिनः। न खल्वसौ भ्रान्तो विकल्पवान्, अपि तु विदितसमस्तवस्तुतत्त्वविस्तारः करुणापराधीनमानसो दुःखिन उपदेष्टुकामः। वचनमन्तरेण तदनुपपत्तेः, विकल्पं विना तदसम्भावात् तस्यातात्त्विकत्वं विद्वानपि तमाहरति। यथा नैरात्म्यतत्त्वं विद्वानपि विकल्प्य समारोपितमात्मानं निषेधति, नास्त्यात्मेति। यथा वा वैयाकरणप्रवरो गाव्यादिशब्दान् असाधून् जानानोऽपि पृथग्जनप्रतिपिपादयिषया प्रयुञ्जानोऽपि नाऽ पशब्दकारी। तदिदमाहार्यमस्य रूपं न तात्त्विकमिति तत्त्वविदो नोपदेशविरोधः। न्यायकणिका, पृ० ११३।

३५. 'आत्मनो दर्शनावरणम्'—यह वाक्यांश स्पष्ट नहीं है।

३६. तत्सम्बन्धस्य तेन (परोपकारेण) सम्बन्धो यस्य तस्य।

३७. न च रागादिमत्ता। न खलु कृपा रागपक्षे वर्तते। नन्वियं परदुःखप्रहाणेच्छेति राग एव। मैवम न हीच्छामात्रं रागः, अपि तु चित्तमलमात्मनो[1] दर्शनावरणभूतगुणाऽभिनन्दनं रागमाचक्षते ....। न च सर्वविदः करुणाऽहमुपकुर्यां परानित्येवमाकारापि सत्त्वदर्शनाऽवयवा यस्मान् नात्मगामी फलाभिलाषोऽयमपि तु स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छेत्युक्तम्। न च सर्वे चित्तक्षणाः प्रत्येकं परमुपकुर्यामहमहमित्यहमहमिकयोत्पद्यमाना अप्यात्मदर्शनाऽवयवाः। परोपचिकीर्षायास्तं विनाऽप्युपपत्तेः। तत्त्वदर्शने चोपदेशसम्भवात्स्वगततामन्तरेणापि परोपकारस्य समीहितत्वादपेक्षितलक्षणत्वाच्च फलस्य तत्सम्बन्धस्य प्रवृत्तेः प्रेक्षावत्ताऽविघातात्, न्यायकणिका, पृ० ११३-११४।

आत्म-दर्शन ही राग आदि का निदान है। इच्छामात्र को राग नहीं कहा जाता। यह राग तो चित्त का मल-विशेष है जो आत्म-दर्शन से उत्पन्न होता है तथा अविद्यमान गुणों की कल्पना कर लेता है। सर्वज्ञ ने तो नैरात्म्य धर्म का तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है अतः सर्वज्ञ को राग कैसे हो सकता है? यद्यपि सर्वज्ञ का एक एक चित्तक्षण परहित साधन की इच्छा से प्रवृत्त होता है तथापि उस प्रवृत्ति का कारण आत्म-दर्शन तथा राग नहीं वह प्रवृत्ति तो परहित सम्पादन के लिये होती है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि सर्वज्ञ में स्वहित-साधन की अभिलाषा नहीं रहती तो वह उपदेश में प्रवृत्त कैसे होगा? कोई भी बुद्धिमान् बिना प्रयोजन के कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[३८] इसके उत्तर में कहा जाता है कि अपने अर्थ की सिद्धि ही प्रयोजन या फल नहीं कहलाता अपि तु जो अपेक्षित हो, जिसे करने की अपेक्षा या इच्छा हो वही फल कहलाता है। सर्वज्ञ को भी परहित करना अभीष्ट है अतः इसकी प्रवृत्ति हो जायेगी।

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि उपदेश और तत्त्वज्ञान का कोई विरोध नहीं। तत्त्वज्ञान होने पर उपदेश प्रणयन संभव है तथा इस प्रकार का कोई बाधक प्रमाण सर्वज्ञ के अभाव को नहीं बतलाता। इसका उपसंहार करते हुए बौद्धदर्शन कहता है—**तस्मादुपदेशतत्त्वविज्ञानयोरविरोधात् सन्दिग्ध-व्यतिरेकित्वाद् वचनमपि न सर्वज्ञताया बाधकमिति न बाधक-प्रमाणसद्भावस्तदभावव्यवहारसाधनम्।** न्यायकणिका, पृ० ११४। "इसलिये उपदेश तथा तत्त्वज्ञान का विरोध न होने से तथा सन्दिग्ध-व्यतिरेकी होने से उपदेश देना (वचन) भी सर्वज्ञता का बाधक नहीं।"

यहाँ वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध दर्शन की ओर बुद्धत्वबाधक युक्तियों का अत्यन्त स्पष्टरूप से निराकरण किया है। इस विवेचन का इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है कि प्रमाणवार्त्तिक[३९] आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी इनका इतना विशद विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

६. सर्वज्ञता के साधक प्रमाण

सर्वज्ञता में साधक प्रमाणों का अभाव नहीं, बौद्ध की ओर से यह बतलाते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—जिस वस्तु का साधक प्रमाण नहीं होता उस वस्तु के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह नहीं है। सर्वज्ञ नहीं है, यह भी तभी कहा जा सकता है यदि उसका साधक (सिद्ध करने वाला) प्रमाण न हो। अब प्रश्न यह होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ का साधक नहीं? या कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं करता? यदि कहो कि प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ का साधक नहीं तो दो विकल्प होते हैं—एक व्यक्ति का प्रत्यक्ष या संसार भर का प्रत्यक्ष? यदि एक व्यक्ति का प्रत्यक्ष सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं करता तो इससे सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि यह नियम नहीं कि जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष न हो वे नहीं हैं। जो वस्तु प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं (प्रत्यक्ष योग्य हैं) उनका प्रत्यक्ष न होना ही उनके अभाव का सूचक है। इस पर यदि कहा जाये कि दृश्यता-विशेषण-युक्त प्रत्यक्ष का अभाव है तो भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सर्वज्ञता तो दृश्य अर्थात् प्रत्यक्ष-योग्य है ही नहीं। वह तो स्वभाव से ही विप्रकृष्ट है—इन्द्रियग्राह्यता

---

३८. यदप्रयोजनविषयं न तत्प्रेक्षावत्प्रवृत्तिगोचरः। न्यायकणिका, पृ० २।
३९. प्र० वा०, १.१४४-१४६।

से परे है—दूर है। तीन प्रकार की वस्तुएँ प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं होतीं—(१) जो काल की दृष्टि से विप्रकृष्ट हों, (२) जो देश की दृष्टि से विप्रकृष्ट हों (३) जो स्वभावतः ही विप्रकृष्ट हों। जैसे आज हम राम का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते; क्योंकि वे काल की दृष्टि से दूर हैं—विप्रकृष्ट हैं। यहाँ बैठे सुमेरु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वह देश की दृष्टि से दूर है। ये चर्मचक्षु इतनी दूर का देखने में असमर्थ हैं तथा दूरवीक्षण आदि यन्त्र की सहायता से भी वहाँ तक उनकी पहुँच नहीं। तीसरी परमाणु जैसी वस्तुएँ हैं जो स्वभावतः ही अतीन्द्रिय हैं (जैसा कि न्याय-वैशेषिक आदि मानते हैं) उनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार सर्वज्ञता भी स्वभाव से ही विप्रकृष्ट है, वह इन्द्रियों का विषय नहीं, यह प्रसिद्ध ही है अतः उसका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इस प्रकार प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं होता; जैसे न्याय-वैशेषिक के अनुसार परमाणु का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं होता।[४०]

यदि सबके प्रत्यक्ष की निवृत्ति सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करती है ऐसा कहा जाये तो भी उचित नहीं, क्योंकि सब के प्रत्यक्ष की निवृत्ति असिद्ध है। कोई एक व्यक्ति सकल प्रत्यक्ष-निवृत्ति के विषय में कैसे कह सकता है? अब रही यह बात कि सकल प्रमाण-निवृत्ति से सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध हो सकता है। इसके उत्तर में सर्वज्ञतावादी कहता है कि अल्पज्ञ या असर्वज्ञ को यदि कोई वस्तु समस्त प्रमाणों से ज्ञात नहीं होती तो भी उस वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता।[४१] भाव यह है कि व्यापक न होने पर व्याप्य का अभाव सिद्ध होता है या कारण के न होने पर कार्य का अभाव। प्रमाण न तो प्रमेय के व्यापक हैं और न कारण ही। अतः ऐसी वस्तु भी हो सकती है जिसका प्रमाणों द्वारा बोध न होता हो, फिर भी वह विद्यमान हो। इस प्रकार सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता। फिर प्रश्न यह है कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध न हो किन्तु उसकी सत्ता में सन्देह तो है ही। इसके उत्तर में बौद्धदर्शन कहता है कि उसका सद्भाव सिद्ध किया जा रहा है तब उसकी सत्ता में सन्देह कैसे हो सकता है।[४२]

७. सर्वज्ञता की प्राप्ति का साधन

सर्वज्ञता की प्राप्ति का साधन और प्रक्रिया क्या है? इस पर विचार करते हुए बौद्ध दर्शन की ओर से कहा गया है:—

"इन्द्रियों से होने वाला तथा मानस प्रत्यक्ष चाहे सर्वविषयक न हो भावनामय प्रत्यक्ष तो सर्वविषयक हो सकता है; क्योंकि शास्त्रवचनों से समस्त वस्तुओं की नैरात्मयधर्मता का

---

४०. आत्मप्रत्यक्षनिवृत्तिर्विप्रकर्षवतां त्रिविधेन कालदेशस्वभावविप्रकर्षेण तद्वतां रामसुमेरुपरमाणवादीनामभावं व्यभिचरति। न्यायकणिका, पृ० ११५।

४१. असर्वदृशोऽस्मदादेः एवासकलप्रमाणनिवृत्त्या च नार्थाऽभावसिद्धिः। वही, पृ० ११५।

४२. नाऽपिसाधकप्रमाणाभावः। तथा हि—प्रत्यक्षाभावो वा सकलप्रमाणाभावो वा स्यात्। प्रत्यक्षाभावोऽपि चात्मनः सर्वेषां वा, यदात्मनस्तदाऽपि दृश्यताविशेषणो निर्विशेषणो वा। न तावदात्म प्रत्यक्षनिवृत्तिर्दृश्यताविशेषणा सर्वज्ञाभावसाधनी, तस्य स्वभावविप्रकर्षिणस्तत्त्वानुपपत्तेः प्रसिद्धत्वात्। निर्विशेषणायाश्च व्यभिचारात् समस्तप्रत्यक्षनिवृत्तेश्चासिद्धत्वात्। न खल्वर्वाग्दृशः सकलप्रत्यक्षनिवृत्तिः, असिद्धत्वात्। न च प्रमाणं प्रमेयस्य व्यापकं कारणं वा येन तन्निवर्त्तेत। तस्मान्न तदभावसिद्धिः। नाऽपि तद्भावसन्देहः तत्साधनेन तत्सद्भावस्य निवेदयिष्यमाणत्वाद्। न्यायकणिका. पृ० ११४।

ग्रहण होगा और युक्तियों द्वारा इस (नैरात्म्यधर्म सिद्धान्त) की यथार्थता को निर्धारित करके तथागत पुनः पुनः चित्त की तल्लीनतारूप भावना के प्रकर्ष के अन्त में पूर्णतया अपने आप से (आत्मा) से लेकर समस्त विश्वपर्यन्त के विषय में हाथ पर रक्खे हुए कमल के समान अत्यन्त विशद प्रत्यक्ष विज्ञान को भावना द्वारा प्राप्त कर लेगा।"[४३]

जैसा कि ऊपर निरूपण किया गया है,[४४] बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रियज, मानस, स्वसंवेदन तथा भावनामय। इनमें से इन्द्रियज प्रत्यक्ष केवल वर्तमान विषय का ग्रहण करता है। उससे सकल जगत् का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं। मानस प्रत्यक्ष द्वारा भी इन्द्रियों द्वारा गृहीत बाह्य विषय का प्रत्यक्ष होता है। अत एव इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा तथा मानस प्रत्यक्ष के द्वारा सकल वस्तु-विषयक ज्ञान (सर्वज्ञता) नहीं हो सकता। हाँ, भावनामय प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त हो सकती है। कोई साधक बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों द्वारा यह जान लेता है कि बाह्य तथा आध्यात्मिक सकल वस्तु 'अनात्म' है (सर्वम् अनात्मम्) नैरात्म्यधर्मता ही विश्व का तथ्य है। तब वह इसकी युक्ति-युक्तता पर विचार करता है, प्रमाणों द्वारा इसकी परख करता है और निर्धारित कर लेता है कि नैरात्म्यधर्मता आदि (सर्व दुःखम्, सर्वं क्षणिकम् आदि भी) बिल्कुल सत्य हैं। यह निर्धारित करके वह बार-बार इसी में मन को लगाता है। मन को किसी भाव में लीन कर देना ही भावना है। इस भावना में वह श्रद्धा के साथ, निरन्तर चिरकाल[४५] पर्यन्त तत्पर रहता है और भावना का प्रकर्ष (स्फुटाभासता) प्राप्त कर लेता है। इस भावना-प्रकर्ष से वह वस्तुतत्त्व को यथावत् जान लेता है। तब उसे अपने विषय[४६] में तथा समस्त विश्व के विषय में जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष अत्यन्त विशद होता है। प्रत्येक वस्तु हथेली पर रक्खे हुए कमल के समान स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो जाती है। उसके नैरात्म्य आदि स्वरूप का स्पष्ट बोध हो जाता है।

---

४३. ननु मा भूद् इन्द्रियजं मानसं च प्रत्यक्षं सर्वविषयं भावनामयं तु भविष्यति। तथा हि—श्रुतमयेन विज्ञानेन समस्तवस्तुविषयनैरात्म्यादि गृहीत्वा युक्तिमयेन च भूततामस्य व्यवस्थाप्यासकृच्चेतोनिवेशनरूपभावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्म प्रत्यक्षं विज्ञानम् अवयवेनाऽऽत्मादिरूपविश्वालम्बनं करतलारविन्दविषयमिवाऽतिविशदं भावयिष्यति तथागतः। न्याय-कणिका, पृ० १४१-१४२। न्यायकणिका, पृ० १११ पं० ४ के पाठ की समानता के आधार पर यहाँ 'अवयवेन' के स्थान पर अनवयवेन 'पाठ शुद्ध प्रतीत होता है (अनवयवेन=साकल्येन)।

४४. ऊपर, परि० ६ अनु० ५।

४५. आदरनैरन्तर्यदीर्घकालासेविता। न्यायकणिका, पृ० १४६।

४६. यहां न्यायकणिका में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है जो बौद्ध-दर्शन के अनुकूल नहीं प्रतीत होता। 'आत्मज्ञान' के स्थान पर 'अनात्मज्ञान' या 'नैरात्म्यधर्म-ज्ञान' ही बौद्ध-दर्शन की भूमि में परिचित सा लगता है। वास्तव में यहां 'आत्मन्' शब्द 'अपने' (स्व) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। योगी 'स्व' के विषय में नैरात्म्यधर्मता का भावनामय प्रत्यक्ष करता है और इसी प्रकार सकल जगत् के विषय में भी (अनवयवेन आत्मादिरूप विश्वालम्बनम्) का यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। न्यायकणिका में ही आगे आत्मन् शब्द का 'अपना' अर्थ में प्रयोग किया भी है 'सकलान् एव दुःखिन आत्मतयाऽभ्युपगच्छताम् (पृ० १४६)। अन्यत्र भी आत्म शब्द का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है। जैसे—

आत्मा ही आत्मनो नाथः को नु नाथः परो भवेत्।

आत्मना हि सुदान्तेन स्वर्गं प्राप्नोति पण्डितः॥ उद्धृत, बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४९४।

अब प्रश्न यह होता है कि सर्वधर्मनैरात्म्य भावना से विश्व का हस्तामलकवत् विशद ज्ञान होना कैसे संभव है? इसका उत्तर देते हुए बौद्ध दर्शन कहता है—"जो जो श्रद्धा के साथ निरन्तर, दीर्घकाल तक तत्परता से की हुई भावना है वह सब आलम्बन (विषय) का हस्तामलकवत् ज्ञान कराने वाली होती है जैसे कामातुर की जो कामिनी-विषयक भावना होती है वह तीनों विशेषणों अर्थात् आदर, नैरन्तर्य तथा दीर्घकालीन तत्परता से विशिष्ट होकर कामिनी विषयक विशद ज्ञान का कारण होती है, इसी प्रकार समस्तवस्तु-नैरात्म्य-भावना भी है, यह स्वभाव हेतु (नाम का अनुमान) है"।[४७]

यदि प्रतिपक्षी कहे कि यह हेतु असिद्ध है; अर्थात् विशेषणत्रयवती भावना का होना ही संभव नहीं तो इसके उत्तर में बौद्ध दर्शन कहता है—"यह हेतु असिद्ध भी नहीं। सांसारिक दुःखहेतु से भयभीत तथा श्रावक और बोधि के नियमों का पालन करने वाले एवं सकल प्राणियों के दुःख को अपना दुःख समझने वाले करुणापरायण जनों में समस्त दुःखों को शान्त करने वाली (आदर, नैरन्तर्य एवं दीर्घकाल आसेवित) तीनों विशेषणों से युक्त भावना का होना संभव ही है और दान आदि पारमिता के अभ्यास से जिनके हृदय के मल क्षीण हो गये हैं उन्हें ऐसी भावना के प्रकर्ष द्वारा उत्पन्न होने वाला विज्ञान भी होना संभव है। (उनका) यह ज्ञान भ्रान्तिरहित है; क्योंकि यह प्रमाणों द्वारा सिद्ध वस्तुओं के विषय में है। विशद रूप से भासित होने के कारण यह ज्ञान विकल्परहित है। यह समस्तवस्तु-विषयक है, नैरात्म्य-साक्षात्कार रूप होने से। नैरात्म्य नाम का कोई धर्म भावों से भिन्न कुछ है नहीं जो उन भावों के ज्ञानगोचर न होने पर भी उस (नैरात्म्य) का प्रत्यक्ष हो सके तथा विकल्पारूढ वस्तु विज्ञान को विकल्प-रहित किये बिना (?) विशदतया अवभासित नहीं हो सकती। अतः यह भावना के द्वारा विशदता (स्फुटाभासता) को धारण करने वाला ज्ञान विशदरूप में ही होगा। इस प्रकार विश्व-नैरात्म्य का साक्षात्कार ही विश्व-साक्षात्कार है।"[४८]

बौद्ध धर्म (दर्शन) के अनुसार साधक या मुमुक्षु तीन प्रकार के होते हैं—(१) श्रावक (२) प्रत्येक बुद्ध (बोधिसत्व) (३) सम्यक् सम्बुद्ध। जन साधारण से श्रावक का पद उत्कृष्ट है। जनसाधारण तो धर्म, अर्थ, काम तीनों की सिद्धि में ही तत्पर रहता है किन्तु श्रावक इन से परे मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। वह दुःख के निमित्त से भयभीत होकर उसके निरोध के उपाय का अन्वेषण करता है। श्रावक का लक्ष्य व्यक्तिगत दुःखनिवृत्ति

---

४७. या याऽऽदरनैरन्तर्यदीर्घकालाऽऽसेविता भावना सा सर्वा करतलाऽऽमलकायमानाऽऽलम्बननिर्भासविज्ञानफला, तद्यथा कामातुरस्य कामिनीभावना विशेषणत्रयवती कामिनीविषयविज्ञानविशदाभताहेतुः। तथा च समस्तवस्तुनैरात्म्यभावना विशेषणत्रयशालिनीति स्वभावहेतुः। न्यायकणिका, पृ० १४५-१४६।

४८. न चाऽसिद्धो हेतुः। सम्भवति हि भावना विशेषणत्रयवती सांसारिकदुःखनिमित्ताद् बिभ्यतां श्रावकबोधिप्रतिनियतानां निखिलदुःखनिमित्तशमनी कारुणिकानां च सकलानेव दुःखिन आत्मतयाऽभ्युपगच्छतां दानादिपारमिताभ्यासतनूकृतान्तर्मलानां। *नेदृक्भावनाप्रकर्षजन्मविज्ञानमभ्रान्तं च। प्रमाणसिद्धवस्तुविषयत्वात्। अविकल्पश्च विशदा-भत्वात्। समस्तवस्तुविषयं च तन्नैरात्म्यसाक्षात्काररूपत्वात। न च नैरात्म्यं नाम भावेभ्यो भिन्नं किं चिदस्ति, यदप्रत्यक्षगोचरेष्वपि तेषु प्रत्यक्षगोचरं स्यात्। विकल्पारूढं च स्फुटं नाऽविकल्प्य विज्ञानं प्रतिभासि। तदेतद्भावनाधेयवैशद्यं सद् विशदभावात्मनैव स्यात। तथा च विश्वनैरात्म्यवैशद्यं विश्ववैशद्यमेवेति। न्यायकणिका, पृ० १४६।

* 'च' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

है। उसके लिये वह बुद्ध आदि शास्ताओं की देशना की अपेक्षा रखता है और पुद्गल-नैरात्म्यज्ञान से या प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान से उसका दुःखनिरोध होता है। प्रत्येक बुद्ध (बोधि) का आदर्श श्रावक से श्रेष्ठ है। उन्हें स्वयं ही बोधि-लाभ होता है, किन्तु प्रत्येक बुद्ध का लक्ष्य भी स्वदुःख-निवृत्ति ही होता है।[४९] तीसरे उच्च कोटि के साधक बुद्ध हैं जो अत्यन्त करुणा-परायण हैं। ये समस्त प्राणियों को अपने समान (आत्मवत्) देखते हैं इसी हेतु श्रद्धा (आदर) के साथ निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त नैरात्म्य-साक्षात्कार का प्रयास करते हैं। आदर के साथ दीर्घकाल पर्यन्त पोषित भावना ही नैरात्म्य-साक्षात्कार का हेतु है, यह ऊपर कहा गया है। मुमुक्षु बुद्धों की भावना इन तीनों विशेषणों से युक्त है यह दिखलाने के लिए यहाँ इन विशेषणों का प्रयोग किया गया है। मुमुक्षु-जन संसार के दुःखों का जो निमित्त है अर्थात् तृष्णा, आत्मग्रह या सत्त्वदर्शन का मोह, उससे बचना चाहते हैं। इसी हेतु उनके मन में नैरात्म्य-भावना के प्रति उत्कट आदर का भाव होता है। उनके मन में समस्त प्राणियों के प्रति करुणा का भाव है। इसी से वे निरन्तर इस भावना को पुष्ट करते हैं। साथ ही दान आदि पारमिता[५०] के सेवन से उनके मल क्षीण हो जाते है अतः बीच-बीच में उन्हें क्लेशों की बाधा नहीं सताती, अपितु वे दीर्घकाल पर्यन्त नैरात्म्य-भावना को पुष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार उनकी भावना विशेषणत्रय से युक्त होती है और वह विश्व-साक्षात्कार का हेतु होती है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि नैरात्म्य-विषयक भावना से विश्व का साक्षात्कार कैसे संभव है? तथा यह भावनामय ज्ञान यथार्थ एवं साक्षात् ज्ञान कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में बौद्ध-दर्शन कहता है कि समस्तवस्तुओं के विषय में जो नैरात्म्य-भावना होती है वह समस्त वस्तुओं से भिन्न कुछ नहीं है; अतएव समस्तवस्तु-नैरात्म्यभाव के साथ-साथ समस्त विश्व का साक्षात्कार होता ही है। इस भावना के द्वारा ज्ञान में ऐसी विशदता, स्फुटाभता उत्पन्न कर दी जाती है कि ज्ञान की सविकल्पता भी नष्ट हो जाती है और भावना के उत्कर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सद्वस्तु-विषयक होता है, यथार्थ होता है अतः उसमें भ्रान्ति का लेश भी नहीं रहता। इसी से उसमें "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" यह प्रत्यक्ष का लक्षण भली-भाँति चला जाता है। वही भावनामय प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

इस पर पूर्वपक्षी की ओर से यह शंका होती है—"मान लिया कि शास्त्र और अनुमान के विषय में होने वाली भावना साक्षात् भासित होने वाले विज्ञान का कारण है किन्तु जो उस (भावना) का विषय होगा उसकी ही विशद प्रतीति होगी फिर समस्त विश्व की विशद प्रतीति (साक्षात्कार) शास्त्र तथा अनुमान-विषयक भावना से कैसे हो सकती है? कभी भी रूप-भावना-प्रकर्ष के द्वारा रस-विषयक विशद प्रतीति नहीं होती"।[५१] इसका

४९. मि०, कविराज गोपीनाथ, बौद्धधर्मदर्शन भूमिका, पृ० २३-२४।

५०. षट् पारमिताएँ—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इनमें प्रज्ञापारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञा पारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं...संबोधि की प्राप्ति में दान प्रथम कारण है, शील दूसरा कारण है। दान, शील की अनुपालना क्षान्ति द्वारा होती है, दानादि त्रितय पुण्यसंभार, वीर्य अर्थात् कुशलोत्साह के बिना नहीं हो सकता और बिना ध्यान अर्थात् चित्तैकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता है। मि०, आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्मदर्शन, पृ० १८४।

५१. सत्यं श्रुतानुमानगोचरचारिणी भावना विशदाभविज्ञानहेतुरिति नाऽवजानीमहे, किं तु यद्विषयजातं तदेव विशदप्रतिपत्तिगोचरो न जातु रूपभावनाप्रकर्षो रसविषयविज्ञानवैशद्याय कल्पते। न्यायकणिका, पृ० १४७।

उत्तर देते हुए बौद्ध-दर्शन कहता है—"भावना अन्यविषयक विशद प्रतीति का हेतु है ऐसा हम (बौद्ध) नहीं कहते किन्तु शास्त्र तथा अनुमान के विषय में विशद प्रतीति का हेतु है, यही कहते हैं। समस्त वस्तुओं का नैरात्म्य-ज्ञान शास्त्र और अनुमान का विषय (तद्विषयम्) है, इसलिये उसकी भावना का प्रकर्ष सकल वस्तुओं के नैरात्म्य का साक्षात्कार कराता है और वह समस्तवस्तु-नैरात्म्य का साक्षात्कार समस्तवस्तुओं की विशद प्रतीति के बिना हो नहीं सकता (तदनुपपत्तेः) इस हेतु सकलवस्तुओं की विशद प्रतीति करा देता है; यह कहा गया है"।[५२]

अब प्रश्न यह हो सकता है कि "वस्तु के (अस्य अर्थस्य) वे ही क्षण आलम्बनप्रत्यय हो सकते हैं जो अव्यवधान से विज्ञान के पहिले होते हैं। इस प्रकार वे ही क्षण इस विज्ञान के ग्राह्य हैं, उनसे पहले वाले (अतीत) और तत्कालीन एवं अनागत (क्षण) ग्राह्य न होंगे अतः उस विज्ञान की सर्वविषयता नहीं होगी"।[५३] इसका उत्तर देते हुए सर्वज्ञता के समर्थक कहते हैं—"(भूत, वर्तमान और भविष्यत् इस) धातुत्रय को प्राप्त होने वाले दृश्यमान प्राणधारी जन्मान्तर के परिवर्तन हो जाने पर अतीत और अनागत स्कन्ध-समुदाय-रूप उपादान के उपादेय स्वरूप हैं अतः प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले प्राणधारियों के तादात्म्य से उनके विशेषणरूप में अतीत और अनागत क्षणों का भी ज्ञान हो जाता है। इस में यह भी आक्षेप नहीं हो सकता कि हमारी दृष्टि भी वैसी होने लगेगी; क्योंकि (हमारी दृष्टि) राग आदि मलों से आवृत है। जिसके समस्त क्लेश और उपक्लेश रूपी मल नष्ट हो गये हैं, उस (सर्वज्ञ) भगवान् का विज्ञान तो आवरणरहित है, सर्वतः दीप्तिमान् है अतः वह 'स्व' को आलम्बन करने वाली प्रतीति को सर्वाकारक रूप में कर लेगा और उसका साक्षात् या परम्परा से किसी प्रकार सकल वस्तु से सम्बन्ध होने से वह देश और काल में बिखरी हुई वस्तुओं के विशिष्ट स्वभाव होने के कारण उन्हें वैसा ही अनुभव कर लेगा। और सर्व-ग्रहण के बिना यह नहीं हो सकता इसलिये सर्वज्ञ का सर्वविषयक विशद (अनावरण) विज्ञान सिद्ध होता है"।[५४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धावस्था में सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है। बौद्ध-दर्शन का विश्वास है कि यथोचित साधनों के द्वारा कोई भी साधक इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है और निर्वाण को प्राप्त होता है।

---

५२. ननु न विषयान्तरवैशद्यहेतुभावं भावनायाः सङ्गिरामहे, किन्तु श्रुतानुमानविषयवैशद्यहेतुतामेव। तद्विषयं च समस्तवस्तुनैरात्म्यमिति तद्भावनाप्रकर्षः समस्तवस्तुनैरात्म्यं विशदयन् समस्तवस्तुविशदतामन्तरेण तदनुपपत्तेः समस्तवस्तुवैशद्यमावहतीत्युक्तम्। न्यायकणिका, पृ० १४७।

५३. अपि चालम्बनप्रत्यया अपि त एवास्य क्षणा युज्यन्ते, ये तस्य पुरस्तात्तना अव्यवधानाः। तथा च त एवाऽस्य ग्राह्या न पुनः पूर्वतरास्तत्काला अनागताश्चेति न सर्वविषयता। न्यायकणिका, पृ० १४६।

५४. अथ दृश्यमाना धातुत्रयपर्यापन्नाः प्राणभृतो जन्मान्तरपरिवृत्तौ यत्राऽतीताऽनागतस्कन्धकदम्बकोपादानोपादेयात्मान इति तद्दर्शनं दृश्यमानतादात्म्येन तद्विशेषणतयाऽतीताऽनागतान्यपि गोचरयति। न चास्मदादिदर्शनस्यापि तथा प्रसङ्गो रागादिमलावृतत्वात्। तस्य हि भगवतो निर्मृष्टनिखिलक्लेशोपक्लेशमलं विज्ञानमनावरणं परितः प्रद्योतमानं स्वालम्बनं प्रत्ययं सर्वाऽऽकारं गोचरयत् तस्य च साक्षात् परम्परया च कथञ्चित् सर्वेण सम्बन्धाद्देशकालविप्रकीर्णवस्तुविशिष्टस्वभावतया तथैव गोचरयेत्। न च सर्वग्रहणमन्तरेणेति सर्वविषयमस्य विज्ञानमनावरणं सिद्धम्। न्यायकणिका, पृ० १४६-१५०।

८. दुःख निरोध तथा निर्वाण

दुःखनिवृत्ति, दुःखविघात या दुःख-निरोध ही भारतीयदर्शन का उद्देश्य रहा है। जिस दशा में दुःख का विनाश होता है उसे विभिन्न दर्शनों ने विविध नामों से पुकारा है। कोई उसे मुक्ति या मोक्ष कहता है, कोई कैवल्य कोई परागति, कोई निर्वाण। इस अवस्था के नामों में ही भेद नहीं है, इसके स्वरूप में भी महान् अन्तर है। मुक्ति के साधनों में मानव को प्रवृत्त कराने के लिए नाना कल्पनाएँ की गई हैं, दुःख की निवृत्ति ही नहीं, नित्य आनन्द की प्राप्ति का स्थान उसे बतलाया गया है। बौद्ध दर्शन इस अवस्था को निर्वाण नाम से पुकारता है। उसके निर्वाण का स्वरूप प्रकट करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—**वैनाशिकाः प्राहुः प्रदीपस्येव निर्वाणं मोक्षः तस्य चेतस इति। न्या० वा० ता०, पृ० २३९।** "अर्थात् क्षणिकवादी (बौद्ध) कहते हैं कि उस चित्त का दीपक के समान बुझ जाना ही मोक्ष है।"

बौद्धदर्शन ने इस परमगति के लिये अपने सिद्धान्त के अनुकूल ही शब्द का चुनाव किया था। निर्वाण शब्द का अर्थ है—बुझना। जिस प्रकार दीपक की लौ (जोत) का एक विच्छिन्न प्रवाह चलता रहता है इसी प्रकार चित्त-सन्तति की विच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है, नैरात्म्यधर्मता के साक्षात्कार से तृष्णा आदि का नाश हो जाने पर जन्म-मरण रूपी संसार नष्ट हो जाता है और उस चित्त-सन्तति में अग्रिम चित्त का जन्म नहीं होता, उसका निर्वाण हो जाता है, ठीक इसी प्रकार जैसे दीपक की लौ बुझ जाती है। इस निर्वाण को प्राप्त होकर चित्त का क्या होता है? निर्वाण प्राप्त पुरुष की क्या गति होती है? इसके विषय में बुद्ध भगवान् ने कोई उत्तर देना उचित नहीं समझा था और इस दशा को 'अव्याकृत' (अकथनीय) कहा था।[55]

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब बौद्धों के मतानुसार आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं तो मुक्ति या निर्वाण किसका होता है? इसका उत्तर देते हुए बौद्ध-दर्शन कहता है कि अनित्य (क्षणिक) चित्त में ही मुक्ति या निर्वाण सम्भव है, नित्य आत्मा में नहीं :—"(वार्त्तिककार) वैनाशिकों के मोक्ष को प्रस्तुत करते हैं 'चित्त मुक्त होता है' तात्पर्य यह है कि जो जन्म-मरण रूप संसार में बंधा है वही मुक्त होता है और राग आदि ही संसरण के कारण हैं तथा राग आदि नित्य-आत्मा में संसार के बन्धन को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं; क्योंकि नित्य तो विकारयोग्य नहीं (अविकार्य), अपनी अवस्था में ही रहता है (कूटस्थ), वह (राग आदि के द्वारा) न तो ग्रहण करने योग्य (उपनेय) है, न त्यागने योग्य (अपनेय) है। जैसा कि कहा है—

वर्षा और धूप से आकाश का क्या (होता है)? उनका फल तो चर्म पर होता है यदि वह (आत्मा) चर्म-तुल्य है तो अनित्य (है)। यदि आकाश के समान है तो उस पर प्रभाव नहीं होगा। चित्त तो कार्य है वह राग आदि के कारण संसारी हो जाता है और उनके हट जाने से मुक्त हो जाता है, यह मानना उचित है।[56]

---

५५. मि०, राहुल सां०, बौद्ध-दर्शन, पृ० ४८।

५६. वैनाशिकानां मोक्षमुपन्यस्यति। चित्तं मुच्यते इति। संसारी हि मुच्यते रागादयस्तद्धेतवः न चात्मनि नित्ये रागादयः संसारं कर्तुमुत्सहन्ते तस्याविकार्यत्वेन तादवस्थ्यादुपनेयाऽपनेयाभावात्। यथाऽऽहुः—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः।

इसपर आत्मवादियों का कथन है कि यदि चित्त क्षणिक है तो निर्वाण बिना किसी प्रयत्न के ही सिद्ध है, क्योंकि क्षणिक होने के कारण चित्त की उत्पत्ति विनाश के लिये ही है। जन्म के अनन्तर ही विनाश हो जाता है (अर्थात् चित्त क्षणिक है) और क्षण अभेद्य है अएतव क्षणिक चित्त (राग आदि के द्वारा) ग्रहण करने योग्य तथा त्यागने योग्य नहीं। इस प्रकार मुक्ति-हेतु प्रयत्न का स्वारस्य (अभिप्राय) ही भंग हो जाता है और वह व्यर्थ है।[५७]

इसका समाधान करते हुए बौद्ध-दर्शन कहता है:—**अनादिः खलु कार्यकारण-प्रवाहरूपा बुद्धीनां सन्ततिः, स चात्मसाक्षात्कारोन्मूलितसवासनक्लेशजालस्य निवर्त्तते, निवृत्तिश्चेयमेव तस्या यत्तत्सन्तानवर्तिनश्चेतसोऽनागतस्यानुत्पाद इति।** न्या० वा० ता०, पृ० २४२। "अर्थात् कार्यकारण प्रवाहरूप चित्तों की सन्तान अनादि (काल से चली आ रही) है। जिस व्यक्ति के स्वसाक्षात्कार से वासना सहित क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं उसकी वह चित्त-सन्तति समाप्त हो जाती है। उसकी समाप्ति यही है कि उस सन्तान में होने वाले अनागत (न आये हुए, न उत्पन्न हुए) चित्त की उत्पत्ति नहीं होती।"

बौद्ध दर्शन का अभिप्राय यह है कि यह ठीक है चित्त क्षणिक हैं वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। उनका बुझना, विनाश या निर्वाण स्वतः सिद्ध है। उसके लिये प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। फिर भी हमें चित्त-सन्तति का निर्वाण अभीष्ट है। तदर्थ ही मुमुक्षु का प्रयत्न होता है। कारणचित्त से कार्यरूप दूसरा चित्त उत्पन्न होता है और इस प्रकार क्षणिक चित्तों का प्रवाह चलता रहता है, यही चित्त-सन्तान कहलाती है। यह चित्तों की सन्तान अनादिकाल से प्रवाहित हो रही है, उस सन्तान का निर्वाण तभी माना जाता है जब उसमें अग्रिम चित्त-क्षण उत्पन्न न हो। जब मुमुक्षु को 'स्व' का नैरात्म्य-साक्षात्कार हो जाता है तो उसके राग आदि क्लेश तथा उनकी वासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, ये राग आदि तथा उनकी वासनाएँ ही जन्म का कारण हैं। जन्म का कारण नष्ट हो जाने से अग्रिम चित्त की उत्पत्ति नहीं होती तथा चित्त-सन्तान की समाप्ति हो जाती है। यही चित्त की मुक्ति है—निर्वाण है।

यहाँ पूर्वपक्षी की ओर से शंका होती है कि सन्तान की निवृत्ति कहने का तात्पर्य है—किसी चित्तसन्तान में कोई अन्तिम क्षण होता है उसके पश्चात् अन्य चित्त की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु 'अन्त्य क्षण' बन नहीं सकता अतः सन्तान की निवृत्ति होना भी संभव नहीं है। क्योंकि प्रश्न यह है कि जिसे अन्त्यक्षण कहा जाये वह (अन्यचित्त की उत्पत्ति आदि) कार्य करता है या नहीं? यदि करता है तो वह अन्तिम नहीं हुआ (उसके पश्चात् भी दूसरा चित्त होगा) इसलिये कार्य-कारण के प्रवाह की निवृत्ति कहाँ हुई? और यह प्रवाह ही (चित्त) सन्तान है इस हेतु सन्तान की निवृत्ति भी नहीं हो सकती। यदि यह माना जाये कि वह (अन्त्य क्षण) किसी को उत्पन्न नहीं करता या कुछ कार्य नहीं करता तो उसमें अर्थक्रियाकारित्वरूप सामर्थ्य नहीं रहा, इसलिये वह सत् (सत्तावाला) नहीं

चित्तं तु कार्यं रागादिवशात्संसारी तद्वियोगाच्च मुच्यते इति युक्तमित्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० २४२। मि०, प्र० वा०, १, २०४।

५७. क्षणिकत्वाच्चित्तस्य जन्म विनाशप्रयोजनमेव, जन्मान्तरमेव विनाशः इति क्षणस्याभेद्यत्वेनोपनेयापनेयाभावात् स्वरसभङ्गित्वाच्च वैयर्थ्यमित्यर्थः। न्या० वा० ता०, पृ० २४२।

हुआ (क्योंकि बौद्ध-दर्शन के अनुसार तो 'अर्थक्रियाकारित्व' ही सत्त्व का लक्षण है) अतः उससे पूर्व के समस्त क्षण ही असत् हो जायेंगे, तब किसका उच्छेद होगा।[५८]

इसका उत्तर देते हुए बौद्ध-दर्शन कहता है—**तथा सत्यनागतानुत्पादलक्षणार्थ-क्रियाकारित्वाद् अन्त्यक्षणोपपत्तिरिति भावः। न्या० वा० ता०, पृ० २४२।**

"अनागत चित्त की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसा होने पर अनागतानुत्पाद रूप अर्थ-क्रिया को सिद्ध करने के कारण अन्त्यक्षण की सत्ता बन जाती है।"

कहने का अभिप्राय यह है कि तृष्णा आदि के नष्ट हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता। और, निर्वाण होने पर चित्त प्रवाह में आगे किसी चित्त-क्षण का जन्म नहीं होता। अन्त्य चित्त-क्षण की अर्थक्रियाकारिता यही है कि वह 'अनागत का अनुत्पाद' करता है; अर्थात् आगे आने वाले चित्तक्षण को उत्पन्न नहीं होने देता। इसलिये इसकी सत्ता में कोई सन्देह नहीं। इसके पश्चात् इस चित्तसन्तति में आगे किसी चित्तक्षण का जन्म नहीं होता इस हेतु चित्तसन्तति की निवृत्ति या उच्छेद भी बन जाता है। यही चित्तसन्तति का उच्छेद (दीपक की लौ के समान बुझ जाना) निर्वाण है, यह कहा जा चुका है।

बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का निर्वाण के स्वरूप के विषय में पारस्परिक भेद है, जिसका विवेचन आधुनिक बौद्ध-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने उस पारस्परिक भेद का उल्लेख नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका विवेचन अधिकांश में दिग्नाग सम्प्रदाय के आधार पर है; किन्तु प्रमाणवार्तिक में तो इतना विशद विवेचन उपलब्ध नहीं होता। फिर इसका स्रोत क्या है, यह विचारणीय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि विज्ञानसन्तति का उच्छेद ही निर्वाण है। बौद्ध-दर्शन में निर्वाण के स्वरूप के विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं एक तो यह कि निर्वाण में चित्तसन्तति का उच्छेद हो जाता है दूसरा यह कि अविद्या के मल से निर्मुक्त चित्तसन्तति की धारा बहती रहती है। वैदिक-दर्शन के आचार्यों ने दोनों मतों का उल्लेख किया है तथा निराकरण भी। न्यायमञ्जरीकार जयन्त ने तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस बात को प्रकट किया है।[५९] किन्तु कौन सम्प्रदाय किस मत का मानने वाला है यह उल्लेख नहीं किया।

---

५८. नापि सन्ताननिवृत्तिः शक्या कर्तुम्, अन्त्यक्षणानुपपत्तेः स ह्यन्त्यक्षणः किञ्चिद् आरभते न वा आरम्भे नाऽन्त्य इति न कार्यकारणप्रवाहनिवृत्तिः, प्रवाहश्च सन्तान इति न सन्ताननिवृत्तिः। अनारम्भे तस्यासामर्थ्येनासत्त्वात् ततः पूर्वे सर्व एव क्षणा असन्तः स्युरिति कस्योच्छेद इति भावः। न्या० वा० ता०, पृ० २४२।

५९. निर्वाणादिपदाख्येमपवर्गं तु सौगताः।
सन्तत्युच्छेदमिच्छन्ति स्वच्छां वा ज्ञानसन्ततिम्। न्यायमञ्जरी भाग २, पृ० ८१।

परिच्छेद १२

बौद्ध-दर्शन के अध्ययन में वाचस्पति मिश्र के कार्य का मूल्यांकन

१. बौद्ध दर्शन का अध्ययन और वाचस्पति मिश्र

भारतीय दर्शन में वाचस्पति मिश्र का स्थान अत्यन्त उच्च है। बौद्ध-दर्शन के अध्ययन में भी उनके कार्य का अत्यधिक महत्त्व है। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में बौद्ध-दर्शन के मन्तव्यों का विशद विवेचन मिलता है। उनके द्वारा बौद्ध-दर्शन के मन्तव्यों को सहज में ही समझा जा सकता है। बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों में जो मन्तव्य इधर-उधर बिखरे हैं, जिनकी पूर्वापर सङ्गति लगाना कठिन प्रतीत होता है। और, यह समझना तो और भी कठिन हो जाता है कि ग्रन्थकार का स्वमन्तव्य क्या है। ऐसे मन्तव्यों का भी वाचस्पति मिश्र ने एक स्थल पर स्पष्ट एवं सुबोध रीति से विवेचन कर दिया है, जिससे बौद्ध-दर्शन का ज़टिल एवं दुरूह मन्तव्य भी सुलझा सा प्रतीत होने लगता है। यही कारण है कि आधुनिक विवेचकों ने बौद्ध-दर्शन के विवेचन में वाचस्पति मिश्र का अत्यधिक आधार लिया है। श्चेरबात्स्की जैसे लेखकों ने बौद्ध-मन्तव्यों को अभिव्यक्त करने के लिये न्यायबिन्दु आदि के साथ-साथ वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों से भी उद्धरण दिये हैं तथा किसी मन्तव्य पर विशद प्रकाश डालने के लिए वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के अवतरणों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार प्रायः सभी भारतीय दर्शन सम्बन्धी अनुसन्धानों में वाचस्पति मिश्र की कृतियों को प्रचुरता से उद्धृत किया गया है, अथवा उनका आधार लिया गया है।

आधुनिक गवेषकों ने बौद्ध-दर्शन के विवेचन के लिए अन्य वैदिक दर्शनों की कृतियों के साथ-साथ वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के महत्त्व का भी हृदयग्राही शब्दों में वर्णन किया है।[1]

---

1. (क) It must be observed here that there are a good many Brahmanical writers who possessed first hand knowledge of Buddhist philosophical works and who have tried to criticise the Buddhist position on fair grounds. Barring a few inaccuracies here and there, the account of Buddhist doctrines, as given by Kumarila, *Vācaspati Miśra* and Jayanta Bhatta in their works, appears to be faithful representation of the Buddhist position and so will continue to attract the attention of students of Buddhist philosophy. Particularly so when the original works of Buddhist writers have been lost for the most part. सत्करी मुखर्जी ; Buddhist philosophy of universal flux, p. 275, fn. 1.

प्रमाणवार्त्तिक आदि धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के प्रकाशन से पूर्व तो वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वानों का आधार लेकर ही दिग्नाग सम्प्रदाय के मन्तव्यों पर प्रकाश डाला जा सकता था । इन ग्रन्थ-रत्नों के प्रकाश में आ जाने पर भी वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ बौद्ध-दर्शन के तत्त्वों को समझने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो रहे हैं । कहीं-कहीं तो वाचस्पति मिश्र का विवेचन इतना विस्तृत, प्रभावपूर्ण तथा विशद है कि उपलब्ध बौद्ध-ग्रन्थों का विवेचन उसके समक्ष फीका दिखलाई देता है । अतः स्पष्ट ही है कि बौद्ध-दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से वाचस्पति मिश्र के कार्य का अनूठा महत्त्व है ।

२. वाचस्पति मिश्र द्वारा विविध बौद्ध मन्तव्यों की अभिव्यञ्जना

वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में बौद्ध-दर्शन के अनेकानेक मन्तव्यों का निरूपण किया गया है । जिनमें से प्रस्तुत प्रबन्ध में विशेषकर निम्न विषयों का निरूपण है । इन विषयों के प्रतिपादन में वाचस्पति मिश्र की कुछ निजी विशेषताएँ भी परिलक्षित होती हैं, जिनका सिंहावलोकन करना यहाँ उचित जान पड़ता है ।

(१) **बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदाय**—वाचस्पति मिश्र ने भामती टीका में बौद्ध-दर्शन के चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी । उन्होंने वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक को सर्वास्तिवादी माना है । यदि अभिधर्मकोश के अनुसार सर्वास्तिवादी का अर्थ है—'सर्वदास्तिवादी' और सौत्रान्तिक इस सर्वदास्तिवाद का विरोध करता है तो वाचस्पति मिश्र का यह विचार अवश्य ही चिन्तनीय है ।[२] बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के विभाजन में एक बात और भी विचारणीय है । वह यह कि अनेकशः उद्धृत करते हुए भी वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग सम्प्रदाय को प्रसिद्ध सम्प्रदायों में से किसी एक के अन्तर्गत नहीं रक्खा, हाँ कई बार सौत्रान्तिक का मत प्रस्तुत करते समय दिग्नाग और धर्मकीर्ति को उद्धृत अवश्य किया है । अतः क्या यही स्वीकार करना उचित है कि वे दिग्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक के अन्तर्गत रखते हैं ?[३]

वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की विवेकपूर्ण व्याख्या की है, जिससे उनके मन्तव्यों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है । इन चारों के कतिपय विशेष मन्तव्यों का तो वाचस्पति मिश्र ने ऐसा विशद विवेचन किया है जैसा कि अन्यत्र नहीं मिलता । उदाहरणार्थ निराकार तथा साकार ज्ञानवाद,[४] बाह्यार्थ की

(ख) One of his first works the Nyāya kaṇikā and his latest and ripest great work Nyāyavārtikatātparyatīkā are almost entirely devoted to the exposition and refutation of Buddhist theories, श्चेरबात्स्की ; Buddhist Logic, Vol. I., p. 50.

(ग) "इस (तात्पर्यटीका) में अनेक स्थलों पर बौद्ध-दर्शन-सम्प्रदायों की, विशेषकर दिङ्नाग सम्प्रदाय की बहुत सूक्ष्म और गम्भीर आलोचना की गई है और संभवतः सारे वैदिक दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में वाचस्पति से बढ़कर बौद्ध-दर्शन सिद्धान्तों को समझने का कोई दूसरा आधार नहीं है ।" धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ; भारतीय दर्शन शास्त्र, पृ० १२० ।

२. द्र०, ऊपर, परि० ३ अनु० १ ।

३. ऊपर, परि० २ अनु० ५-७ ।

४. ऊपर, परि० ३ अनु० ७ (२) ।

अनुमेयता,[5] बाह्यार्थभङ्गवाद[6] आदि का अनूठा विवेचन वाचस्पति मिश्र ने किया है। वाचस्पति मिश्र से पूर्वकालीन बौद्ध या वैदिक-दर्शन के ग्रन्थों में बौद्धों के इन चारों सम्प्रदायों का ऐसा विशद एवं स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं होता। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रन्थों के एतद्विषयक विवेचन भी उसके सामने अधूरे हैं तथा सर्वदर्शनसंग्रह इत्यादि अर्वाचीन ग्रन्थों के बौद्ध-दर्शन सम्बन्धी विवेचनों को देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अवश्य ही वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों का बहुत बड़ा आधार ग्रहण किया गया होगा।

(२) **अवयवी का खण्डन**—वाचस्पति मिश्र ने न्यायतात्पर्यटीका में अवयवी-खण्डन-सम्बन्धी बौद्ध-दर्शन की युक्तियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। यद्यपि प्रमाणवार्त्तिक आदि बौद्ध-ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर अवयवी का खण्डन किया गया है, तथापि वह ऐसा विशद एवं हृदयग्राह्य नहीं बन पड़ा जैसा कि वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में है। यहाँ वह एक स्थान पर सुव्यवस्थित रूप में आ जाने के कारण अधिक स्पष्ट एव बोधगम्य हो गया है।[7]

(३) **प्रमाण-निरूपण**—वाचस्पति मिश्र ने वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि के प्रमाण-लक्षणों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है।[8] यह भी विवेचन किया है कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों के दो प्रकार के विषय होते हैं—ग्राह्य और अध्यवसेय। बौद्ध-दर्शन की प्रमाण-व्यवस्था का अभिप्राय है—ग्राह्य विषयों में व्यवस्था।[9] यह सन्दर्भ धर्मोत्तर की न्यायबिन्दुटीका से अधिकांश में मिलता है तथापि उससे अधिक सुगम तथा स्पष्ट है। वाचस्पति मिश्र ने सभी बौद्ध-दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार विपर्यय का स्वरूप भी प्रस्तुत किया है।[10]

(४) **विविध प्रत्यक्ष-लक्षणों का विवेचन**—वाचस्पति मिश्र ने वसुबन्धु-दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षणों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है।[11] उनके प्रत्यक्ष-विषयक विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किस प्रकार वसुबन्धु के प्रत्यक्ष-लक्षण से विकसित होते-होते दिग्नाग और धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण का स्वरूप बन गया तथा इन बौद्धाचार्यों के प्रत्यक्ष-लक्षणों में क्या सूक्ष्म-भेद है। वाचस्पति मिश्र के विवेचन से इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दो रूपों का विकास कैसे हुआ? बौद्ध-दर्शन सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानता,[12] इस विषय में बौद्धों के दृष्टिकोण का अनुपम विवेचन वाचस्पति मिश्र ने किया है। प्रमाणवार्त्तिक आदि के एतद्विषयक विवेचन वाचस्पति मिश्र के विवेचन के समक्ष अत्यन्त अधूरे तथा अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। तभी तो श्चेरबात्स्की ने बौद्धों के इस मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिये बुद्धिस्ट लाजिक भाग-२ के अन्त में वाचस्पति मिश्र के तत्सम्बन्धी विवेचन का अनुवाद प्रस्तुत किया है।

---

५. ऊपर, परि० ३ अनु० ७ (३)।
६. ऊपर, परि० ४ अनु० ४।
७. ऊपर, परि० ३ अनु० ५।
८. ऊपर, परि० ५ अनु० ३।
९. ऊपर, परि० ५ अनु० ७, ८।
१०. ऊपर, परि० ११ अनु० २।
११. ऊपर, परि० ६ अनु० १।
१२. ऊपर; परि० ६ अनु० ७।

(५) **विविध अनुमान-लक्षणों की समीक्षा**—वाचस्पति मिश्र ने वसुबन्धु, दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के अनुमान-लक्षणों की समीक्षा की है।[13] जिससे अनुमान के स्वरूप विकास पर प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-दर्शन द्वारा प्रस्तुत 'हेतु' के विविध लक्षणों के विवेचन, उनकी पूर्वापरसङ्गति लगाने के प्रयास आदि से वाचस्पति मिश्र की तथ्यान्वेषण की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। उनके व्याप्ति तथा अविनाभाव सम्बन्धी विवेचन से प्रतीत होता है कि व्याप्ति के विकास में दिग्नाग आदि का क्या योगदान रहा है, दिग्नाग ने किस प्रकार त्रैरूप्य सम्पन्न हेतु की उद्भावना की और किस प्रकार धर्मकीर्ति ने उसके स्वरूप को परिष्कृत किया ?[14] बौद्ध-दर्शन के अनुसार अनुमान के ग्राह्य तथा अध्यवसेय विषय का विवेचन भी वाचस्पति मिश्र ने किया है।[15] उनके विवेचन से यह विदित होता हैं कि 'साध्यविशिष्ट धर्मी अनुमेय होता है'[16] यह दिग्नाग की एक अपूर्व देन भारतीय-दर्शन को प्राप्त हुई थी। दिग्नाग के द्वारा जो सद् हेतु और हेत्वाभास का भेद दिखलाया गया था उसका जैसा स्पष्ट वर्णन न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में मिलता है,[17] वैसा अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार वसुबन्धु, दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के (परार्थानुमान-विषयक) अनुमान वाक्य के अवयवों का निरूपण यहाँ किया गया है,[18] जिससे प्रतीत होता है कि बौद्ध-न्याय में क्रमशः अनुमान-वाक्य के तीन तथा दो अवयव माने गये थे। वाचस्पति मिश्र के ये सभी कार्य तर्कशास्त्र-सम्बन्धी अन्वेषण तथा तर्कशास्त्र के ऐतिहासिक विवेचन में विशेष सहायक हो सकते हैं तथा बौद्ध-दर्शन के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

(६) **क्षणिकवाद**—वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायकणिका तथा भामती में क्षणिकवाद का विवेचन किया है। यहाँ बौद्धों के अनुसार क्षणिकवाद के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया गया है।[19] उसकी प्रत्यक्ष और अनुमान से किस प्रकार सिद्धि होती है यह दिखलाया गया है।[20] साथ ही प्रत्यभिज्ञा क्षणिकवाद में बाधक नहीं, यह प्रतिपादित करते हुए प्रत्यभिज्ञा का बौद्धाभिमत स्वरूप स्पष्ट किया गया है।[21] क्षणिक वस्तुओं में ही कार्यकारणभाव हो सकता है, स्थिर वस्तुओं में नहीं; सार्थक क्रिया करने के कारण क्षणिक वस्तु ही परमार्थ सत् है, यह भी निरूपण किया गया है।[22] इस विवेचन में बौद्ध-दर्शन की परमार्थसत् वस्तु के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। साथ ही कार्य-कारण-भाव की व्याख्या करते हुए उपादान, सहकारी तथा उपसर्पण प्रत्ययों के बौद्धाभिमत स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।[23] इनके पृथक्-पृथक् स्वरूप जैसे वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में स्पष्ट हुए हैं, वैसे अन्यत्र नहीं।

---

१३. ऊपर; परि० ७ अनु० १,२,३।
१४. ऊपर, परि० ७ अनु० २।
१५. ऊपर, परि० ७ अनु० ५।
१६. ऊपर, परि० ७ अनु० ५(३)।
१७. ऊपर, परि० ७ अनु० १० तथा न्या० वा० ता०, पृ० २६०।
१८. ऊपर, परि० ७ अनु० ६।
१९. ऊपर, परि० ८ अनु० १।
२०. ऊपर, परि० ८ अनु० २, ४।
२१. ऊपर, परि० ८ अनु० ३।
२२. ऊपर, परि० ८ अनु० ४।
२३. ऊपर, परि० ८ अनु० ८ (iii)।

(७) **प्रतीत्यसमुत्पाद**—बौद्धों के अनुसार कार्यकारणभाव का स्वरूप क्या है ? यह बतलाते हुए प्रतीत्यसमुत्पाद की विशद व्याख्या की गई है।[२४] प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रारम्भिक स्वरूप जैसा विशद रूप में भामतीटीका में प्रतिपादित किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस विवेचन में प्रतीत्यसमुत्पाद का बाह्य (भौतिक) तथा आध्यात्मिक (चित्तसम्बन्धी) स्वरूप उदाहरणों सहित निरूपित किया गया है। अभिधर्मकोश में वर्णित संसारचक्र के कारणरूप द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद का भी विवेचन है। यद्यपि भामती में प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का इतिहास दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि न्यायवार्त्तिकतात्पर्य-टीका के प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी उल्लेखों से इसकी झलक अवश्य मिलती है।

(८) **सामान्यवाद तथा अपोह**—प्रमाणवार्त्तिक आदि ग्रन्थों में सामान्य का खण्डन अनेक स्थलों पर मिलता है। वह पाठकों के लिये अत्यन्त दुरूह है; किन्तु वाचस्पति मिश्र की न्यायतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका में जो सामान्य- खण्डन का प्रकार दिखलाया गया है वह अत्यन्त स्पष्ट है। एक ही स्थान पर समस्त युक्ति-प्रत्युक्तियों के आ जाने से वह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। यहाँ सामान्य-खण्डन के अनन्तर ही 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) का स्वरूप-निरूपण किया गया है, अतः अपोह तथा सामान्य का पारस्परिक अन्तर हृदयंगम हो जाता है। इस विषय में वाचस्पति मिश्र की बौद्ध-दर्शन को एक विशेष देन है, वह यह कि वाचस्पति मिश्र ने दिग्नाग का उद्धरण देते हुए यह स्पष्ट किया है कि अनुमान द्वारा सामान्यलक्षण का ग्रहण होता है और स्वलक्षण का अध्यवसाय किया जाता है, किन्तु स्वलक्षण का आरोपित स्वरूप ही अनुमान का अध्यवसेय विषय है, परमार्थसत् स्वरूप नहीं[२५]। बौद्ध-दर्शन के उपलब्ध ग्रन्थों में प्रत्यक्ष-ग्राह्य तथा अनुमान द्वारा अध्यवसित स्वलक्षण का यह सूक्ष्म भेद स्पष्ट नहीं झलकता।

(९) **अनात्मवाद**—वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में बौद्धों के अनात्मवाद का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।[२६] उन्होंने बतलाया है कि बौद्ध-दर्शन आत्मवाद को संसार का कारण मानता है, वह बड़े समारम्भ से आत्मवाद का खण्डन करता है, और अनात्मवाद में स्मृति, प्रतिसन्धान तथा कर्मफल एवं जन्म-मरण की व्यवस्था बन सकती है इसका भी विवेचन करता है।[२७] वाचस्पति मिश्र ने आलयविज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान आदि के स्वरूप को भी समझाया है - वाचस्पति मिश्र का यह विवेचन विशेषकर प्रमाणवार्त्तिक के आधार पर है।

(१०) **ईश्वर-कारणवाद का खण्डन**[२८]—प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार ही पृथिवी आदि जगत् की उत्पत्ति हो जाती है। कारण-समवधान से ही कार्य उत्पन्न हो जाता है, बौद्धों के इस मन्तव्य की ओर संकेत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध-दर्शन की ईश्वर-खण्डन सम्बन्धी युक्तियों का निरूपण किया है। उन्होंने बौद्ध-दर्शन की युक्तियों को बौद्ध तार्किकों की अपेक्षा अधिक सशक्त एवं प्रभावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किया है। सम्भवतः इसी कारण उत्तरकालीन बौद्ध-दार्शनिकों ने वाचस्पति मिश्र के ईश्वरसिद्धि विषयक ग्रन्थ

---

२४. ऊपर, परि० ८ अनु० ९।

२५. ऊपर, परि० ९ अनु० १२।

२६. ऊपर, परि० १० अनु० १।

२७. ऊपर, परि० १०, अनु० २, ३।

२८. ऊपर, परि० १०, अनु० ५।

का अधिक आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ मोक्षाकर गुप्त[29] का ईश्वरसिद्धिविषयक विवेचन वाचस्पति मिश्र के विवेचन से अधिकमात्रा में मिलता है। ज्ञानश्रीमित्र ने भी ईश्वर का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष के रूप में वाचस्पति मिश्र के विवेचन को उद्धृत किया है।[30]

(११) **निर्वाण तथा सर्वज्ञता**[31]—वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के निर्वाण का स्वरूप तथा उसके साधन आदि का न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायकणिका में निरूपण किया है। इन ग्रन्थों में प्रसङ्गानुसार ही निर्वाणविषयक बातें आ गई हैं। एक स्थल पर निर्वाण के स्वरूप आदि का विस्तृत विवेचन वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। उनके ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तार के साथ सर्वज्ञता प्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह भी दिखलाया गया है कि सर्वज्ञता प्राप्ति की बाधक युक्तियों का बौद्ध-दर्शन किस प्रकार खण्डन करता है।[32] न्यायकणिका का यह प्रसङ्ग अपने ढंग का अनूठा है। प्रमाणवार्त्तिक आदि में भी सर्वज्ञता का ऐसा विशद विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

इनके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन के अन्य अनेक मन्तव्यों का वाचस्पति मिश्र ने निरूपण किया है, जिनमें अधिकांश का प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेचन किया गया है।

३. उत्तरकालीन बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थ और वाचस्पति मिश्र

जैसा कि ऊपर निरूपण किया गया है, वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध-दर्शन के मन्तव्यों को संक्षिप्त एवं विशद रूप से (पूर्व पक्ष के रूप में) स्थापित करके उनका विस्तार से निराकरण किया है। फलतः उत्तरकालीन बौद्ध-विद्वानों ने अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय वाचस्पति मिश्र की युक्तियों का खण्डन करने का महान् प्रयास किया है। कहीं-कहीं तो वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के लम्बे-लम्बे अवतरण उद्धृत कर दिये गये हैं और फिर उनका खण्डन किया गया है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि प्रथमतः पूर्वपक्ष (वाचस्पति-कृत खण्डन) को भली भाँति समझा जाये, तदुपरान्त उत्तरपक्ष की बौद्ध-दर्शन सम्बन्धी युक्तियों का अनुशीलन किया जाये। एतदर्थ वाचस्पति मिश्र का बौद्ध-दर्शन सम्बन्धी विवेचन उत्तरकालीन बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों के अध्ययन में अत्यन्त सहायक है।

उदाहरणार्थ ज्ञानश्रीमित्र के प्रायः सभी निबन्धों में और रत्नकीर्ति (९४०–१०००) की 'अपोहसिद्धि'[33] तथा 'क्षणभङ्गसिद्धि'[34] इत्यादि बौद्ध ट्रैक्टों में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के पर्याप्त अंश दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार मोक्षाकर गुप्त की 'तर्कभाषा' में वाचस्पति मिश्र के ईश्वरसिद्धिविषयक विवेचन को उद्धृत करके उसका खण्डन किया गया है।[35] इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र का नामनिर्देश[36] करते हुए उन के संशय का लक्षण प्रस्तुत किया गया है।

---

२९. तर्कभाषा, पृ० २२।
३०. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ० २३४।
३१. ऊपर, परि० ११।
३२. ऊपर, परि० ११ अनु० ४, ५, ६।
३३. अपोहसिद्धि, पृ० ४, ७, ८, १०।
३४. क्षणभङ्गसिद्धि, पृ० ५८।
३५. तथा हि त्रयः खलु भावाः भवन्ति इत्यादि। (मो०) तर्कभाषा, पृ० २२। (न्या० वा० ता०, पृ० ५९८)
३६. यदपि वाचस्पतिराह—(मो०) तर्कभाषा, पृ० २४।

४. बौद्ध-ग्रन्थों का पुनरुद्धार और वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ

आधुनिक युग में बौद्ध-ग्रन्थों का पुनरुद्धार किया जा रहा है। बौद्ध-दर्शन के ऐसे अनेक ग्रन्थ-रत्न हैं जो तिब्बती, चीनी तथा उनके द्वारा यूरोपीय भाषाओं में तो उपलब्ध हैं किन्तु अपने असली रूप में संस्कृत में अप्राप्य है। भारतीय दर्शन को समझने के लिये उन ग्रन्थों की अत्यधिक आवश्यकता है। उदाहरण के लिये मध्ययुग के महान् दार्शनिक दिग्नाग का प्रमाणसमुच्चय आज संस्कृत में नहीं मिलता, किन्तु उसका तिब्बती रूपान्तर मिलता है। यह सर्वविदित ही है कि मध्यकालीन भारतीय-दर्शन के विकास में दिग्नाग का अद्वितीय स्थान है। उनके प्रमाणसमुच्चय से दार्शनिक जगत् का कितना महान् उपकार हो सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रमाणसमुच्चय जैसा ग्रन्थ केवल बौद्ध-दर्शन को समझने में ही सहायक न होगा अपि तु समस्त भारतीय दर्शन को व्यापक रूप से समझने में योग देगा। मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्र प्रमाणसमुच्चय को केन्द्र मान कर चल रहा है। उद्योतकर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट की कृतियों का उससे गहन सम्बन्ध है अतः प्रमाण-समुच्चय जैसे ग्रन्थ का पुनरुद्धार अत्यन्त उपयोगी है। इस कार्य में वाचस्पति मिश्र की कृतियाँ अत्यन्त सहायक हो सकती हैं। कारण यह है कि जिन वैदिक धर्मावलम्बी दर्शनकारों ने दिग्नाग का नामनिर्देश करते हुए उनके उद्धरण दिये है उनमें वाचस्पति मिश्र अन्यतम हैं। इसलिये प्रमाणसमुच्चय की कारिकाओं को तिब्बती भाषा से संस्कृत रूप देने के लिए वाचस्पति मिश्र के अनेक उद्धरण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। गवेषकों के प्रयोगों से भी इस बात की पुष्टि हो रही है। श्रीयुत एच०आर०आर० आयंगर ने जो प्रमाणसमुच्चय के प्रथम परिच्छेद का पुनरुद्धार किया है उसमें स्थान-स्थान पर इस प्रकार के उद्धरणों से बड़ी सहायता मिली है। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के कई उद्धरणों से विद्वान् लेखक ने प्रमाणसमुच्चय की कारिकाओं की समता दिखलाई है।[३७]

५. दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन में सहायक

दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक-दर्शन और बौद्ध-दर्शन के तत्त्वों के तुलनात्मक विवेचन के लिए ही इनकी उपयोगिता नहीं है अपितु वैदिक-दर्शनों के तत्त्वों की पारस्परिक तुलना में भी ये अत्यन्त सहायक हैं। इसी प्रकार बौद्ध-दार्शनिक सम्प्रदायों के मन्तव्यों की पारस्परिक तुलना में इनके अनुशीलन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने किसी एक विषय को लेकर उस पर विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टि से विवेचन किया है, अतः उस विषय पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है। एक मत में दोष प्रकट करके द्वितीय मत प्रस्तुत किया गया है तथा इसी प्रकार द्वितीय आदि मतों के दोषों का उद्घाटन करते हुए सिद्धान्त की स्थापना की गई है। ऐसी दशा में एक विषय सम्बन्धी विविध मन्तव्यों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है और विविध दार्शनिकों के मन्तव्यों का तुलनात्मक विवेचन भी हो गया है। फलतः दर्शन-शास्त्र के तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि भारतीय दर्शन में

---

३७. प्रमाणसमुच्चय १.२१ न सुखादिप्रमेयं वा। न्या० वा० ता०, पृ० १४६।
प्रमाणसमुच्चय १.२ अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षम्। न्या० वा० ता०, पृ० ११८।

प्रमाण-स्वरूप के विषय में विविध मतों का एकत्र विवेचन करना है तो वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका का प्रमाण-लक्षण सम्बन्धी विवेचन इसमें अत्यन्त सहायक हो सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के मन्तव्यों के तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से भी यही बात सत्य है। वैभाषिक, सौत्रान्तिक तथा विज्ञानवादी के मन्तव्यों का तुलनात्मक ज्ञान जैसा वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर सम्भव है वैसा किसी बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थ के आधार पर भी सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष का विषय क्या है? या प्रमाण-फल-व्यवस्था कैसे होती है? न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका आदि ग्रन्थों से एतद्विषयक बौद्ध-दार्शनिकों के विविध मतों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-दार्शनिक ग्रन्थों से इन बातों को समझना अत्यधिक कष्टसाध्य है। इस प्रकार दार्शनिक तत्त्वों के तुलनात्मक अनुशीलन के लिए वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

६. ऐतिहासिक महत्त्व

जैसा कि ऊपर यत्र-तत्र संकेत किया गया है बौद्ध-दर्शन के प्रमाण-सम्बन्धी तथा प्रमेय सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुशीलन में भी वाचस्पति मिश्र की कृतियाँ विशेष उपयोगी सिद्ध हुई हैं और आगे भी अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध होंगी। कोई भी बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी ऐतिहासिक विवेचन वाचस्पति मिश्र की कृतियों के बिना अधूरा है। वस्तुतः वाचस्पति मिश्र दर्शन-शास्त्र के ऐसे इतिहास-वेत्ता हैं जो वैज्ञानिक प्रतिभा से युक्त हैं।[३८] आधुनिक युग के उपलब्ध बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी विवेचनों से यह बात भली-भाँति विदित होती है कि प्रमाण आदि के विकास के विवेचन में ही नहीं, बौद्ध-दर्शन के विकास सम्बन्धी विवेचन में भी वाचस्पति मिश्र की कृतियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कोई भी गवेषक वाचस्पति मिश्र की कृतियों के अभाव में बौद्ध-दर्शन के विकास का यथार्थ एवं बुद्धिसंगत विवेचन करने का साहस नहीं कर सकता। अतः बौद्ध-दर्शन के सिद्धान्तों को समझाने के लिए ही वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ उपयोगी नहीं हैं अपि तु बौद्ध-दर्शन के विकास की कहानी को जानने के लिए भी उनका अनुशीलन परमावश्यक है।

सारांश यह है कि वाचस्पति मिश्र की कृतियों में बौद्ध-दर्शन का सार निहित है। वस्तुतः ये कृतियाँ बौद्ध-दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्याएँ हैं जिसमें बौद्ध-दर्शन के विविध मन्तव्यों का ऐसा संक्षिप्त, किन्तु विशद विवेचन किया गया है, जैसा कि अन्यत्र दुर्लभ है। बौद-दर्शन के मन्तव्यों के सम्यक् विवेचन के लिए ये अत्यन्त उपयोगी हैं, बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों के पुनरुद्धार में इनसे पर्याप्त सहायता मिल सकती है तथा बौद्ध-दर्शन के तत्त्वों के तुलनात्मक अध्ययन एवं ऐतिहासिक अनुशीलन की दृष्टि से भी इनका अद्वितीय महत्त्व है। वाचस्पति मिश्र की कृतियाँ तथा उनका अनुशीलन बौद्ध-दर्शन के अग्रिम अध्ययन में पथप्रदर्शक हैं अतः बौद्ध-दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से वाचस्पति मिश्र का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।

---

३८. He is an historian of philosophy imbibed with a true scientific spirit. श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक भाग १, पृ० ५०।

परिशिष्ट (क)

पारिभाषिक शब्दों का विवरण

अख्याति (non-apprehension)—ख्याति (ज्ञान) का अभाव, विवेकाग्रह, दो वस्तुओं का अलग-अलग ज्ञान न होना। प्रभाकर (मीमांसक) के अनुसार अख्याति के कारण ही भ्रान्ति होती है, उसका भ्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्त अख्यातिवाद कहलाता है, पृ० २४५।

अद्रव्यवाद (theory of no-substance)—वह सिद्धान्त जिसमें धर्मों (flashes of reality, elements) से भिन्न धर्मी की सत्ता नहीं मानी जाती, पृ० ४८,२२६।

अधिपति-प्रत्यय—द्र० आलम्बन-प्रत्यय।

अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान, judgment)—(i) निर्विकल्पक ज्ञान (प्रत्यक्ष) के पश्चात् होने वाला सविकल्पक ज्ञान (विकल्प) 'इदं नीलम्'=यह नील है इत्यादि, पृ० १०३। (ii) अनुमान के द्वारा सामान्यलक्षण का ग्रहण होने के पश्चात् होने वाला विकल्प 'यह अग्नि है' इत्यादि। इसमें सामान्यलक्षण के साथ स्वलक्षण का भेदाग्रह होता है। इसका विषय अध्यवसित स्वलक्षण है, पृ० १५८, २१६, २२३।

अध्यवसेय (अध्यवसाय का विषय, object of judgment)—(i) प्रत्यक्ष का अध्यवसेय क्षण-सन्तान है, पृ० १०३। (ii) अनुमान का अध्यवसेय अध्यवसित स्वलक्षण=सामान्यलक्षण में आरोपित स्वलक्षण, पृ० १५८, २१६, २२३।

अनात्मवाद (नैरात्म्यवाद, no-soul-theory)—वह सिद्धान्त जिसमें आत्मा का अस्तित्व नहीं माना गया। यह आत्मवाद के विरुद्ध है, पृ० २२५-२२६।

अनुपलब्धि (ग्रहण न होना, absence of comprehension)—(i) भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्त के अनुसार अभाव या अनुपलब्धि एक पृथक् प्रमाण है, जिसके द्वारा किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान होता है। (ii) बौद्ध न्याय के अनुसार अनुपलब्धि नामक लिङ्ग के द्वारा किसी वस्तु के अभाव का व्यवहार किया जाता है। यह अनुमान का ही एक प्रकार है (अनुपलब्धिहेतुक अनुमान), पृ० १५०।

अनुमान (inference)—किसी ज्ञात चिह्न (लिङ्ग) के द्वारा अज्ञात वस्तु का यथार्थ ज्ञान तथा उस ज्ञान का साधन; दो प्रकार—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, पृ० १४०-१६०।

अनुमान-वाक्य—द्र० परार्थानुमान।

अनुमेय (अनुमान का विषय, object of inference)—जिसका अनुमान किया जाता है, साध्य (अग्नि आदि) अथवा साध्यविशिष्ट धर्मी (अग्निविशिष्ट पर्वत आदि), पृ० १५९।

अनुमेयता—अनुमेय का भाव, अनुमेय होना।

अन्यथाख्याति (विपरीतख्याति)—किसी वस्तु को दूसरे प्रकार से जान लेना (knowledge of a thing in a form which is not its own); जैसे रस्सी को साँप समझ लेना; न्यायवैशेषिक का भ्रान्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है, पृ० २४५।

अन्यव्यावृत्ति (अतद्व्यावृत्ति, exclusion of others)—द्र० अपोह।

अन्वय-व्यतिरेक (correlation as existence and as non-existence) किसी के होने पर ही होना (अन्वय=तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्) किसी के न होने पर न होना (व्यतिरेक=तदभावे तदभाव:); जैसे जहाँ कार्य होता है वहाँ कारण अवश्य होता है (अन्वय) किन्तु कारण के न होने पर कार्य नहीं होता (व्यतिरेक) अत: कारण और कार्य का अन्वय-व्यतिरेक है, पृ० १८०।

अपेक्षा बुद्धि—एक विशेष प्रकार का ज्ञान जिसके द्वारा द्वित्व त्रित्व आदि संख्या की प्रतीति होती है, पृ० ६१ (टि०)।

अपोह (अन्यव्यावृत्ति, अतद्व्यावृत्ति, common negation)—कल्पित पदार्थ जो अभावात्मक है तथा सजातीयों में समानता और विजातीयों से भेद की प्रतीति का निमित्त है, पृ० २१९-२२२।

अभाव (non-existence)—न होना, न्या०-वैशे० का सप्तम पदार्थ, मीमांसक (भाट्ट) का एक प्रमाण, द्र० अनुपलब्धि।

अभेदग्रह—दो भिन्न वस्तुओं को अभिन्न समझना, भिन्न वस्तुओं में अभेद का आरोप, (imposition of identity of two things) द्र० भेदाग्रह।

अयोगव्यवच्छेद—'एव' (अव्यय शब्द) का तीन प्रकार का अर्थ है—अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद। 'एव' शब्द जिस विशेषण या विशेष्य के साथ लगता है उसका ही अवधारण (निश्चय, नियम) कर देता है। यहाँ योग=सम्बन्ध, व्यवच्छेद=निवारण। (i) अयोग-व्यवच्छेद=असम्बन्ध का निवारण; जैसे—'पार्थो धनुर्धर एव' यहाँ 'एव' का अन्वय धनुर्धर (विशेषण) के साथ है। इससे प्रकट होता है कि पार्थ में धनुर्धरत्व (धनुषधारी होने) का असम्बन्ध नहीं है; अर्थात् पार्थ अवश्य ही धनुर्धर है। (ii) अन्ययोगव्यवच्छेद=अन्य से सम्बन्ध का निवारण, जैसे 'पार्थ एव धनुर्धर':—यहाँ एव का अन्वय पार्थ (विशेष्य) के साथ है। इससे प्रकट होता है कि पार्थ से भिन्न में धनुर्धरत्व का सम्बन्ध नहीं; अर्थात् पार्थ ही धनुर्धर है, अन्य नहीं। (iii) अत्यन्तायोगव्यवच्छेद=अत्यन्त असम्बन्ध का निवारण; जैसे 'सरोजं नीलं सम्भवति +एव'—यहाँ 'एव' का अन्वय सम्भवति (क्रिया) के साथ है। इससे प्रकट होता है कि सरोज में नीलत्व का अत्यन्त असम्बन्ध नहीं है, अर्थात् सरोज नील भी हो सकता है। 'एव' के तीनों अर्थ लिङ्ग-त्रैरूप्य में हैं, पृ० १४९।

अर्थक्रिया (efficient action)—वस्तु का कार्य, प्रयोजन की सिद्धि; जैसे जल लाना आदि घट की अर्थक्रिया है, पृ० १८३।

अर्थक्रियाकारिता (अर्थक्रिया-क्षमता, efficiency)—अर्थक्रिया को करना, अर्थक्रिया का सामर्थ्य; बौद्धन्याय के अनुसार यही किसी वस्तु की सत्ता की कसौटी है, 'सत्त्वम्=अर्थक्रियाकारित्वम्', पृ० १८३-१८४।

अवयव-अवयवी (parts, whole)—भाग, अङ्ग, न्याय वैशेषिक के अनुसार अवयवों में उनसे भिन्न अवयवी (whole) की उत्पत्ति होती है; जैसे तन्तुओं में पट की, तन्तु=अवयव, कारण; पट=अवयवी, कार्य, पृ० ५०।

अवयव (a member of *anumāna-vākya*)—परार्थानुमान-वाक्य के अंश प्रतिज्ञा, हेतु इत्यादि; बौद्ध न्याय में तीन या दो अवयव, पृ० १६०-१६३।

अविनाभाव-नियम (**प्रतिबन्ध** concomitance)—एक वस्तु के बिना दूसरी का न होने का नियम; जैसे कभी भी अग्नि के बिना धूम नहीं होता—यह नियम है, व्याप्ति, relation of necessary dependence, inseparable connection; अविनाभाव नियम के दो आधार हैं—एक कार्य-कारण-भाव और दूसरा तादात्म्य, पृ० १५२।

असत्ख्याति—बिना हुई वस्तु का ज्ञान, माध्यमिक का भ्रान्ति-सम्बन्धी मन्तव्य जिसके अनुसार भ्रान्ति का विषय असत् है; अर्थात् मिथ्या ज्ञान का अधिष्ठान कुछ नहीं (असत्), पृ० २४८।

असमवायी कारण (non-inherent cause)—न्या०-वैशे० के अनुसार किसी कार्य के तीन प्रकार के कारण होते हैं—समवायी, असमवायी और निमित्त; जैसे तन्तुओं से जो पट बनता है उसके तन्तु समवायी कारण हैं, तन्तुओं का संयोग असमवायी कारण है तथा जुलाहा एवं पट-निर्माण के औजार आदि निमित्तकारण हैं, पृ० १८५।

आत्मख्याति—योगाचार (विज्ञानवादी) का भ्रान्ति-सम्बन्धी मन्तव्य जिसके अनुसार भ्रान्ति का विषय ज्ञान का अपना ही आकार है, पृ० २४६।

आत्मवाद (soul-theory)—वह सिद्धान्त जो ज्ञान आदि से भिन्न आत्मा को मानता है; पृ० २२७।

आलम्बन-प्रत्यय—ज्ञान का हेतु होने वाला विषय, बौद्धों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के चार हेतु होते हैं, जैसे नील के चाक्षुष ज्ञान में नील जो ज्ञान का विषय है वह आलम्बन-प्रत्यय है, चक्षु अधिपति प्रत्यय है, प्रकाश सहकारी प्रत्यय है और ज्ञान का पूर्व क्षण समनन्तर प्रत्यय है, पृ० ५८।

आयतन—५ इन्द्रिय+५ इन्द्रियविषय+मन+मन का विषय=१२, पृ० ४६।

आलय-विज्ञान—बौद्ध-दर्शन में विज्ञान दो प्रकार का है—आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान। 'अहम्' (मैं) प्रतीति का विषय आलय-विज्ञान है। यह भी विज्ञानक्षणों का प्रवाह मात्र है, आत्मा जैसी नित्य वस्तु नहीं। रूप आदि के विषय में जो ज्ञान होता है, वह प्रवृत्तिविज्ञान है, पृ० ५६।

उपसर्पण-प्रत्यय—उपादान प्रत्यय को सहकारी प्रत्ययों के समीप लाने वाला हेतु। प्रत्येक कार्य के तीन प्रकार के कारण हैं—(i) उपादान प्रत्यय (material cause)—कार्य का निमित्तभूत पूर्वक्षण जो सांख्य आदि के उपादान कारण या न्या०-वैशे० के समवायी कारण के समान है जैसे अंकुर की उत्पत्ति में बीज। (ii) सहकारी प्रत्यय (accessory cause)—जिसके सहयोग से उपादान प्रत्यय कार्योत्पादन में समर्थ होता है, जैसे अंकुर की उत्पत्ति में मिट्टी, जल, वायु आदि। (iii) उपसर्पण प्रत्यय, जो उपादान प्रत्यय का

सहकारी प्रत्ययों से सम्बन्ध कराता है, जैसे कृषक का हाथ आदि जो बीज को मिट्टी में बोते हैं। उपसर्पण प्रत्यय सहकारी प्रत्यय, और समनन्तर प्रत्यय में अन्तर है, पृ० १९५-१९६।

उपादान-प्रत्यय—द्र० उपसर्पण प्रत्यय।

कल्पना (विकल्प, cognition other than sensation) प्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान, वस्तु की उपस्थिति के बिना होने वाला ज्ञान, नाम आदि से विशिष्ट ज्ञान, अलीकवस्तु-विषयक ज्ञान; यह अनेक प्रकार का है; जैसे स्मृति, संशय, भ्रान्ति, निश्चयात्मक ज्ञान (अध्यवसाय), अनुमान आदि। विकल्प और अध्यवसाय समानार्थक नहीं, अनुमान से जो सामान्यलक्षण का ग्रहण होता है वह विकल्प तो है किन्तु अध्यवसाय नहीं, द्र० ग्राह्य तथा **अध्यवसेय**।

कारणवाद (theory of causation)—कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त, पृ० ८८, १८८।

कार्य (effect)—कारणों से उत्पन्न होने वाला पदार्थ।

क्षण (moment)—काल का सब से छोटा अंश, सूक्ष्म काल; न्यायवादी बौद्ध के अनुसार परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) क्षणिक तत्त्व है अतः क्षण कहलाता है, जैसे नीलक्षण, ज्ञानक्षण इत्यादि, पृ० १७१, १७३।

क्षण-भङ्ग-वाद (Buddhist theory of flux or evanescence)—वह सिद्धान्त जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है या एक ही क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है: यह बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है; पृ० १७१-१७३।

ख्यातिवाद—भ्रान्ति-सम्बन्धी मन्तव्य जो कि प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय का भिन्न-भिन्न है।

ग्रहण—किसी पदार्थ का अनुभव मात्र, अध्यवसाय का प्रतियोगी (opposite); apprehension or comprehension of something;—दो प्रकार: (i) प्रत्यक्ष द्वारा स्वलक्षण का ग्रहण अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष; पृ० ११९। (ii) अनुमान द्वारा सामान्यलक्षण का ग्रहण अर्थात् अनुमान-ज्ञान का प्रथम (अनिश्चयात्मक) क्षण; पृ० १५७-१५८।

ग्राह्य (ग्रहण का विषय; object to be apprehended,)—प्रत्यक्ष का ग्राह्य स्वलक्षण है, पृ० १०३ और अनुमान का सामान्यलक्षण, पृ० १५७।

ज्ञान (cognition)—जानना, विज्ञान।

ज्ञातता (प्राकट्य, प्रकटता, manifestedness)—कुमारिल (मीमांसक) के अनुसार ज्ञान-द्वारा उसके विषय में एक विशेष धर्म (जाना हुआ होना, प्रकट हुआ होना) उत्पन्न हो जाता है, वही ज्ञातता है, पृ० ६१।

तदुत्पत्ति—उस (कारण) से उत्पन्न होना, कार्य का कारण से ही उत्पन्न होना, कार्य-कारण-भाव का नियम जिसके आधार पर कार्यहेतुक अनुमान होता है (द्र० लिङ्ग), पृ० १५२-१५५।

तादात्म्य (identity)—एकरूपता, तद्रूपता, जहाँ एक वस्तु दूसरी का अपना रूप अर्थात् स्वभाव ही है; जैसे वृक्ष होना अशोक का स्वभाव ही है, या कहिये कि अशोक

नियम से वृक्ष होता है अतः अशोकत्व और वृक्षत्व का तादात्म्य है, इसके आधार पर स्वभावहेतुक अनुमान होता है (द्र० लिङ्ग), पृ० १५२, १५५।

दृष्टान्त (उदाहरण, example)—अनुमान-वाक्य का एक अवयव, पृ० १६७।

द्रव्य (substance)—न्याय-वैशेषिक का प्रथम पदार्थ, गुण और कर्म का आश्रय, बौद्ध दर्शन द्रव्य की सत्ता का निषेध करता है; द्र० अद्रव्यवाद।

धर्म—गुण, अङ्ग, property, तत्त्व element;—(i) न्या०-वैशे० के अनुसार द्रव्य में रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य और विशेष द्रव्य के धर्म कहलाते हैं और द्रव्य धर्मी (जिसमें धर्म रहता है); इसी प्रकार अवयव धर्मी हैं और अवयवी उनका धर्म है, जैसे तन्तु धर्मी हैं और पट उनका धर्म। (ii) बौद्ध दर्शन के अनुसार मूल तत्त्व ही धर्म (element) कहलाते हैं। साथ ही कारण तथा कार्य आदि भी धर्म कहे जाते हैं, पृ० १९६-१९७। (iii) इसके अतिरिक्त धर्म शब्द सामान्यतः लोकप्रचलित अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

धर्म-धर्मि-भेद (differentiation between the substratum and its properties)—(i) न्या०-वैशे० के अनुसार घट (धर्मी) और उसका रूप (धर्म) दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार तन्तु (धर्मी) से उनका धर्म पट भी भिन्न है (ii) सांख्य योग धर्म और धर्मी का तादात्म्य मानते हैं, भेद नहीं, घट और उसके रूप का तादात्म्य है तथा तन्तु और पट का भी। (iii) अद्वैत वेदान्त केवल धर्मी (ब्रह्म) की सत्ता को स्वीकार करता है और घट, पट आदि दृश्य जगत् को भ्रान्ति मात्र कहता है। (iv) बौद्ध के अनुसार धर्मों की ही वास्तविक सत्ता है, धर्मी की नहीं, रूप, स्पर्श आदि धर्मों से भिन्न घट नामक कोई धर्मी नहीं, पृ० ४९।

धर्म-लक्षण और धर्म-स्वभाव—बौद्ध के अनुसार धर्म (तत्त्व, element) के दो रूप हैं एक तो उसका अपना रूप, जो वास्तविक है और धर्म-स्वभाव कहलाता है, और दूसरा उसका क्षणिक कार्य रूप जो धर्म-लक्षण कहलाता है, पृ० ४४।

धातु—द्र० पृ० ४७।

नान्तरीयक—न अन्तरा विना भवति इति नान्तरीयः स एव नान्तरीयकः; जो किसी के बिना नहीं होता, अविनाभावी।

निरन्वय-उत्पाद—कार्य की ऐसी उत्पत्ति कि कार्य में कारण का तत्त्व (stuff) न जाये (अन्वय न हो), तादात्म्य न हो, पृ० १९०।

निरन्वय-विनाश—कार्य का ऐसा विनाश कि उसका तत्त्व (stuff) शेष न रहे, पृ० १८७-१८८।

निराकारज्ञानवाद—वह सिद्धान्त जिसके अनुसार ज्ञान में विषय की प्रतिच्छाया नहीं आती अथवा ज्ञान विषयाकारक नहीं होता, पृ० ६१।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (sensation, indeterminate perception)—कल्पना रहित अभ्रान्त ज्ञान; बौद्ध दर्शन में केवल इसे ही प्रत्यक्ष माना गया है, पृ० ११३-११६। प्रत्यक्ष के चार प्रकार; पृ० १२५-१२८।

पक्ष (subject, the minor term in inference)—जिसमें किसी साध्य की सिद्धि करनी होती है, सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः; जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्'—यहां

पर्वत पक्ष है, पृ० १४४ तथा आगे। **पक्ष-धर्मता**--हेतु का पक्ष में होना, हेतु का पक्ष-धर्म होना, यह सद्हेतु के लिये अनिवार्य है; जैसे उपर्युक्त अनुमान में धूम (हेतु) पक्ष (पर्वत) में विद्यमान है, अतः धूम में पक्ष-धर्मता है। **सपक्ष**—जिसमें किसी साध्य का होना निश्चित होता हैं, निश्चितसाध्यवान् सपक्षः; जैसे पाकशाला में धूम के साथ अग्नि का होना निश्चित है अतः पाकशाला सपक्ष है, पृ० १४५। **विपक्ष**—जिसमें किसी साध्य का न होना निश्चित होता है, निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः, जैसे सरोवर आदि में साध्य (अग्नि) का न होना निश्चित है, यहाँ सरोवर विपक्ष है, पृ० १४५ तथा आगे।

परमाणु (अणु, atom)—रूप-स्कन्ध का सूक्ष्मतम अंश परमाणु कहलाता है, बौद्ध दर्शन में वह नित्य नहीं अपितु क्षणिक है, पृ० ४६, ४८। अणु को परमाणु से भिन्न माना गया है। अभिधर्मकोश (३.८६) के अनुसार, सात परमाणुओं का एक अणु होता है।

परमार्थसत् (वस्तु, reality, ultimate reality)—असल वस्तु, प्रामाणिक वस्तु, प्रमाण-सिद्ध वस्तु; (i) सर्वास्तिवादी के अनुसार धर्म ही परमार्थसत् हैं, धर्मी नहीं, पृ० ४६; (ii) विज्ञानवादी के अनुसार विज्ञान ही परमार्थसत् है पृ० ६०; (iii) शून्यवादी के अनुसार शून्य परमतत्त्व है, पृ० ८३; (iv) दिग्नाग सम्प्रदाय के अनुसार स्वलक्षण परमार्थसत् वस्तु है, पृ० ३५।

परामर्शज्ञान (लिङ्गपरामर्श, deduction)—व्याप्ति-स्मृति के साथ पक्ष में हेतु के होने का ज्ञान, व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः, न्या०-वैशे० के अनुसार यही अनुमिति का साधन (अनुमान) है, पृ० १५१।

परार्थानुमान (inference for others, syllogism)—अन्य के प्रति अनुमान का प्रयोग, शब्दों द्वारा अनुमान का कथन, शब्दों द्वारा त्रिरूप लिङ्ग का कथन, अनुमान-वाक्य; बौद्ध न्याय के अनुसार अनुमान-वाक्य के तीन या दो अवयव हैं, पृ० १६०-१६३।

पैलुक—पीलुपाक वादी; वैशेपिक के अनुयायी, पीलुपाक वाद के अनुसार जब किसी घट में श्याम रङ्ग के स्थान पर लाल रङ्ग उत्पन्न होता है तो वह घट पहले परमाणु (पीलु) रूप में विभक्त हो जाता है तब परमाणुओं में श्यामता नष्ट होकर लालिमा आती हैं और उन लाल परमाणुओं से लाल रङ्ग का घट बनता हे, पृ० २१०।

पैठर—पिठरपाक वादी, न्याय दर्शन के अनुयायी, पिठरपाकवाद के अनुसार घट के अपने स्वरूप (पिठर=पात्र) में ही श्याम रङ्ग के स्थान पर लाल रङ्ग हो जाता हैं, पृ० २१०।

प्रतिभास (mental image)—आकार, आभास, सादृश्य, पृ० ११५।

प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा, recognition)—पूर्वानुभूत वस्तु में फिर स्मृति सहित अनुभव होना; जैसे "जिस घट को देखा था उसे ही छूकर जान रहा हूँ"। न्या० वैशे०-के अनुसार यह एक ज्ञान है; किन्तु बौद्ध दर्शन इसमें दो भिन्न-भिन्न ज्ञान मानता है—स्मृति और अनुभव, पृ० १७५-१७७। क्षणिकवाद में भी प्रत्यभिज्ञा सम्भव है, १७७-१७८। अनात्मवाद में भी प्रतिसन्धान हो सकता है, २२९-२३२।

प्रतीत्य-समुत्पाद (dependent origination)—कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति, अस्मिन् सति इदं भवति (इस वस्तु के होने पर यह होती है) इस प्रकार का कारण-कार्य-भाव, बौद्ध दर्शन का कारणवाद, पृ० १६८-२०५।

प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष प्रमाण, perception)—प्रथम प्रमाण, बौद्ध के अनुसार विकल्परहित अभ्रान्त ज्ञान तथा न्या०-वैशे० आदि के अनुसार इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला यथार्थ ज्ञान एवं उसका साधन। बौद्धदर्शन का प्रत्यक्ष, पृ० ११० तथा आगे।

प्रत्यभिज्ञा (recognition)—द्र० प्रतिसन्धान।

प्रत्यय—(१) कारण (causation) जैसे आलम्बन प्रत्यय इत्यादि, पृ० १९७, (२) हेतुओं का समुदाय, पृ० १९७। (३) ज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान।

प्रमाण (source of right knowledge)—यथार्थ अनुभव (प्रमा) का साधन, बौद्ध न्याय के अनुसार ज्ञान में जो नील आदि (वस्तु) का सारूप्य है, वही प्रमाण कहलाता है, पृ० ९७-९९।

प्रमाणवाद (Theory of *Pramāṇa*)—प्रमाणों का सिद्धान्त, प्रमाणों का विवेचन, प्रमाणों की सत्ता को स्वीकार करने वाला मन्तव्य, पृ० ८३-८४।

प्रमाण-व्यवस्था (restriction of the sphere of *pramāṇas*)—किसी प्रमेय अर्थ का एक ही प्रमाण द्वारा ग्रहण हो सकना; यह बौद्ध-न्याय का मन्तव्य है, पृ० १०४-१०६।

प्रमाण-संप्लव (intermixture of *pramāṇas*)—किसी एक ही प्रमेय अर्थ का कई प्रमाणों के द्वारा ग्रहण हो सकना, यह न्या०-वैशे० का मन्तव्य है, पृ० १०३-१०४।

प्रवृत्ति-विषय (object of action)—जिस विषय में व्यक्ति लेने या छोड़ने के लिये प्रवृत्त होता है।

प्राप्यकारित्व—प्राप्त करके अपना कार्य करना, इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके ही उसे प्रकट करती हैं; यह न्या०-वैशे० का मन्तव्य है। इसके विपरीत है—अप्राप्यकारित्व, जो बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है, पृ० १२०-१२२।

बाह्यार्थ (external object)—ज्ञान से भिन्न वस्तु, बाहरी जगत् की वस्तु।

बाह्यार्थानुमेयत्ववाद—वह सिद्धान्त जिसके अनुसार बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता अपितु वह अनुमेय है—अनुमान द्वारा जाना जाता है। यह मन्तव्य पाश्चात्य दर्शन के representationism के समान है। यह सौत्रान्तिक का मत माना जाता है, पृ० ६२-६३, ११८-११९।

भाव—existing, सत्, विद्यमान, पृ० ९०।

भेदाग्रह (non-comprehension of difference between the two)—भेद का ग्रहण न होना, बौद्ध-न्याय तथा प्रभाकर के अनुसार भेदाग्रह ही मिथ्या-प्रतीति का निमित्त है, पृ० २१८-२१९।

लिङ्ग (हेतु, साधन, reason, probans, the middle term in inference)—जिसके द्वारा किसी साध्य की सिद्धि की जाती है, जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वाद्'—यहाँ धूम लिङ्ग है। बौद्ध न्याय में सद्हेतु (लिङ्ग) तीन रूपों से युक्त (त्रैरूप्य-सम्पन्न) होता है—पक्ष में होना, सपक्ष में होना और विपक्ष में न होना, पृ० १४४-१५०। लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि, पृ० १५०।

वासना (अतिशय, संस्कार)—किसी ज्ञान आदि के नष्ट हो जाने पर उससे उत्पन्न होने वाला प्रभाव, पृ० २३१-२३२।

विकल्प—द्र० कल्पना।

विज्ञप्तिमात्रता (विज्ञानवाद idealism)—वह मन्तव्य जिसके अनुसार केवल विज्ञान (विज्ञप्ति) ही परमार्थसत् है उससे भिन्न बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं, पृ० ४०।

वित्ति—ज्ञान, विज्ञान, cognition, consciousness.

सन्तान-सन्तति (series)—भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का निरन्तर एक दूसरे के बाद होना; क्षणिक पदार्थों की धारा।

सन्निकर्ष (sense-object-contact)—इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध, पृ० १०६।

सभाग-सन्तति या सजातीय सन्तति—क्षणिक-पदार्थों का समान प्रवाह (similar series in the flux of momentary objects); जैसे घट-क्षण से जब तक घट-क्षण ही उत्पन्न होते रहेंगे तब तक सभाग घट-क्षण-सन्तति कही जायेगी; किन्तु जब घट टूट जायेगा और घट के खण्ड (कपाल) रहेंगे वह घट की **विसभाग या विजातीय सन्तति** (क्षणिक पदार्थों का असमान प्रवाह) होगी, पृ० २३०।

समवाय सम्बन्ध (inherence)—नित्य-सम्बन्ध, ऐसे दो पदार्थों का सम्बन्ध जिनमें से एक दूसरे पर आश्रित होकर ही रह सकता है; जैसे गुण और गुणी, यहां गुण सदा गुणी के आश्रित होकर ही रह सकता है (द्र०, तर्कभाषा, पृ० ३)।

समवायी कारण (inherent cause)—जिस पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है; जैसे तन्तुओं में पट उत्पन्न होता है। वहां तन्तु ही पट का समवायी कारण हैं, साँख्य के अनुसार यही उपादान कारण कहलाता है, पृ० १८५।

सर्वास्तिवाद—बौद्ध दर्शन का एक सम्प्रदाय, पृ० ४३-४४।

सविकल्पक-प्रत्यक्ष (determinate perception)—यह घट है, इस प्रकार नाम जाति आदि की कल्पना-सहित होने वाला प्रत्यक्ष। बौद्ध दर्शन में इसे प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) के अन्तर्गत नहीं माना जाता, अपितु प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहा जाता है, पृ० १२९-१४०।

सहकारिता—सहकारी कारण होना, पृ० १९०।

सहकारी प्रत्यय (accessory cause),—द्र० उपसर्पण-प्रत्यय, पृ० १९५।

संस्कार—न्या०-वैशे० का तीन प्रकार का संस्कार—वेग, स्थितिस्थापक, भावना (द्र०, तर्कभाषा ३१); यहां संस्कार=भावना=वासना, पृ० २३१; पञ्चस्कन्धों में से एक, पृ० ५७।

संस्कृत धर्म (संस्कृत)—कारणों से उत्पन्न होने वाले, हेतुओं की सामग्री से उत्पन्न होने वाले (हेतुप्रत्ययजनिताः=संस्कृताः, अभि० ना० १.४), पृ० १६७।

साकारज्ञानवाद (the theory that cognitions have forms) - वह सिद्धान्त जिसके अनुसार ज्ञान में विषय का आकार उत्पन्न होता है, पृ० ५६-६२।

साध्य (probandum, the major term in inference)—जो सिद्ध करना होता है।

सामान्य (जाति, universal)—वैशे० के सात पदार्थों में से एक, पृ० २०५-२०७।

सामान्यलक्षण (generalized reality)—बौद्ध-न्याय के अनुसार स्वलक्षण से भिन्न सभी पदार्थ सामान्यलक्षण हैं, पृ० ३६।

सालक्षण्य—सादृश्य, समानता, similarity, पृ० २२०।

सारूप्य (सादृश्य, आकार, आभास, conformity)—समानता, समान रूप वाला होना; ज्ञान और अर्थ का सम्बन्ध; सौत्रान्तिक के अनुसार जिस अर्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उस अर्थ के आकार वाला ही होता है, यही अर्थ और ज्ञान का सारूप्य है और यही **प्रमाण** कहलाता है (द्र० न्यायबिन्दुटीका, पृ० १८), पृ० ६७-६८, ११६।

सिद्धसाधन—प्रथमतः सिद्ध बात के लिये साधन प्रस्तुत करना, पृ० २३६।

स्कन्ध—राशि (राशीकरणं हि स्कन्धलक्षणम्, अभि० ना० १.२२), जैसे अतीत, अनागत और विद्यमान सभी रूपों के समुदाय को रूप स्कन्ध कहा जाता है! इसी प्रकार विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार भी हैं, पृ० ४६, ५५-५७।

स्वलक्षण (विशेष, particular, Thing-in-Itself)—दिग्नाग सम्प्रदाय के अनुसार परमार्थसत् वस्तु, पृ० ३५-३६।

स्वार्थानुमान (inference)—त्रिरूप लिङ्ग द्वारा अनुमेय का ज्ञान (न्यायबिन्दु, पृ० २१); बौद्ध-दर्शन के अनुसार भिन्न भिन्न लक्षण, पृ० १४१-१५०।

हेतु—(i) लिङ्ग, साधन reason; त्रैरूप्य-सम्पन्न हेतु, पृ० १४४-१४८। (ii) अनुमान-वाक्य का अवयव, पृ० १६५। (iii) कारण (हेतुप्रत्यय) पृ० १६८।

हेत्वाभास (fallacy)—दोष-युक्त हेतु, जो वस्तुतः हेतु (साधन) न हो किन्तु हेतु सा प्रतीत होता हो; न्या०-वैशे०में पांच हेत्वाभास माने गये हैं—असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालात्ययापदिष्ट (बाधित)। बौद्ध-न्याय में तीन हेत्वाभास माने गये हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक (अनिश्चित, सन्दिग्ध), न्यायबिन्दु, पृ० ८५। ऊपर (पृ० १६७-१७०) केवल विरुद्ध और अनैकान्तिक दो हेत्वाभासों का ही निरूपण किया गया है। कारण यह है कि पक्ष का धर्म जो हेतु है, उसकी दृष्टि से उपर्युक्त नौ विकल्प होते हैं और उनमें दो सद्हेतु तथा दो विरुद्ध हेत्वाभास एवं पांच अनिश्चित हेत्वाभास होते हैं। असिद्ध हेत्वाभास तो वहां होता है जहां कि पक्ष में हेतु विद्यमान नहीं रहता। उसका उल्लेख दिग्नाग की न्या० वा० ता० में उद्धृत करिकाओं में नहीं किया गया, पृ० १६७-१७०।

परिशिष्ट (ख)

सहायक ग्रन्थों का विवरण

१. आधारभूत ग्रन्थ उपयोग क्रम से

वाचस्पति मिश्र

(i) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका; चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९८२ वि० ।

(ii) न्यायकणिका; मेडिकल हाल, काशी ।

(iii) भामती; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१७, १९३८ ।

(iv) (योग) तत्त्ववैशारदी; सिद्धेश्वर यन्त्र, कलकत्ता, १८९५ ।

(v) सांख्यतत्त्वकौमुदी; चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२१ ।

(vi) न्यायसूचीनिबन्ध; चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२० ।

(vii) तत्त्वबिन्दु; मेडिकल हाल, काशी, १९१७ ।

२. संस्कृत के दर्शन-ग्रन्थ

अप्पय दीक्षित — कल्पतरुपरिमल; निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१७, १९३८ ।

अमलानन्द (व्यासाश्रम) — वेदान्तकल्पतरु (भामती-टीका); निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१७, १९३८ ।

(भट्ट) अर्चट — हेतुबिन्दुटीका; गायकवाड़ ऑरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९४९ ।

(पण्डित) अशोक — सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता; सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स में संकलित ।

उदयनाचार्य

(i) किरणावली; कलकत्ता, १९११ ।

(ii) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि-परिशुद्धि प्रकाश सहित; बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९११ ।

उद्योतकर

(i) न्यायवार्त्तिक; चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, १९१६ ।

(ii) न्यायवार्त्तिक; कलकत्ता संस्कृत सीरीज़, १९३६, १९४४ ।

कणाद — वैशेषिक सूत्र; प्रशस्तपाद भाष्य तथा उपस्कार सहित, बनारस, १९२३।

कुमारिल भट्ट — श्लोकवार्त्तिक; चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस।

केशव मिश्र — तर्कभाषा; ऑरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९४३।

गौतम (अक्षपाद) — न्यायसूत्र—वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्त्तिक, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा विश्वनाथ वृत्ति सहित; (दो जिल्दों में) कलकत्ता संस्कृत सीरीज़, १९३६, १९४४।

जयन्त भट्ट — न्यायमञ्जरी; चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३६।

दिग्नाग — प्रमाणसमुच्चय (प्रथम परिच्छेद); एच० आर० आर० आयंगर, मैसूर विश्वविद्यालय, द्वारा सम्पादित।

दुर्वेक मिश्र — हेतुबिन्दुटीकालोक; गायकवाड़ ऑरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९४९।

धर्मकीर्त्ति —
(i) न्यायबिन्दु; चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२४।
(ii) प्रमाणवार्त्तिक (स्ववृत्ति) कर्णगोमिटीका सहित; किताब महल, प्रयाग।
(iii) प्रमाणवार्त्तिक-मनोरथनन्दिवृत्ति सहित; राहुल सां० द्वारा सम्पादित, १९३७।
(iv) हेतुबिन्दु—हेतुबिन्दुटीका तथा हेतुबिन्दुटीकालोकसहित; गायकवाड़ ऑरियण्टल, सीरीज़, बड़ौदा, १९४९।

धर्मोत्तर — न्यायबिन्दुटीका; चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२४।

नागार्जुन — विग्रहव्यावर्त्तनी (वृत्तिसहित); के० पी० जायसवाल तथा राहुल सां० द्वारा सम्पादित।

प्रज्ञाकरमति — बोधिचर्यावतारपञ्जिका; लुइस डी० ला० पूसिन् द्वारा सम्पादित, ऐसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९०१।

पतञ्जलि — योगसूत्र—व्यासभाष्य तथा तत्त्ववैशारदी सहित; सिद्धेश्वर यन्त्र, कलकत्ता, १८९५।

प्रशस्तपाद — प्रशस्तपादभाष्य—कन्दली सहित; मेडिकल हाल, काशी, १८९५।

मण्डनमिश्र — विधिविवेक-वाचस्पतिमिश्रकृत न्यायकणिका सहित; मेडिकल हाल, काशी।

माधवाचार्य — सर्वदर्शनसंग्रह; म० म० अभ्यङ्कर द्वारा सम्पादित, पूना, १६५१।

मोक्षाकर गुप्त — तर्कभाषा; गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा, १६४२।

यशोमित्र — स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या; नरेन्द्रनाथ ला द्वारा सम्पादित, १६४६।

रत्नकीर्त्ति —
(i) अपोहसिद्धि; सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स में संकलित तथा रत्नकीर्ति-निबन्धावली; काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलनसंस्था, पटना, २०१४ वि०।
(ii) क्षणभङ्गसिद्धि; सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स में संकलित तथा रत्नकीर्ति-निबन्धावली, पटना, २०१४ वि०।

राहुल सां० — नालन्दिका टीका (अभिधर्मकोश टीका); काशी विद्यापीठ, बनारस, १६८८ वि०।

वरददाज — तार्किकरक्षा; मेडिकल हाल, काशी, १६०३।

वर्धमानाचार्य — न्यायनिबन्धप्रकाश (परिशुद्धिप्रकाश); बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १६११।

वसुबन्धु — अभिधर्मकोश-नालन्दिका टीका सहित; काशी विद्यापीठ, १६८८ वि०।

वाचस्पति मिश्र —
(i) तत्त्वबिन्दु; रामास्वामी शास्त्री, अन्नामलाई यूनिवर्सिटी, द्वारा सम्पादित।
(ii) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका—न्यायभाष्य-वार्त्तिक आदि सहित; कलकत्ता संस्कृत सीरीज़, १६३६, १६४४।

वात्स्यायन — न्यायभाष्य (वात्स्यायन भाष्य)—न्यायवार्त्तिक आदि सहित; कलकत्ता संस्कृत सीरीज़, १६३६, १६४४।

विश्वनाथ — न्यायकारिकावली—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तथा धर्मेन्द्रनाथशास्त्री-कृत हिन्दी व्याख्या सहित; मोती लाल बनारसीदास, बनारस, १६५३।

व्यास — योग-भाष्य (व्यास-भाष्य)-तत्त्ववैशारदी सहित; सिद्धेश्वर यन्त्र, कलकत्ता, १८६५।

शंकराचार्य — शारीरक भाष्य (शांकर भाष्य)—भामती-वेदान्त-कल्पतरु-कल्पतरुपरिमल सहित; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६१७, १६३८।

शान्तरक्षित — तत्त्वसंग्रह-कमलशीलकृत पञ्जिका सहित; गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा, १६२६।

श्रीधर — न्यायकन्दली; मेडिकल हाल काशी, १८९५।

सदानन्द — वेदान्तसार; ऑरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२९।

... . — सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स; म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९१०।

३. पालिग्रन्थ

अङ्गुत्तर निकाय
मज्झिम निकाय
संयुक्त निकाय

४. दर्शन-ग्रन्थों के अनुवाद तथा समालोचनायें

चट्टोपाध्याय एवं दत्त — भारतीय दर्शन (हिन्दी); पुस्तक भण्डार, पटना, १९६१।

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री — (i) भारतीय दर्शन शास्त्र; मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५३।
(ii) न्यायसिद्धान्तमुक्तावली का हिन्दी अनुवाद और व्याख्या; मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५३।

(आचार्य) नरेन्द्रदेव — (i) अभिधर्मकोश-हिन्दी अनुवाद; हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५८।
(ii) बौद्ध धर्म दर्शन—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज की भूमिका सहित; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५६।

बलदेव उपाध्याय — (i) भारतीय दर्शन; काशी, २००२ वि०।
(ii) बौद्ध-दर्शन-मीमांसा; चौखम्भा विद्याभवन, चौक बनारस, १९५४।

राहुल सांकृत्यायन — (i) बौद्ध दर्शन; किताब महल, इलाहाबाद १९४४।
(ii) विग्रहव्यावर्त्तनी-भूमिका।

Bhattacharya, V. S. — The Basic Conception of Buddhism; Calcutta University, 1934.

Dasgupta, S. N. — History of Indian Philosophy; Cambridge, 1932.

Jacobi — Dates of the Philosophical Sutras of the Brāhmaṇas (JAOS. XXXI, 1911).

Jwala Prasad — Indian Epistemology, Lahore, 1939.

Jha, Ganganath — (i) English Translation of Nyāya Sūtras [with Vātsyāyana-Bhāṣya] Oriental Book Agency Poona, 1939.
(ii) English Translation of Nyāya Vārttika;

Kavirāja, Gopinātha (i) History and Bibliography of Nyāya-Vaiśeṣika Literature; Sarasvati Bhavan Studies, Vol. III.

(ii) Introduction to Jhaś Translation of Nyāya.

Keith, A. B. (i) Indian Logic and Atomism; Oxford, 1921.

(ii) Buddhist Philosophy; Oxford, 1923.

Mookerjee, Satkari Buddhist Philosophy of Universal Flux; Calcutta University, 1935.

Randle, H. N. (i) Indian Logic in the Early Schools, Oxford, 1930.

(ii) Fragments From Dinnāga; The Royal Asiatic Society, 1926.

Shastri, D. N. Critique of Indian Realism; Agra University, Agra, 1964.

Sinha, J. N. (i) History of Indian Philosophy; Sinha Publishing House, Calcutta, 1956

(ii) Indian Psychology; London, 1934.

Sogen, Yamakami Systems of Buddhist Thought.

Stcherbatsky (i) Buddhist Logic (two Vols.); Leningrad, 1930, New York, 1956.

(ii) Central Conception of Buddhism: London 1923, Calcutta, 1956.

(iii) Conception of Buddhist Nirvāṇa, Leningrad, 1927.

(iv) Epistemology and Logic as Taught by the Later Buddhist Schools (in Russian), st. Petersburg, 1911.

Vidyābhūṣaṇa, S. C. History of Indian Logic; Calcutta University, 1921.

५. प्रकीर्णक ग्रन्थ

पाणिनि अष्टाध्यायी

भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्त कौमुदी; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १६२६।

माधव शंकरदिग्विजय-हिन्दी अनुवाद सहित; हरिद्वार, २००० वि०।

वामन जयादित्य काशिका; तारा यन्त्रालय, बनारस १६२८।

Apte, V. S. The students sanskrit English Dictionary; Motilal Banarsidass, 1959.

———

परिशिष्ट (ग)

नाम तथा विषयों की अनुक्रमणिका

71/Hindi—800 Books—14-6-68—K.U. Press, Kurukshetra.